hindumantavya.blogspot.in

नियोग

चुतियार्थप्रकाशः

“यस्माज्जातम जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते।
येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः॥

जिस से सारा जगत उत्पन्न हुआ है, जिसमें ही वह लीन होता है और जिस के द्वारा वह धारण भी किया जाता है उस ज्ञान स्वरुप परमात्मा को मेरा नमस्कार है”

उपेन्द्र कुमार 'बागी'

जय श्री राम मित्रों...

यह पुस्तक मैंने कठिन परिश्रम एवं अनेकों ग्रंथों के अध्ययन के बाद लिखीं हैं, इसके लेखन में मुझे लगभग एक वर्ष का समय लगा और ईश्वर की कृपा से अब लगभग यह पूरी हो चुकी है समय की कमी के कारण कुछ एक समुल्लासों का खंडन न लिख सका परन्तु शीघ्र अति शीघ्र उनका खंडन भी तैयार हो जाएगा जिसे कुछ दिनों बाद इसी के साथ जोड़ दिया जएगा, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र का मैं विशेष आभारी हूँ जिनके द्वारा लिखीं पुस्तक का अध्ययन करकें मैंने यह सत्यार्थ प्रकाश का खंडन तैयार किया है,

यह पुस्तक चार खंडों में विभक्त है, जिसका

प्रथम खंड- दयानंद की वास्तविकता (इस खंड में दयानंद के सम्पूर्ण जीवन चरित्र, सत्यार्थ प्रकाश एवं उनके वेदभाष्यों की रचनाकाल पर प्रकाश डाला गया है, इसके अतरिक्त ईसाई मिसनरी सभा थियोसोफिकल सोसाइटी के साथ दयानंद के सम्बन्धो और उनके काशी शास्त्रार्थ के बारे में विस्तार से बताया गया है)

द्वितीय खंड- सत्यार्थ प्रकाश की समीक्षा (इसमें स्वामी जी द्वारा रचित 'सत्यार्थ प्रकाश' का कच्चा चिट्ठा खोलकर उनके कपोल कल्पित मत की तबीयत से धज्जियां उडाई है)

तृतीया खंड- दयानंद वेदभाष्य खंडनम् (इसमें स्वामी जी द्वारा किये मिथ्य भाष्यों की धज्जियां उडाते हुए यह सिद्ध किया है कि स्वामी जी को संस्कृत की तनिक भी समझ न थी इसके अतिरिक्त दयानंद द्वारा किये अश्लील भाष्यों का निषेध किया है)

चतुर्थ खंड- नास्तिक आर्य समाजीयों को जबाव (इस खंड में इंटरनेट जगत से ली गई सामग्री द्वारा, नास्तिक आर्य समाज द्वारा लगाये गये आरोपों का खंडन कर उन्हें उत्तर दिया गया है)

पाठकों से विशेष निवेदन है कि यदि इस पुस्तक में कोई भूल रह गई हो तो वह मुझे **www.facebook.com/polparkash** और **www.hindumantavya.blogspot.in** पर कमेन्ट या मैसेज (संदेश) के द्वारा अपनी शिकायत वा सुझाव दे सकते हैं, यदि आवश्यकता हुई तो इसमें शोधकर इस पुस्तक को दुबारा तैयार कर दिया जायेगा

धन्यवाद

~उपेन्द्र कुमार 'बागी'

जिन जिन ग्रंथों का इसमें वर्णन है।

वेद

ऋक् यजु, साम, अथर्व

ब्राह्मण

ऐतरेय, शतपथ, ताण्डय, गोपथ

उपनिषद

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्ड, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य

धर्मशास्त्र

याज्ञवल्क्य, मनुस्मृति

दर्शन

महाभारत, रामायण, इतिहास, पुराण

विषयानुक्रमणिका

भूमिका 009

प्रथम खंड- दयानंद की वास्तविकता

१• दयानंद आत्मचरित (एक अधूरा सच) 017

२• दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश एवं उनके वेदभाष्यों कि वास्तविकता 056

३• ईसाई मिशनरी सभा थियोसोफिकल सोसायटी से दयानंद के सम्बन्ध 066

४• काशी शास्त्रार्थ 078

द्वितीय खंड- सत्यार्थ प्रकाश की समीक्षा

५• सत्यार्थ प्रकाश अन्तर्गत भूमिका की समीक्षा 085

६• प्रथम मुल्लास की समीक्षा 091

७• द्वितीय मुल्लास की समीक्षा 111

८• तृतीया मुल्लास की समीक्षा 130

९• चतुर्थ मुल्लास की समीक्षा 187

१०• पंचम मुल्लास की समीक्षा 267

११• षष्ठ मुल्लास की समीक्षा 278

१२• सप्तम मुल्लास की समीक्षा 289

१३• अष्टम मुल्लास की समीक्षा 344

१४• नवम् मुल्लास की समीक्षा 368

१५• दशम् मुल्लास की समीक्षा 370

तृतीया खंड- दयानंद कृत वेदभाष्यों कि समीक्षा

१६• दयानंद का कामशास्त्र 380

१७• नस्लभेदी दयानंद 400

१८• स्वामी दयानंद एकादश नियोग की देन 408

१९• महर्षि या फिर महाचुतिया 428

२०• पशुहिंसक दयानंद (जिहादी दयानंद) 434

चतुर्थ खंड- नास्तिक एवं नियोग समाजीयों (आर्य समाजीयों) को जवाब

२१• आर्य अर्थात श्रेष्ठ आर्य संबोधन का शब्द 440

२२• सुधारक, निन्दक या सहायक 453

२३• क्या क्रांतिकारी आर्य समाज से थे? 463

२४• क्या चाणक्य मूर्तिपूजा विरोधी थे? 467

२५• दयानंद का अद्भुत विज्ञान 472

ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव।

यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥

भूमिका

पूर्व काल मे भारतवर्ष विद्या बुद्धि और सर्वगुणों की खान था, जिस समय इस भारत वर्ष की कीर्तिपताका भूमंडल के चारो तरफ फहरा रही थी, उस समय कनो से सुनी कीर्तियो और नेत्रो से देखने निमित दूर देशो से लोग यहाँ आते थे, और अपने नेत्रो को सुफलकर यहाँ की अतुलनीय कीर्ति को अपनी भाषा के ग्रंथो मे रचते थे, वे ग्रंथ आज भी इस देश की गुरुता और कीर्ति का स्मरण कराते है, जिस समय यह विश्व अज्ञानान्धकार मे मग्न था पृथ्वी के अधिकांश भाग असभ्यता पूर्ण ही रही थी उस समय यही देश धर्म आस्तिकता और भक्ति और सभ्यता के पूर्ण प्रकाश से जगमगा रहा था, उस समय इस देश मे ही ज्ञान विज्ञान गणित दर्शन ज्योतिष काव्य पुराण साहित्य धर्मादि विषयो मे पूर्ण उन्नति की थी,

कश्यप मरीचि विश्वामित्र आदि जहा के ऋषि, व्यास बाल्मीकि कालिदास जहा के कवि, धन्वन्तरि सुश्रुत चरक आदि जहा, के वैद्य, गौतम कणाद कपिल जहा के शास्त्रकार, नारद मनु बृहस्पति जहा के धर्मपदेष्ठा, वशिष्ठ आर्यभट्ट पराशर आदि जहा के ज्योतिर्विद, शंकराचार्य,

रामानुज स्वामी, वल्लभाचार्य जहा के धर्मप्रचारक, सायणाचार्य, यज्ञदेव मल्लिनाथ जहा के भाष्यकार, अमरसिंह, महेश्वर जहा के कोषकार हो गए है, ऐसा एक ही देश है और वो भारत ही है।

जिस समय मे यह सब सामग्री विद्यमान थी, उस समय इस देश मे सनातन वैदिक धर्म पूर्णरूप से प्रचलित था, नरपति ऋषिमुनियो के यज्ञ से पुण्य क्षेत्र, पश्वयज्ञ से ग्रस्थियो के घर, और अरण्यक पाठ से कानो मे पुण्य का प्रवाह बह रहा था, सनातन धर्म की महिमा और भक्ति सबके अंतःकरण मे खिल रही थी।

परंतु समय की भी क्या अलौकिक महिमा है, की सूर्यमंडल को आकाश मे चढ़कर मध्यान्ह समय महातीक्ष्ण होकर फिर से नीचे उतरना पड़ता है ठीक वही दशा इस देश की हुई, जो सबका शिर मौर था वो पराधीनता के भार से महापीडि॔त हो रहा है, भारत के उपरांत यह देश विदेशी चढ़ाइयों से गारत होकर ऐसा आहत हुआ है, की निस्सार बलहीन होकर आलस्य का भंडार हो गया है, इसकी विद्या बुद्धि सब विदेशी शिक्षा मे लय हो गयी है, धर्म कर्म मे असावधानी हो गयी है, संस्कृत विद्या जो द्विजमात्र का आधार थी, उसके शब्द भी अब शुद्ध नही उच्चारण होते, इस प्रकार धर्म विलुप्त होने से अनेक मतभेद भी हो गए है, जिस पुरुष को कुछ भी सहायता मिली झट उसने अपना नवीन पंथ की कलपना कर शब्द ब्रह्म की कल्पना कर ली, और शिष्यो को उपदेश देना

आरंभ कर दिया, इसका फल इस देश मे यह हुआ की फूट का वृक्ष उतपन्न हो गया और सत् धर्म ने बाधा पड़ने लगी, इन नवीन मतो से हानि तो हो ही रही थी, इसी समय दयानन्द सरस्वती ने अपना मत चलाकर कोप लीला प्रारम्भ की, इसमे भक्ति, भाव मूर्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध, पाप दोइर होना, तीर्थ, माहात्म्य आदि का निषेध करके जप तप, आचार विचार, जाती को मेटकर, कर्म से ब्राह्मणादि वर्ण, नियोग-प्रचार, स्त्री के एकादश (ग्यारह) पति आदि करने की विधि आदि की आज्ञा देकर वेद मे रेल, तार, कमेटी आदि का वर्णन कर सब कुछ वेदों के नाम से ही लिख दिया है, इससे संस्कृत ना जानने वाले सनातन धर्म से हीन हो उनकी व्याख्या सुन अपने महान पुरुषो की गति श्याग इस नाम मात्र मे मगन हो जाते है, इनके संगठन का नाम आर्य समाज है, तथाकथित सन्यासी जी के बनाये हुए ग्रंथो मे दूसरी बार का छपा सत्यार्थप्रकाश ही इस मत का मूल है, स्वामी जी के अनुयायी इसको पत्थर की लकीर समझते है, इसका पाठ करते है और कोई कोई इसकी कथा भी कहाते है, समाजियों मे इसका पाठ होता है, और शास्त्रार्थ मे प्रमाण भी उसी से देते है, ज्ञात रहे की वर्तमान में मौजूद सत्यार्थ प्रकाश स्वामी दयानंद द्वारा निर्मित सत्यार्थ प्रकाश का ही द्वितीय संस्करण है यह संशोधित संस्करण है, जिसे स्वामी जी के द्वारा की गई मूर्खता पर पर्दा डालने के लिए आर्य

समाजीयों द्वारा दौबारा स्वामी जी की मृत्यु के बाद १८८४ में "वैदिक यंत्रालय" द्वारा मुद्रित कराया गया।

परन्तु समाजी नवीन समाजीयों को भ्रमित करने के लिए इसे स्वामी जी के जीते जी १८८२ में छपा बताते हैं, और संशोधित सत्यार्थ प्रकाश (द्वितीय संस्करण) की भूमिका मे लिखते हैं की-

"सत्यार्थप्रकाश को दूसरी बार शुद्ध कर छपवाया है, क्योंकि जिस समय यह ग्रंथ बनाया था, उस समय और उसके पूर्व संस्कृत भाषण करना, पठन-पाठन मे संस्कृत ही बोलने का अभ्यास और जन्मभूमि की भाषा गुजराती थी, इत्यादि कारणों से मुझ को इस भाषा का विशेष परिज्ञान नही था, अब इसको अच्छे प्रकार से भाषा के व्याकरणानुसार अभ्यास भी कर लिया है, इसलिए इस समय इसकी भाषा पूर्व से उत्तम है, कही कही शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है, वह करना उचित था क्योंकि उसके भेद किये बिना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी, परंतु अर्थ का भेद नही किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है हा, जो प्रथम छपने मे कही कही भूल रह गयी थी, वह वह निकाल कर शोधकर ठीक ठीक कर दि गयी है"

इससे यह स्पष्ट है की दूसरी वाली सत्यार्थ प्रकाश पर उनके अनुयायी अधिक श्रद्धा रखते है, लेकिन नवीन समाजी ये नहीं जानते कि ये भूमिका नवीन समाजीयों को भ्रमित करने के लिए तैयार की गई है, जिसका खंडन हम

इस पुस्तक के प्रथम खंड (दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश और उनके वेद भाष्यों की वास्तविकता) में कर चुके हैं।

जहाँ तक मेरी बुद्धि की पहुचँ है तो सत्यार्थप्रकाश वेद शास्त्र प्रतिकूल और परस्पर विरुद्ध बातों से भरा हुआ दिखता है, इसमे वेद के नाम से लाल बाग दिखाया गया है और संस्कृत अनभिज्ञो को वशीभूत करने को शम्बर की माया दिखाई देती है, इसके अनुयायियों के अनर्गल बातो को सुनकर देखकर मुझे इसकी समीक्षा की आवश्यकता हुई कारण की इसकी समीक्षा से देश का उपकार होकर सनातन धर्म की वृद्धि होगी और इसको पढ़कर मनुष्य इस कपोल कल्पित मत से बचेंगे।

अब क्योकि यह मत स्वामी जी द्वारा स्थापित किया गया है अतः उन्हीं के ग्रंथों की समालोचना करना उचित है, सो इस पुस्तक मे स्वामी जी के कपोल कल्पित ग्रंथ का प्राचीन ग्रंथों से मिलान कर सज्जनों के सामने प्रगट करता हुँ उससे बुद्धिमान स्वयं सत्य-असत्य का निर्णय कर सकेंगे, सत्यार्थ प्रकाश दो भाग मे है पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, पूर्वार्ध के १० सम्मुलासों मे स्वामी जी ने अपना मंतव्य प्रकाशित कर नवीन धर्म की निव डाली है और उत्तरार्ध के ४ संमुल्लासों मे आर्यवर्तीय मतों का खंडन किया है, जैन, बौद्ध, चार्वाक, ईसाई तथा यवनों का भी खंडन किया है इनके खंडन से हमारा प्रयोजन नही है, हमको प्रथम उनके द्वारा स्थापित मत की परीक्षा करनी है, जिसको वे वेदानुसार बताकर मनुष्यों को भ्रम मे डालते है, खंडन

करने से मेरा प्रयोजन द्वेष शत्रुता या किसी का जी दुखानें से नही है, किन्तु इसके लिखने का प्रयोजन केवल यह है की मनुष्य को सत्य असत्य का ज्ञान होकर स्वामी जी के ग्रंथों का वृतांत विदित हो जाये की उनके अनुसार चलने से हम वर्तमान मे धर्म पथ पर स्थित है या नही,

मैंने जो इस पुस्तक मे प्रमाण लिखे है जिनको स्वामी जी ने माना और अपने ग्रंथ मे लिखा है और मंत्रो के अर्थ प्राचीन भाष्यानुसार लिखे है, सनातन धर्मावलंवियों को इससे महालाभ की संभावना है कारण की सम्पूर्ण धर्म विषय वेद से भाष्य सहित प्रतिपादित किये गए है, जिससे किसी प्रकार की भ्रान्ति नही रहती, धर्म की प्राप्ति और पाखंड की निरवृत्ति ही इस पुस्तक का उद्देश्य है,आर्य समाजियों से विशेष प्रार्थना है की जब भी वो इस पुस्तक को पढ़ें तो शांति से विचारे और यदि बकरे की तीन टांग का ही हठ है, तो सत्य असत्य का निर्णय नही हो सकेगा और फिर किसी के कुछ भी समझाने का कोई फल नही होगा।

अज्ञ:सुखमाराव्य:सुखतरमाराध्यतेविशेषज्ञ: ।

ज्ञान्दुविदग्धहृदयं ब्रह्मपितंनरंनरञ्जयति ॥

अर्थात- अज्ञानी सुख से और ज्ञानी महासुख से समझाया जा सकता है परंतु ज्ञान दुर्विग्ध हृदय वाले मनुष्य को स्वयम ब्रह्मा जी भी नही समझा सकते।

पाठक महाशयो से निवेदन है की यदि इसमे कोई भूल रह गयी हो तो अवश्य हमे सूचित कर दे, उचित होगी तो

दूसरी बार बना दी जायेगी, आपको लाभ होने से मेरा परिश्रम सफल होगा।

प्रथम खंड
दयानंद की वास्तविकता

दयानंद आत्मचरित (एक अधूरा सच)

स्वामी दयानंद एक साधारण मनुष्य थे, और उनके अंदर भी साधारण मनुष्यों की ही भाँति सभी गुण व दोष मौजूद थे, इसीलिए जब उन्होंने अपना आत्मचरित दुनिया के सामने रखा तो निश्चित ही एक साधारण मनुष्य की भाँति सिर्फ उनकी अच्छी बाते ही दुनिया तक पहुंचे ऐसी कोशिश की होगी, और यही किया भी, क्योकि जब हम इतिहास पर दृष्टि डालते है और उनका जीवन चरित्र पढ़ते है तो हमे केवल वही दिखता है जो वो हमें दिखाना चाहते होंगे, कौन जाने सच क्या होगा?

क्योकि उनके जीवन चरित्र में काफी बातें ऐसी हैं जो आधे अधूरे सच की तरफ इशारा करती है, जिनकी प्रमाणिकता इतिहास के अंधेरों में सदा सदा के लिए खो गयी है, जैसे-

१• स्वामी दयानंद का जन्म-

(अ) आर्य समाजी गपोड़ा- स्वामी दयानंद का जन्म गुजरात प्रान्त के काठियावाड़ के मौरवी राज्य में टंकारा नामक ग्राम में १२ फरवरी १८२४ को हुआ था।

(ब) स्वामी दयानंद के अनुसार- दयानंद ने अपनी जीवनी सन् १८७६ में लिखीं और १८८०, में थियोसोफिस्ट पत्र में उसे छपवाया।

दयानंद अपने आत्मचरित के पृष्ठ संख्या १ में लिखते हैं कि- मैंने जिस परिवार में जन्मग्रहण किया वह एक विस्तृत सम्पत्तिसम्पन्न

परिवार था, हमारा कुटुम्ब इस समय १५ पृथक-पृथक परिवारों में विभक्त है और इस समय मेरी अवस्था ४६ वा ५० वर्ष की है।

समीक्षा-- ऊपर लिखीं दोनों ही वर्ता जिसमें एक तो दयानंदीयों द्वारा तैयार कल्पित दयानंद चरित और दूसरी स्वयं दयानंद द्वारा लिखीं आत्मचरित है, इन दोनों में से कौन सी बात सत्य मानें और कौन सी असत्य, यह तो अब हमारे दयानंदी भाई ही बता सकते हैं, अब जबकि दयानंद ने अपने आत्मचरित में यह स्पष्ट लिखा है कि इस आत्मचरित को लिखते समय अर्थात १८७६ में उनकी उम्र ४६ वा ५० वर्ष की है अर्थात स्वयं स्वामी जी को ही अपनी ठीक-ठीक उम्र का पता नहीं था, उनके इस लेखानुसार उनका जन्म १८२२ से १८२६ के आसपास हुआ था, परन्तु हमारे दयानंदी भाई तो यह कहते हैं कि "दयानंद जी का जन्म गुजरात प्रान्त के काठियावाड़ के मौरवी राज्य में टंकारा नामक ग्राम में १२ फरवरी १८२४ को हुआ था" दयानंदी यह बात इतने विश्वास के साथ लिखते हैं जैसे मानों दयानंद के जन्म के समय वही पर उपस्थित थे, सो यहाँ आर्य समाजीयों से हमारा यह प्रश्न है कि जब दयानंद को ही अपनी ठीक-ठीक उम्र का पता नहीं था, तो फिर दयानंदी किस आधार पर इतने विश्वास के साथ यह कहते हैं कि दयानंद का जन्म १२ फरवरी १८२४ को हुआ था, दयानंदी इस बात को साफ करें कि वह इनमें से कौन सी बात सत्य मानते हैं जो स्वयं दयानंद ने अपने आत्मचरित में लिखीं हैं या फिर दयानंद के अन्ध भक्त नियोगी चमचों द्वारा तैयार यह कल्पित दयानंद चरित?

२• दयानंद के बचपन का नाम, उनके माता और पिता का नाम आदि-

(अ) आर्य समाजी गपोड़ा- दयानंदीयों के अनुसार स्वामी दयानंद के बचपन का नाम मूलजी दयाराम था तो कुछ कहते हैं कि उनके बचपन का नाम मूलशंकर था, इसी प्रकार दयानंद के माता, पिता के बारे में कुछ लोग कहते हैं कि उनके पिता का नाम अम्बाशंकर और माता का नाम यशोदाबाई था, तो वही कुछ का कहना है कि उनके पिता का नाम करशनजी लालजी त्रिवेदी और माता का नाम यशोदाबाई था।

अब आइए दयानंद क्या कहते हैं वो भी देख लेते हैं।

(ब) दयानंद के अनुसार- दयानंद अपने आत्मचरित के पृष्ठ संख्या १ में लिखते हैं कि- अनेक लोग यह जिज्ञासा करते हैं मैं ब्राह्मण हूँ वा नही, और वे लोग अनुरोध करते हैं कि इसके प्रमाण के लिए अपने कुटुम्बियों का नाम बतलाओं अथवा उनमें से किसी का लिखा हुआ कोई पत्र दिखलाओं, ये कहना अनावश्यक है कि गुजरातवासी लोगों के साथ मैं अधिकतर अनुरागसुत्र में निबद्ध हूँ, अपने कुटुम्बियों के साथ यदि मेरा किसी प्रकार से साक्षात् हो जाए, तो जिस सांसारिक अशांति से मैंने अपने आप को स्वतंत्र किया हैं फिर मुझे उसी अशांतिजाल में निश्चय ही फसना होगा, इसी कारण से मैं अपने कुटुम्बियों के नाम बतलाना व उनमें से किसी का लिखा पत्र प्रदर्शन करना उचित नहीं समझता।

समीक्षा-- अब यह बात तो हमें हमारे दयानंदी भाई समझा सकते हैं कि जब स्वामी दयानंद ने अपने आत्मचरित में अपने माता पिता

कुल गोत्र आदि के बारे मे कुछ भी लिखने वा बताने से साफ-साफ मना कर दिया, तो फिर दयानंदी किस आधार पर इतने विश्वास के साथ यह बात कहते हैं कि "दयानंद की माता का नाम यशोदाबाई और उनके दो नियोगी पिता जिनके नाम क्रमशः अम्बाशंकर और करशनजी लालजी त्रिवेदी थे, वैसे यह कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि स्वामी जी के मतानुसार एक स्त्री एकादश (ग्यारह) पति तक कर सकती है, जब यह हाल है कि एक स्त्री के ग्यारह पति हो सकते हैं तो फिर स्वामी दयानंद जी के दो पिता क्यों नहीं हो सकते? शाबाश! दयानंदीयों ऐसे ही लगें रहो और मैं तो कहता हूँ एक बार फिर से जाँच करें, क्या पता यशोदाबाई के दो से अधिक नियोगी पति सिद्ध हो जाये।

स्वामी जी के इस लेख से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी के जन्म और उनके वर्ण का पता लग पाना लगभग असंभव है, और ऐसे व्यक्ति के लिए स्वामी जी सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण के पृष्ठ ६७ में लिखते हैं कि मलेच्छ नाम निंदित नहीं है जिन पुरुषों के आचरण में वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं होता उनका नाम मलेच्छ है,

दयानंद के लेखानुसार वे मलेच्छ ठहरें अब दयानंदीयों को अधिकार है कि वह अपने गुरु की आज्ञा को स्वीकार करें या फिर तिरस्कार,

और सुनिये इसी लेख में आगे दयानंद जी लिखते हैं कि “अपने कुटुम्बियों के साथ यदि मेरा किसी प्रकार साक्षात् हो जाये तो जिस

सांसारिक अशांति से मैंने अपने आपको स्वतंत्र किया हैं फिर मुझे उसी अशांतिजाल में निश्चय ही फसना होगा”

अब यहाँ स्वामी जी से हमारा यह प्रश्न है कि उन्होंने यह बात क्या सोचकर लिखीं हैं? यह भ्रम स्वामी जी के मन में कैसे उत्पन्न हो गया कि उन्होंने सांसारिक अशांति से स्वयं को स्वतंत्र कर लिया, शायद यहाँ स्वामी दयानंद अपने आप को अज्ञानवश सन्यासी समझ बैठे हैं, इस कारण यह बात लिख दी हो, परन्तु सन्यासीयों वाले लक्षण स्वामी जी में दिखते नहीं, सुनिये कठोपनिषद में इस प्रकार कथन है कि—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

~कठोपनिषद {वल्ली २, मंत्र २४}

जो दुराचार से पृथक नहीं, जिसका मन शांत नहीं, जिसकी आत्मा योगी नहीं वह सन्यास लेकर भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात उसका सन्यास लेना व्यर्थ है, जो पुरुष काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, इन पांच विकारों से मुक्त है वही सन्यासी है।

परन्तु स्वामी जी में तो यह इच्छाएं और अवगुण कूट-कूट के भरी हुई हैं, भला सन्यासी होकर चोंगा बूट जुता पहनना, घड़ी बांधना, हुक्का पिना, कुर्सी मेज प्रयोग करना, रूपयाँ बटोरना, मांसभक्षियों के हाथ से भोजन लेकर भोजन करना, क्रोध करना, गालियाँ देना किस ग्रथ में लिखा है और सांसारिक अशांति किसे कहते हैं? इसे ही तो कहते हैं, और दयानंद जी ने संसार का त्याग किया ही कब? सन्यासी तो उसे कहते हैं जो संसार के व्यवहार से कुछ सम्बन्ध

नहीं रखता, लोक में जन निंदा करें वा स्तुति, और अप्रतिष्ठा करें तो भी जिसके चित्त में कुछ हर्ष शोक न हो वही सन्यासी कहलाने योग्य है लेकिन दयानंद जी की तो कोई निंदा करता है तो उन्हें कितना दुख होता है तुरन्त उसको उत्तर देने में कटिबद्ध हो उस पर गालियों की वर्षा करने लगते हैं, वितैषणा का त्याग भी स्वामी जी के अन्दर नहीं पाया जाता, धन की इच्छा तो स्वामी जी के अन्दर इस हद तक है कि उसकी पूर्ति नहीं होती, धन की प्राप्ति के लिए कैसे-कैसे प्रयत्न किये, भीख माँग-माँग कर अपना निजी यंत्रालय खोला, उसके पश्चात भी पुस्तकों के मुल्य दोगुने तीनगुने रखें, तुम्हारी पुस्तक कोई और न छाप सकें इसलिए उसकी रजिस्ट्री करवाईं, उपदेश मण्डली के नाम से एकलक्ष्य रूपयाँ एकत्रित करने में यथाशक्ति प्रयत्न किया गया, लोभ ने तुम्हारे मन में यहाँ तक निवास किया था कि धनवानों पूंजीपतियों से प्रितिसमेत घंटों वर्ता होती थी निर्धनों की तो बूझ ही न थी, प्रतिष्ठा इतनी चाहते थे कि हमेशा कोठी, बंगलें और महलों में ही ठहरते थे, पुत्र तो था ही नहीं परन्तु जो मुख्य सेवकादि है उनमें तुम प्रिति करते हो, कामवासना तो मन में ऐसे भरी थी कि अपने अश्लील लेख एवं भाष्यों से वेदभाष्य और स्वयं निर्मित ग्रंथों को भर दिया,

तो लो तुम इन सब विकारों से मुक्त नहीं इसलिए सन्यासी भी नहीं हो, इससे तुम्हारे मन में उत्पन्न यह भ्रम की तुमने सांसारिक अशांति का त्याग कर दिया, मिथ्या सिद्ध हुआ।

३• पिता से घृणा और माता से प्रेम का रहस्य-

दयानंद अपने आत्मचरित के पृष्ठ संख्या २-५ में लिखते हैं- मेरा परिवार शैवमतवालम्बी था, इसलिए अल्पवय से ही मुझे शिवलिंग की पूजा करनी पड़ी मैं अपेक्षया सबेरे आहार किया करता था और शिवपुजा में बहुत से उपसवास और कठोरता सहन करनी पड़ती हैं इसलिए स्वास्थ्य की हानि के भय से माता मुझे प्रतिदिन शिव की उपासना करने से रोका करती थी, परन्तु पिता उसका प्रतिवाद किया करते थे, इस कारण इस विषय को लेकर माता के साथ पिता का प्रायः विवाद रहा करता था, माता के बारंबार प्रतिदिन शिवपुजा के करने से निषेध करने पर भी पिता मुझको उसके करने के लिए कठोर आदेश किया करते थे, शिवरात्रि के आने पर पिता ने कहा कि आज तुम्हारी दीक्षा होगी, और मंदिर में जाकर सारी रात जागना होगा, पिता की आज्ञानुसार मैं उस दिन रात्रि को अन्यान्य लोगों के साथ सम्मिलित होकर शिवमंदिर गया, शिवरात्रि का जागरण चार पहरों में विभक्त होता है २ पहर बीत जाने के पश्चात तीसरे पहर में मैंने पिता से घर लौटने की अनुमति मांगी, पिता ने आज्ञा देकर मेरे साथ एक सिपाही कर दिया और इस विषय में कि मैं भोजन करके वृतभंग ने करू बारंबार मुझसे कह दिया, परन्तु घर में आकर जब मैंने माता से क्षुधा की कथा को प्रकाशित किया, तब उन्होंने जो कुछ भी मुझे आहार के लिए दिया उसको मैं बिना खाएँ न रह सका, भोजन के पश्चात मुझे गहरी नींद आ गई दुसरे दिन प्रातःकाल पिता ने घर में आकर सुना कि मैंने व्रत भंग किया हैं, यह सुनकर वह मेरे ऊपर बड़े क्रोधित हुए और मुझे भला बुरा

कहने लगे इस विषय को लेकर फिर से माता और पिता के बीच विवाद हुआ।

समीक्षा-- इस लेख को पढ़ने के पश्चात विद्वान लोग आसानी से यह बात समझ सकते हैं कि मूलशंकर बचपन से इतना मूढ़, हठी, ढ़िठ और नास्तिक प्रवृत्ति का क्यों रहा था?

दयानंद को यदि कलयुगी रावण कहें तो यह कहना गलत न होगा, यदि स्वामी जी के पिता ऋषि विश्रवा, तो उनकी माता राक्षसी कैकसी के समान थी और उसका रिजल्ट (परिणाम) धर्म का नाश करने वाला नास्तिक शिरोमणि मूलशंकर हुआ, मूलशंकर के पिता जहाँ उसे धर्म के मार्ग पर ले जा रहे थे, तो दूसरी ओर उसकी माता उसे अपने स्वभाव अनुसार राक्षसी शिक्षा से पोषित कर रही थीं, इसका परिणाम यह हुआ कि जो-जो धर्म कर्म वेदानुसार है उसकी माता ने उससे उल्ट शिक्षा कर मूलशंकर को अधर्मी और नास्तिक प्रवृत्ति का बना दिया, और आगे चलकर वही उसके जीवन का उद्देश्य बन गया, जैसे उसकी माता उसे धर्म कर्म के मार्ग से विमुख कर भौतिकवाद की तरफ ले गई, ठिक उसी प्रकार मूलशंकर भारतवर्ष में घुम-घुम कर धर्म कर्म करने वाले जो व्यक्ति उनसे मिलते उनसे सनातन कर्मकांडों का निषेध कर उनको भ्रमित करते, और जैसा कि इस लेख से स्पष्ट है स्वामी दयानंद बचपन से ही पेटू थे, और इस बात को दयानंद ने अपने इस लेख में स्वीकार भी किया है, पिता उन्हें व्रत आदि करने को कहते परन्तु मूलशंकर से भूख बर्दाश्त नहीं होती थी, क्योकि उसकी माता अक्सर चोरी से उन्हें भोजन करवा उनका व्रत भंग करवा देती, पर जब यह बात उनके पिता को पता चलती कि उन्होंने उनके आदेश की अवहेलना

करते हुए व्रत भंग कर दिया, तो वे उनपे क्रोधित हो जाते और उन्हें इसके लिए दंडित करते,इसी कारण मूलशंकर कि माता और पिता का प्रायः विवाद रहा करता था, ऐसे में स्वामी जी को अपने पिता किसी शत्रु से कम नहीं लगते जो अपने नियम धर्म कर्म से उनकी भोगविलास वाले जीवन में अशांति उत्पन्न कर रहे थे, यही कारण था कि मूलशंकर अपने पिता से घृणा करने लगा, पिता उसे जो करने को कहते मूलशंकर उससे उल्टा ही करता, और इसी घृणा ने मूलशंकर को नास्तिक बना दिया।

४• मूर्ति (प्रतिक) पुजा में अविश्वास-

(अ) आर्य समाजी गपोड़ा- उनके जीवन में ऐसी बहुत सी घटनाएं हुईं, जिन्होंने उन्हें सनातन धर्म की पारम्परिक मान्यताओं और ईश्वर के बारे में गंभीर प्रश्न पूछने के लिए विवश कर दिया, एक बार शिवरात्रि की घटना है, तब वे बालक ही थे, शिवरात्रि के उस दिन उनका पूरा परिवार रात्रि जागरण के लिए एक मन्दिर में ही रुका हुआ था, सारे परिवार के सो जाने के पश्चात् भी वे जागते रहे कि भगवान शिव आयेंगे उसे दर्शन देंगे और प्रसाद ग्रहण करेंगे, उन्होंने देखा कि शिवजी के लिए रखे भोग को चूहे खा रहे हैं, यह देख कर वे बहुत आश्चर्यचकित हुए और सोचने लगे कि जो ईश्वर स्वयं को चढ़ाये गये प्रसाद की रक्षा नहीं कर सकता वह मानवता की रक्षा क्या करेगा? इस बात पर उन्होंने अपने पिता से बहस की और तर्क दिया कि हमें ऐसे असहाय ईश्वर की उपासना नहीं करनी चाहिए।

(ब) स्वामी दयानंद के अनुसार- दयानंद अपने आत्मचरित के पृष्ठ संख्या ३-४ में लिखते हैं- दो पहरों के पश्चात जब निशिथ काल आया, तब पुरोहित और अन्यान्य लोग मंदिर के बाहर चले गए, उसके कुछ समय पश्चात मैंने देखा कई एक चुहे बिल में से बाहर निकल कर महादेव की पिण्डी के ऊपर इच्छापूर्वक विचरण और उनके मस्तकस्थित चावलआदि का भक्षण करने लगे, मै जागते हुए इस दृश्य को देखता रहा, इस कारण इस दृश्य को देखते समय मेरे सरल अन्त:करण में यह प्रश्न उठा कि जो कई कई सौ दुर्दमनीय दानवों के संहार में समर्थ है, वे अपनी देह पर से थोड़े से चूहों को दूर करने में समर्थ क्यों नहीं, इस प्रश्न को बहुत देर तक सोचते सोचते मेरे मस्तिष्क घूमने लगा, जिस कारण मैं पिता की निद्रा भंग किए बिना रह सका जब पिता जागे, तो मैंने इस प्रश्नको पूछा, जिज्ञासित प्रश्न के उत्तर में पिता ने मुझे समझाते हुए कहा- "तु अल्पबुद्धि बालक है यह तो केवल महादेव का प्रतीक मात्र है" पिता के इस प्रकार के उत्तर से मैं संतुष्ट न हो सका, इसलिए मैंने उसी स्थान और उसी क्षण यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं त्रिशूलधारी महादेव के दर्शन नहीं करूँगा, तो मैं किसी प्रकार से भी उसकी आराधना नहीं करूँगा।

"इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके मैं घर लौट आया और माता से यह कहकर कि मैं बहुत भूखा हूँ खाने को पदार्थ मांगा"

समीक्षा-- स्वामी जी आपके पिता ने सहीं कहा था यदि आप अल्पबुद्धि नहीं होते तो इस प्रकार की उटपटांग बातें न करते, वेदादि ग्रंथों में सही कहा गया है कि—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।

जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

ऐसे मुढ़ विद्या शून्य रहकर भी बुद्धिमान बनते हैं और इस माया रूपी जगत् में उसी प्रकार भटकते है जिस प्रकार अन्धे के नेतृत्व में अन्धे चलते हुए भटकते है

यह उपनिषद वचन है जो नेत्रहीन विरजानंद के चैलें दयानंद पर बिल्कुल ठीक बैठती है, यदि दयानंद के अंदर उस चूहे जितनी भी बुद्धि होती तो वो ऐसी मूर्खतापूर्ण बात कभी न करते, स्वामी जी ने यदि कभी वेदआदि ग्रंथों का अध्ययन किया होता तो शायद वें इन श्रुतियों के यथार्थ अर्थ समझ पाते देखिये वेदों में इस प्रकार कथन है कि—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

~ऋग्वेद {१०/१२९/१}

(तदानीं)- महाप्रलय काल में, (असत्)- अपरा माया, (न)- नहीं थी, (सत्)- जीव भी, (नो)- नहीं, (आसीत्)- था, (रजः)- रजोगुण भी, (न)- नहीं, (आसीत्) था, (यत्)- जो, (व्योम)- आकाश तमोगुण, (अपरः)- सतोगुण, (नो)- नहीं था, (कुहकस्य)- इन्द्रजाल रूप, (शर्मन्)- ब्रह्मांड के चारों ओर जो, (आवरीवः)- तत्व समूह का आवरण होता

है, (तत्) (किं) (नकिमप्यासीत्)- वह भी नहीं था, (गहनंगभीरं)- गहन गंभीर, (अंभ:)- जल, (किं आसीत्)- क्या था? अर्थात नहीं था

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

~ऋग्वेद {१०/१२९/२}

(तर्हि)- उस समय, (मृत्यु)- मृत्यु, (न) नही, (आसीत्)- थी, और (अमृतं)- अमृतत्व अर्थात जीवन भी, (न)- नही, (आसीत्)- था, (रात्र्या: अह्न:)- रात और दिन का, (प्रकेत:)- ज्ञान, (न आसीत्)- नही था, सिर्फ (स्वधया)- अपनी परा शक्ति से, (एकं)- अभिन्न एक, (तत्)- ब्रह्म ही, (आसीत्)- था, (तस्मात् ह)- उस सर्वशक्तिमान से, (अन्यत्)- अन्य, (किंच)- और कुछ भी, (न)- नही, (आसीत्)- था।

अब विचारने की बात है जबकि सृष्टि रचना के पूर्व एक ब्रह्म के अलावा कुछ भी नहीं था, और फिर सब कुछ उससे ही उत्पन्न हुआ, तो क्या वह कण-कण मे विद्यमान न हुआ, और सुनिये,

हिरण्यगर्भः सम् अवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिर् एक ऽ आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्याम् उतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

~यजुर्वेद {१३/४}

सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ पुरुष (प्रजापति ब्रह्मा) सम्पूर्ण ब्रह्मांड के एक मात्र उत्पादक और पालक रहे, वही स्वर्ग अंतरिक्ष और पृथ्वी को धारण करने वाले हैं, उस प्रजापति के लिए हम आहुति समर्पित करते है।

य ऽ इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर् होता न्य् असीदत् पिता नः।

स ऽ आशिषा द्रविणम् इच्छमानः प्रथमच्छदवराँ ऽ आ विवेश॥

~यजुर्वेद {१७/१७}

(यः)- जो, (ऋषि)- अतीन्द्रेयद्दष्टा सर्वज्ञ, (इमाः)- इस, (होता)- संसार रूप होम का कर्ता, (नः)-हमारा, (पिता)- जनक उत्पन्न करने वाला परमात्मा, (विश्वा)- सब, (भुवनानि)- लोक लोकान्तरों को, (जुह्वत)- प्रलयकाल में संहार करता हुआ, (न्यसीद)- अकेला ही स्थित हुआ, (सः)- वह परमेश्वर, (प्रथमच्छत)- प्रथम एक अद्वितीयरूप में प्रविष्ट होता, (आशिषा)- फिर अपने सामर्थ्य से सृष्टि रचना की इच्छा से, (द्रविणम्)- इस द्रव्यरूप जगत को, (इच्छमानः)-इच्छा करता हुआ, (अवरान्)- मायाविकार व्यष्टि समष्टि देहों में, (आविवेश)- अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हुआ।

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा विजायते।

तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

~यजुर्वेद {३१/१९}

प्रजापालक परमात्मा की सत्ता सम्पूर्ण विद्यमान है, वह अजन्मा होकर भी अनेक रूपों में प्रकट होता है, उसकी कारण शक्ति में सम्पूर्ण भुवन समाहित हैं, ज्ञानी जन उसके मुख्य स्वरूप को देख पाते हैं, और सुनिये--

एतावान् अस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।

पादो ऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि॥

~[यजुर्वेद : अ० ३१, मंत्र ३]

यह त्रिकालात्मक विश्व उस ईश्वर की महिमा ही है, किन्तु उसकी महत्ता इससे भी अधिक है, यह सम्पूर्ण विश्व जीवों सहित जो कुछ भी है उसकी महिमा का एक भाग है, और शेष तीन भाग में प्रकाशमान मोक्ष स्वरूप आप है। और श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस प्रकार लिखा है कि (बुद्धेः परतस्तु सः) कि वह परमेश्वर बुद्धि से परे है जब वह बुद्धि से परे है तो भला दयानंद जैसा नास्तिक उसके स्वरूप को कैसे जान सकता है?

यत्किञ्च जगत्यां जगत्॥१॥ ~ईश० उपनिषद

अर्थात् उस परमात्मा की सत्ता सम्पूर्ण विश्व मे यह जड़चेतन स्वरूप जो विश्व है, वह सर्व ईश्वर से परिपूर्ण है, अर्थात वह कण-कण मे विद्यमान है, इसी कारण उपनिषद आदि ग्रन्थों मे यह कथन है कि--

“यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते।

अथ तस्य भयं भवति। तत्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य।

तदप्येष श्लोको भवति॥“

जब तक जीव परमात्मा से किंचित् भी भेद रखता है, तब तक वह अज्ञान रूपी भय से नहीं छूट पाता, वही भय अहंकारी विद्वान को भी हो जाता है।

यदि स्वामी जी में इन वेद वचनों को समझने भर की थोड़ी भी समझ होती तो शायद वह मूर्खों की भांति ऐसी बात कभी न करते, और सुनिये, ये दयानंद वही दयानंद है जो एक समय शुद्ध चैतन्य के नाम से जाने जाते थे और अपने आपको ही ब्रह्म मानते थे, और ऐसा मुर्ख ये कहता है कि जब तक महादेव मुझे दर्शन नहीं देते मैं उनकी किसी प्रकार से भी आराधना नहीं करूँगा यह देखिये इस

नास्तिक को क्या बोल गया, इसी को अनीश्वरवादी कहते हैं, सहस्रों ऋषि मुनि संसार का त्याग कर, मन में सिर्फ परमात्मा का स्वरूप जानने की इच्छा लिए आरण्य में वर्षों कठिन तपस्या किया करते थे और आज भी करते हैं, और एक यह की नन्ही जान जैसी वैश्या के हाथों मृत्यु को प्राप्त होने वाला मन में ईश्वर के दर्शन करने की इच्छा लिए हडताल पर बैठा है, कि जब तक दर्शन नहीं कर लूगाँ तब तक ईश्वर के अस्तित्व को न स्वीकारूगाँ, धन्य हे! तेरी बुद्धि,

अब तो दयानंदी ही हमें बताए कि क्या दयानंद ने अपने मतानुसार निराकार ब्रह्म के दर्शन कर लिए थे? या पुरे जीवन हडताल पर बैठे रहे, क्योकी बिना दर्शन किए तो दयानंद ईश्वर की स्तुति करने से साफ मना करते हैं।

इसका मतलब दयानंद ने अपने जीवन में कभी भी ईश्वर की स्तुति की ही नहीं पुरी जिंदगी नास्तिक ही बने रहे, अब जब यह हाल है कि समाज का संस्थापक स्वयं नास्तिकतावाद की राह पर चल पड़ा तो उसके चैलों का क्या कहना, वह क्या किसी को धर्म का मार्ग दिखायेगा, जो स्वयं मार्ग से भटक चुका है।

५• दयानंद के गृह त्याग का रहस्य-

(अ) आर्य समाजी गपोड़ा- अपनी छोटी बहन और चाचा की हैजे के कारण हुई मृत्यु से वे जीवन-मरण के अर्थ पर गहराई से सोचने लगे और ऐसे प्रश्न करने लगे जिससे उनके माता पिता चिन्तित रहने लगे, तब उनके माता-पिता ने उनका विवाह किशोरावस्था के प्रारम्भ में ही करने का निर्णय किया (१९ वीं सदी के भारत में यह

आम प्रथा थी) लेकिन बालक मूलशंकर ने निश्चय किया कि विवाह उनके लिए नहीं बना है और वे १८४६ मे सत्य की खोज मे निकल पड़े।

(ब) स्वामी दयानंद के अनुसार- दयानंद अपने आत्मचरित के पृष्ठ संख्या ६ में लिखते हैं कि- "हम पाँच भाई बहन थे, उनमें दो मेरे भाई और दो बहनें थी, जब मेरी आयु १६ वर्ष की थीं तब मेरे छोटे भाई का जन्म हुआ,

एक बार मैं रात्रि के समय एक बान्धव के घर मैं नृत्य उत्सव देख रहा था कि घर से एक भृत्य ने आकार समाचार दिया कि मेरी १४ वर्ष की बहन बहुत पीडित हो गई है आश्चर्य है कि यथोचित चिकित्सा के होते हुए भी मेरे घर लौटने के दो घंटे पश्चात उसकी मृत्यु हो गई, उस भगनी के वियोग का शोक मेरे जीवन का पहला शोक था।

जिस समय सब मेरी भगनी के चारों ओर विलाप और रैदन कर रहे थे, उस समय मैं खड़ा खड़ा यह सोच रहा था कि इस संसार में सभी को एक ना एक दिन मृत्यु के मुख में जाना होगा, इसलिए मुझे भी एक दिन मृत्यु का ग्रास बनना होगा, मेरे मन में मृत्यु का भय बैठ गया, मैं मन ही मन ये सोचने लगा कि किस जगह जाने से मैं मृत्यु के यन्त्रण से बच सकूंगा।

कुछ दिन पिछे मेरे चाचा की भी मृत्यु हो गई, मेरे चाचा सद्गुणसम्पन्न सुशिक्षित व्यक्ति थे और वह मुझको बहुत प्यार करते थे इस कारण में उनके वियोग से बहुत ही व्यथित हुआ, इसके अतिरिक्त इस घटना के पश्चात मैं यह चिन्ता भी करने लगा

कि मुझको भी इसी प्रकार से कालकवल बनना पडेगा, जब क्रमश: मृत्युचिन्ता बहुत प्रवल हो गई, तो मै अपने बान्धवों से पुछने लगा कि किस उपाय का अवलम्बन कर मुझे अमरत्व प्राप्त हो सकता है, स्वदेश के पंडितों ने मुझेको योगाभ्यास करने का परामर्श दिया, इसलिए अमरत्व की प्राप्ति हेतु मैंने गृहत्याग का संकल्प किया और एक दिन संध्या के समय बिना किसी को बताए मैंने गृहत्याग कर दिया, उस समय मेरी आयु २० वर्ष थी...

समीक्षा-- अब क्योकि स्वामी दयानंद एक साधारण मनुष्य थे तो स्वाभाविक है कि उनके अन्दर भी साधारण मनुष्यों की ही भांति सब गुण वा दोष मौजूद होंगे, दयानंद ने स्वयं अपने आत्मचरित में यह स्वीकार किया है कि गृह त्याग का कारण उनके मन में बैठा मृत्यु का भय था, दयानंद मृत्यु से इस प्रकार भयभीत हो चुके थे कि उससे बचने के लिए वो हर एक सम्भव प्रयास करने को तैयार थे, दयानंद ने अपने आत्मचरित में यह स्वयं लिखा है कि "मैं मन ही मन यह सोचने लगा कि किस जगह जाने से मैं मृत्यु के यन्त्रण से बच सकूंगा" उस समय स्वामी दयानंद की उम्र लगभग २० वर्ष थी, यदि दयानंद में थोड़ी भी बुद्धि होती तो शायद वह इस सत्य को समझ पाते कि चाहे वो संसार के किसी भी कोने में क्यों न चलें जायें, मृत्यु से बचना असम्भव है, जिसने जन्म लिया उसकी मृत्यु निश्चित है, और हुआ भी यही स्वामी दयानंद जिस मृत्यु के भय से, अमरत्व की खोज में पूरी जिंदगी इधर उधर भागते रहे पर अफसोस की उससे बच न सकें, और तो और मृत्यु भी इतनी

भयानक और दर्दनाक हुई जिसकी स्वामी जी ने कभी कल्पना भी नहीं की होगी,

और गपोडिये दयानंदी यह कहते हैं कि दयानंद ने सत्य की खोज में गृह त्याग किया, अरे मूर्खों सत्य की खोज में नही, जब दयानंद की मृत्यु से फटी तो उन्होंने गृहत्याग किया, जो दयानंद मृत्यु जैसे सत्य को न समझ सका, सारी उम्र उससे बचने को इधर उधर भागता रहा, वो कितना बुद्धिमान होगा यह समझना कोई बड़ी बात नहीं,...

यह तो था स्वामी दयानंद के जन्म से लेकर उनके गृह त्याग तक का वृत्तांत, अब आगे दयानंद के गृह त्याग के बाद का वृत्तांत स्वामी जी के ही शब्दों में यहाँ ज्यों का त्यों लिखते हैं.....

६• सच्चे योगी की खोज –

अब तक हमने पढ़ा की किस प्रकार स्वामी दयानंद ने मृत्यु से बचने व अमरत्व की खोज में गृह त्याग किया स्वामी दयानंद ऐसे योगी की खोज में निकल पड़े जो उन्हें अमरत्व की प्राप्ति करा सकें, अब आगे--

उक्त जीवन चरित्र के पृष्ठ १७ में दयानंद का कथन हैं कि शैलानगर में, मैं लाला भक्त के पास ठहरा हुआ था लाला भक्त एक साधु और सुशिक्षित व्यक्ति करके प्रसिद्ध थे, वहाँ एक ब्रह्मचारी के साथ मेरी बातचीत हुई मैं उससे दीक्षा लेकर बह्मचारी के आश्रम में प्रविष्ट हो गया, और गेरूवे वस्त्र धारण करके "शुद्ध चैतन्य" नाम ग्रहण कर लिया।

पृष्ठ २० में लिखा है कि कार्तिक के महीने में एक दिन मैं सिद्धपुर पहुचाँ कारण यह था कि उस समय सिद्धपुर में एक मेले के लगने की चर्चा थी, इसके अतिरिक्त यह आशा करके की मेले के कारण अनेक योग-विद्या विशारद योगियों का समागम होगा और उनमें से किसी एक के उपदेश से मुझे अमरत्व प्राप्त होना संभव है,

पृष्ठ २१ में लिखा है कि चलते चलते मैं अहमदाबाद और बडौदा पहुचाँ, बडौदा के चैतन्यमठ नामक मन्दिर में ब्रह्मानंद और अन्यान्य ब्रह्मचारी सन्यासीयों से मिला,

पृष्ठ २२ पर लिखा है कि ब्रह्मानंद आदि सत्पुरुषों से बात करके मुझे विश्वास हो गया कि ब्रह्म अर्थात ईश्वर मुझसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, जीव और ब्रह्म की एकता का निश्चय मुझे सम्यक् करा दिया, पहिले भी प्रायः मेरे मन में ये बात आती थी परन्तु आज इन महात्मा पुरुषों ने इस बात को मेरे मन में पुरे प्रकार से सिद्ध करके दिखा दिया, और मुझे पुरा पुरा विश्वास हो गया कि ब्रह्म मैं ही हूँ

पृष्ठ २७-२८ से प्रकट है कि दयानंद ने परमानंद परमहंस से वेदांतसार और वेदांत परिभाषा आदि की शिक्षा ग्रहण की, उसके बाद पुर्णानंद सरस्वती से सन्यास की दीक्षा लेकर सन्यासी के आश्रम में प्रविष्ट हो गए, पूर्णानंद ने उन्हे सन्यासियों की चौथी कक्षा में स्थान देकर उनका नाम दयानंद सरस्वती रख दिया,

पृष्ठ ४९ में लिखते हैं, कि १८६० मथुरा पहुँच मैं विरजानंद नामक सुपण्डित साधु के पास गया उस समय उनकी आयु ८१ वर्ष की थीं विरजानंद जन्म से ही अंधे थे और उनको उदर की पीड़ा थी उनके पास रहकर मैंने व्याकरण के साथ वेदादि ग्रंथों का अध्ययन आरम्भ

किया, विरजानंद के पास पाठ समाप्त करके दो वर्ष तक मैं आगरा में रहा,

समीक्षा-- पाठकगण! ध्यान करें कि प्रथम वे एक ब्रह्मचारी के चेले बने जिसने उनका नाम बदलकर "शुद्ध चैतन्य" रखा, फिर ब्रह्मानंद आदि सन्यासियों की संगति से उनको पुरा पुरा विश्वास हो गया कि ब्रह्म मै ही हूँ,

तदुपरान्त परमानंद परमहंस अद्वैतवादी अर्थात शंकर मत के सन्यासी ने उन्हें अपना चेला बनाया,

उसके पश्चात पूर्णानंद सरस्वती (अद्वैतवादी) ने उन्हे अपना चेला बनाया और उसी ने उनका नाम "दयानंद सरस्वती" रखा, चिरकाल पर्यन्त यह उसी मत में रहे और स्वंय को पूर्णब्रह्म समझते रहे,

इसके पश्चात दयानंद नेत्रहीन विरजानंद के चेले बने और कुछ समय तक उन्हीं के पास व्याकरण, वेदादि ग्रंथों का अध्ययन किया, जीवन पर्यन्त अपनी पुस्तकों में उनको परम विद्वान श्री विरजानंद स्वामी लिखा है और अपने लिए उनका चेला होना स्वीकार किया है, वह विरजानंद भी अद्वैतवादि थे, फिर वह साधारण सन्यासियों की आकृति से हरिद्वार ऋषिकेश आदि के जंगलों में रहते रहे कोई उनका नाम भी न जानता था, संवत् १९२४ के उपरांत वह गंगा जी के निकट गांव और नगरों में ठहर कर जो लोग उनसे मिलते थे उनसे मूर्ति पूजा का निषेध किया करते थे उस समय तक उनके मन में उत्तमोत्तम भोजन वस्त्रादि की इच्छा ने प्रवेश नहीं किया था, अब तक वे अद्वैतवादी थे फिर किसी के समझाने से उन्होंने

अद्वैतवाद को झूठा जानकर छोड दिया और द्वैतवादी बन गए, निदान अद्वैतवाद अर्थात शंकराचार्य के मत के खंडन में एक छोटी सी पुस्तक भी बनाई और सत्यार्थ प्रकाश में भी इसका खंडन कर गुरूदक्षिणा स्वरूप अपने गुरुजनों के मुहँ पर जूता दे मारा, और साथ ही अपने ग्यारह नियोग से उत्पन्न होने का प्रमाण दिया।

पाठकगण! ध्यान करें कि अब तक उन्होंने कितने रूप बदलें, कितने मत स्वीकार किए, किस-किस के चेले बने और किस-किस का त्याग किया, जिसने जीवन पर्यन्त अपने आपको ब्रह्म माना उससे बढ़कर नास्तिक और कौन होगा? ऐसे पुरुष के कथन व वर्त्ताव का क्या भरोसा?

जीवन पर्यन्त जीन विरजानंद को अपना गुरु और परम विद्वान लिखते आए उन्हीं के मत को मिथ्या और झूठा कहते रहे, एक काल में परम विद्वान और गुरु लिखना और उसी के मत को झूठा ठहराना अति अज्ञानता और लज्जा की बात है,

और अंत में पाठकगण! जरा विचार करें जिस उद्देश्य से दयानंद ने गृह त्याग किया क्या दयानंद उसमें सफल रहे?क्या उन्हें कभी सच्चा योगी मिल सका? इसका निर्णय आप लोग स्वयं करें।

७• स्वामी दयानंद की बुद्धि-

अब आपको स्वामी जी की बुद्धि का नमूना उन्हीं के द्वारा लिखे 'दयानंद आत्मचरित' से दिखाते हैं-

दयानंद आत्मचरित पृष्ठ ४८-४९ पर चांड़ालगढ़ के वर्णन में लिखा है कि खोटी प्रारब्ध से इस जगह मुझे एक बड़ा दोष लग गया अर्थात मुझे भंग पीने की ऐसी आदत हो गई कि कभी-कभी तो

उसके कारण मैं सर्वथा बेहोश हो जाया करता था, एक बार चांडालगढ़ निकटस्थ एक गांव के शिवालय में एक दिन रात्रियापन के लिए उपस्थित हुआ, भंग से उत्पन्न मादकता के वश मे मुझे वहाँ गहरी नींद आ गई , मेरे विवाह के संबंध में पार्वती के साथ महादेव की बात-चीत हो रही है, ऐसा एक स्वप्न देखकर में जाग गया, प्रात: काल एक स्त्री ने मुझे दही दिया मैंने उसे खा लिया, दही बहुत खट्टा था इसलिए भंग का नशा उतरने को एक अच्छी औषधि हो गई,

समीक्षा-- पाठकगण! विचार करें, कि पहिले दिन दयानंद ने भंग पी और दूसरे दिन दही खाने से नशा उतरा ऐसी भंग की बुद्धि भ्रांत होने में क्या संदेह है? आप कहते हैं कि भंग के नशे में, मैं बेहोश हो जाया करता, तो दूसरे दिन ही होश हो पाता था, इससे भी स्पष्ट सिद्ध है कि उसने अपनी बुद्धि की भ्रांति से और द्वेषाग्नि के कारण स्वयं निर्मित वेदभाष्यों और सत्यार्थ प्रकाश में जो कुछ मुख में अंड संड आया बक दिया, और जो चाहाँ लिख दिया,

अर्थात ऐसे भंग के लेख और कथन पर विश्वास करना बुद्धिमानों का काम नहीं,

इसी प्रकार की घटना का वर्णन देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा रचित "दयानंद चरित" के पृष्ठ २५१ पर लिखा है कि-- दयानंद उस समय धूम्रपान किया करते थे, इसलिए अनेक लोग अति उत्कृष्ट और सुगन्धित तम्बाकू क्रय करके उन्हें उपहार में देते थे, परन्तु एक दिन की घटना से स्वामी जी ने धूम्रपान का अभ्यास छोड़ दिया, स्वामी जी एक बार लाहौर में बैठे हुए हुक्का पी रहे थे, की इतने में एक

व्यक्ति ने आकर कहा- "आप स्वयं को सर्वत्यागी सन्यासी बताते हैं, क्या आपके पक्ष में इस प्रकार बहुमूल्य तम्बाकू सेवन करना विधेय है? आपको धूम्रपान करते हुए लज्जा नहीं आती" इस बात के सुनते ही स्वामी जी ने उसी क्षण धूम्रपान छोड़ने का निश्चय किया,

पाठकगण! विचार करें पहले भंग और अब धूम्रपान क्या ये ब्रह्मचारी, सन्यासी के लक्षण हैं?

क्या इन दोषों और अवगुणों को देखते हुए दयानंद को महर्षि कहा जाना चाहिए? कदापि नहीं!

पृष्ठ ४७ पर लिखा है कि मैंने एक ग्रंथ में नाड़ी चक्र का विवरण पढ़ा, वह मुझे सत्य प्रतीत नहीं हुआ, प्रत्युत उस विषय में संशय उत्पन्न हो गया, संशयजाल को तोडने के अभिप्राय से मैं एक दिन नदी के भीतर से एक शव खींच लाया, और एक तेज छूरी द्वारा शव को चीरना प्रारंभ किया, मैंने दिल को उसमें से निकाला और फिर नाभि से पसली तक चीर दिया, इसी प्रकार सिर और गर्दन से एक-एक भाग को काटकर अपने सम्मुख रख लिया, उसके पश्चात चीरें हुए शव के अनेक अंगों को मिलाकर देखने लगा, परन्तु उसके किसी अंग में भी ग्रंथवर्णित नाड़ीचक्र का निदर्शन मात्र भी न पाकर उस शव के साथ ही उस ग्रंथ को भी टुकड़े टुकड़े करके नदी में फेंक दिया

समीक्षा-- शाबाश ब्राह्मण सन्यासी होकर मुर्दा लाश को चीरने फाडने वाला नीच कर्म आप जैसे मंदबुद्धि व्यक्ति को ही शोभा देता है,

पाठकगण! विचार करके बताए, भला ये द्विजातियों और सन्यासियों का धर्म है, व नीच कर्म, इस प्रकार महामुर्खों वाले काम के लिए तो स्वामी जी को चुतियापंति का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार मिलना चाहिए स्वामी दयानंद के इस लेख को पढ़कर इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता की स्वामी जी उन महामुर्खों में से है जो मुर्दा लाश में नाड़ी (Pulse) ढुढ़ रहे है धन्य है आप और आपकी बुद्धि अच्छा हुआ आपने उसमें मन, आत्मा आदि नहीं ढूढ़ा अन्यथा न पाकर उन्हें भी मिथ्या ही बोल देते,

निसन्देह भंग और धूम्रपान से हुई बुद्धि की भ्रांति ने आपसे यह अनुचित कर्म करवा दिया।

दयानंद आत्मचरित्र पृष्ठ ३७-३८ से प्रकट है कि उन्होने जिन पुरूषों को अपनी आँखों से पशुवध करतें मांस भक्षण करते देखा, जिन्हे हाथों में पशुमुंड लिए बैठे देखा, उन्ही से सीधा आदि लेकर भोजन किया,

फिर पृष्ठ ६५ मे लिखा है कि- "मैं एक भयानक जंगल मे गुम गया क्रमशः चारों दिशाएं संध्या के अंधकार में आवृत होने लगी, उस समय मैने थोड़ी दूर पर ही अग्नि का प्रकाश देख वही एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गया, वहाँ के लोग मेरे निकट मुझे अपनी झोपडी में बुलाने आए परन्तु मैंने उनका भोजनादि सत्कार स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे,

समीक्षा-- धन्य हे! स्वामी जी आप और आपकी बुद्धि, जिसे अपनी आँखों से पशुवध करतें और मांस खाते देखा जिनके हाथों में कटे हुए पशुमंड देखें उससे सीधा आदि लेकर भोजन करना तो स्वीकार

किया और मूर्तिपूजकों के सत्कार का तिरस्कार, ये बुद्धि की भ्रांति का अंधकार है वा द्वैषाग्नि की प्रेरणा का अंधकार यह भी ध्यान रहे कि स्वामी जी मूर्तिपूजक के रजविर्य से ही प्रकट हुए मूर्तिपूजक के अन्न से ही उनका शरीर बढ़ा, जब तक सब जगह समाज स्थापित नहीं हुए मूर्तिपूजक के अतिरिक्त किसी के भोजनादि सत्कार से पालन पोषण हुआ, ऐसा लेख लिखते हुए आपको लज्जा नहीं आई।

आप आपने यजुर्वेद भाष्य १३/४८-४९ आदि मंत्रों में भी पशु हिंसा अर्थात नीलगायादि पशुओं को स्पष्ट शब्दों में मारना लिखाते है

आपको वेदों में पशुहिंसा लिखते मांसभक्षियों के हाथों सीधा लेकर भोजन करते लज्जा नहीं आई और मूर्तिपूजकों के सत्कार का तिरस्कार सिर्फ इस कारण कर देते हैं क्योंकि वे मूर्तिपूजक है यही है आपकी बुद्धि

पाठकगण! उक्त लेख में गिनवाये दयानंद के दोषों को पढ़कर स्वयं विचार करें कि जीवन पर्यन्त धूम्रपान करने वाले, लाश की चिर फाड करनेवाले, मांसभक्षकों के हाथ से भोजन करनेवाले, वेदों में पशुहिंसा लिखने व उसका समर्थन करने वाले दयांनंद की बुद्धि को देखते हुए बताए-

क्या ऐसा व्यक्ति ब्रह्मचारी, सन्यासी या फिर महर्षि कहलाने योग्य है? कदापि नहीं!

८• समाज सुधारकर या फिर समाज को अज्ञान रूपी अंधकूप में धकेलने वाला-

आर्य समाजी गपोड़ा- स्वामी दयानन्द ने तत्कालीन समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों और रूढियों-बुराइयों

को दूर करने के लिए, निर्भय होकर उन पर आक्रमण किया, वे 'संन्यासी योद्धा' कहलाए, उन्होंने जन्मना जाति का विरोध किया तथा कर्म के आधार वेदानुकूल वर्ण-निर्धारण की बात कही, वे दलितोद्धार के पक्षधर थे, उन्होंने बाल विवाह का निषेध किया तथा विधवा विवाह का समर्थन किया...

समीक्षा-- शायद दयानंदी लोग स्वामी जी को ठीक तरह से समझ ही न पाये, क्योकि सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वास को बढ़ने वाले स्वयं दयानंद ही थे, भंग वे पीते थे, धूम्रपान वे करते थे, प्रथम सत्यार्थ प्रकाश और वेदभाष्यों में पशुहिंसा, पशुयज्ञ, मांस पिंड देना, आदि को धर्म का अंग बताया, मांसभक्षियों के हाथों का भोजन वे करते थे, नियोग के नाम पर सामूहिक व्यभिचार का आरंभ उन्होंने किया, ४८ वर्ष के बुढ़ो का २४ वर्ष की नवयुवती से विवाह उन्होंने आरंभ करवाया, विधवा विवाह का विरोध करते हुए चतुर्थ समुल्लास में विधवा विवाह की हानियां उन्होंने गिनवाई, सूर्य पर मनुष्य उन्होंने बसाये, एक स्त्री के एकादश (११) पति बताकर उनका पतिव्रत धर्म खंडित करवाने वाले वे थे आदि आदि अगर गिनवाने लगें तो शब्द कम पड़ जाएंगे,

अब आगे सुनिये आर्य समाजीयों के अनुसार उन्होंने जन्मना जाति का विरोध किया तथा कर्म के आधार वेदानुकूल वर्ण-निर्धारण की बात कही, वे दलितोद्धार के पक्षधर थे,

समीक्षा-- कम अक्ल भुलक्कड़ दयानंदीयों को में याद दिला दूँ कि स्वामी दयानंद स्वंय जन्मना जाति को मानने वाले थे ये रहा प्रमाण-

स्वामी जी अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' में लिखते हैं कि गोद के बच्चों के नाम रखते समय भी उनके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होने का पूरा ध्यान रखना चाहिए, वह लिखते हैं--

"नामकरण का काल जिस दिन जन्म हो, उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११वें व १०१ (एक सौ एक) में अथवा दूसरे वर्ष के आरंभ में, जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे" ~(संस्कार विधि, पृष्ठ ६३)

"देव अथवा जयदेव ब्राह्मण हो तो देव शर्मा, क्षत्रिय हो तो देव वर्मा, वैश्य हो तो देव गुप्त और शूद्र हो तो देव दास इत्यादि...बालक का नाम धर के पुनः 'ओं कोसि.' ऊपर लिखित मंत्र बोलना." ~(संस्कार विधि, पृष्ठ ६६)

दयानंद ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ९२ पर **"पद्भ्याँ शूद्रो"** का अर्थ करते हुए लिखते हैं--

जैसे पग सबसे नीच अंग हैं, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है'

सत्यार्थप्रकाश, में 'शूद्रों को निर्बुद्धि और मूर्ख बताते हैं

यजुर्वेद अध्याय १४/९ में वैश्य और शुद्रों की पशु से तुलना करते हुए लिखते है कि--

(षष्ठवाट्)- पीठ से बोझ उठानेवाले ऊँट आदि के सदृश वैश्य,
(उक्षा)- सींचनेहारे बैल के तुल्य शूद्र,

यजुर्वेद ३०/२१ मे लिखते है कि--

(चाण्डालम्)- भंगी को, (खलतिम्)- गंजे को, (कृष्णम्)- काले रंग वाले, (पिङ्गाक्षम्)- पिले नेत्रों से युक्त पुरूष को दूर कीजिये,

दयानंदीयों का कहना है कि दयानंद ने कर्म के आधार वेदानुकूल वर्ण-निर्धारण की बात कही

दयानंदीयों ने शायद दयानंद के वेदभाष्य नहीं पढ़ें नहीं तो जान पाते कि दयानंद वेदानुकूल नहीं बल्कि पशुओं के कर्मानुकूल पशुओं से तुलना करके वर्ण-निर्धारित करते हैं जैसे अपने यजुर्वेदभाष्य १४/९ में वैश्यों के ऊँट और शुद्रों को गधे बैलादि के तुल्य बताया है

शायद यही कारण है कि दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास में शूद्रों की स्त्रीयों के साथ नियोग का समर्थन तो किया है पर शूद्र पुरूषों को नियोग के अधिकार से यह कहकर वंचित रखा कि स्त्रियाँ सिर्फ अपने से उच्च वर्ण के पुरूष के साथ नियोग करें इस प्रकार दयानंद ने अपनी शूद्र विरोधी मांसिकता जगजाहिर कर दी,

दयानंदीयों के अनुसार उन्होंने बाल विवाह का निषेध किया तथा विधवा विवाह का समर्थन किया- -

इस बात को तो मैं भी मानता हूँ कि स्वामी जी ने बाल विवाह का निषेध कर, अधेड उम्र के विवाह का समर्थन किया, स्वमी दयानंद अधेड़ उम्र के समाजी रंडवों को ध्यान मे रखते हुए सत्यार्थ प्रकाश मे लिखते है कि सबसे उत्तम विवाह २४ वर्ष की कन्या और ४८ वर्ष के बुढ़ों का है, और जहाँ तक प्रश्न विधवा विवाह का है तो मुझे लगता हैं दयानंदी अपने ग्रंथों का ही अध्ययन नहीं करते अगर करते तो जान पाते कि स्वामी दयानंद विधवा विवाह के घोर विरोधीयों मे से थे, सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास में दयानंद ने

बकायदे पुनर्विवाह के दोषों पर लम्बा चौड़ा और बचकाना सा लेख लिखा है

स्वामी दयानंद विधवा स्त्री को सिर्फ और सिर्फ बच्चा पैदा करने की मशीन समझते थे उनके मतानुसार विधवा स्त्री चाहे तो किसी परपुरूष से नियोग कर पुत्र उत्पन्न कर लें, परन्तु पुनर्विवाह नही करें, स्वामी दयानंद के अनुसार पुनर्विवाह से स्त्री का पतिव्रत धर्म खंडित हो जाता है परन्तु ग्यारह अलग-अलग पुरुषों के साथ सोकर भी उसका पतिव्रत धर्म खंडित नहीं होता, यही तो स्वामी जी के भंग की तंरग है नशे में क्या क्या बक गए कुछ ख्याल है

पाठकगण! स्वयं विचार करें दयानंद समाज सुधारक थे या फिर समाज को घोर अंधकार में धकेलने वाले सनकी व्यक्ति...

९• स्वामी दयानंद सनातन धर्म, सनातन संस्कृति को नष्ट करने वाले एक नीच षड्यंत्रकारी-

स्वामी दयानंद के लिए अंग्रेजी शासन किसी स्वर्ण युग से कम न था, उनके अनुसार उन्होंने सनातन धर्म के विरुद्ध जितना विष उगला यदि अंग्रेजों ने उनकी रक्षा न की होती तो जरूर कोई न कोई उन्हें मरवा डालता

१८८० के थियोसोफिस्ट पत्र में स्वामी जी बताते हैं कि "यदि अंग्रेजी राज्य न होता तो मैं जो इतनी बार फर्रूखाबाद आया, ब्राह्मण मुझे कभी जीवित न छोड़ते, किसी से मरवा डालते,

पाठकगण! के मन में प्रश्न उठ रहा होगा कि आखिर अंग्रेजी सरकार दयानंद पर इतनी मेहरबान क्यों थी, तो इसका जबाव है-- **'डिवाइड एंड रूल'** अंग्रेज़ों की नीति "महान स्वतंत्रता सेनानी सुभाषचन्द्र बोस ने अंग्रेजों की नीति का तीन शब्दों में खुलासा करते हुए लिखा है- डिवाइड एंड रूल अर्थात फूट डालो और राज करो"

स्वामी दयानंद यही कर रहे थे, उनके नवीन मत प्रचार से सनातन धर्म मे बिखराव की स्थिति उत्पन्न होने लगी थी और अंग्रेजों की तो शुरू से यही नीति रही थी, जिसे स्वामी दयानंद ने और आसान बना दिया, स्वामी दयानंद आखिर ऐसा क्या कर रहे थे देखें--

दयानन्द सरस्वती के बारे में क्वीन्स कॉलेज के प्राचार्य रुडॉल्फ होर्नले (Rudolf Hoernley) ने यह बात लिखी—

दयानन्द हिंदुओं के मन में यह बात भर देना चाहते हैं कि आज का हिंदूधर्म, वैदिक हिन्दू धर्म के पूर्णतया विपरीत है, और जब यह बात हिन्दुओं के मन में बैठ जायेगी तो वे तुरंत हिंदूधर्म का त्याग कर देंगे; पर तब दयानन्द के लिए उन्हें वैदिक स्थिति में वापस ले जाना सम्भव न होगा, ऐसी स्थिति में हिंदुओं को एक विकल्प की खोज होगी जो उन्हें हिंदू से ईसाई धर्म की ओर ले जायेगी।

स्रोत: The Christian Intelligence, Calcutta, March 1870, p 79 and A F R H quoted in The Arya Samaj by Lajpat Rai, 1932, p 42 quoted in Western Indologists A Study in Motives.htm, Purohit Bhagavan Dutt

अब आपको दयानंद का असली चेहरा दिखाते है- जबसे न्यूयॉर्क में थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना हुई तभी से स्वामी दयानंद ने

उनसे सम्पर्क साधना आरंभ कर दिया, और १३ अप्रैल १८७८ में स्वामी दयानंद ने थियोसोफिकल सोसायटी को पत्र लिखकर थियोसोफिकल सोसायटी से यह निवेदन किया कि वह अपना प्रधान कार्यालय न्यूयॉर्क से मुम्बई ले आए, उसके जबाव में थियोसोफिकल सोसायटी की तरफ से जबाव में जो पत्र आया वो ये है उसमें लिखा था—

The Theosophical Society, New York, May 22nd 1878.

To the Chief of the Arya Samaj.

HONOURED SIR,

You are respectfully informed that at a meeting of the Council of the Theosophical Society, held at New York on the 22nd of May 1878, the President in the chair upon motion of Vice-President A. Wilder seconded by the corressponding Secre tary H. P. Blavatsky, it was unanimously resolved that the society accept the proposal of the Arya Samaj, to unite with itself, and

that the title of this Society be changed to

" The Theosophical Society of the Arya Samaj of India. *

Resolved, that the Theosophical Society for itself and branches in America, Europe and else-where, hereby recognize Swami Dayanand Saraswati, Pandit, Founder of the Arya Samaj, as its lawful Director or Chief.

Awaiting the signification of your approval and any instructions that you may be pleased to give.

I am, honoured sir, by order of the Council,

Respectfully yours,

(Sd.) AUGUSTUS GOSTAM,

Recording Secretary

(स्त्रोत- LIFE & TEACHINGS OF SWAMI DAYANAND: Swami Dayanand and Theosphists- P. 162,163, एवं देवेन्द्रबाबु रचित 'दयानंद चरित', पृष्ठ २७५,२७६)

****

जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है-

थियोसोफिकल सोसाइटी, न्यूयॉर्क मई २२, सन् १८७८ ई•

सेवा में प्रधान आर्य समाज-

माननीय महोदय ! आपको विनयपूर्वक सूचना दी जाती है कि थियोसोफिकल सोसाइटी की कौन्सिल के एक अधिवेशन में, जो न्यूयॉर्क में २२ मई १८७८ को सामयिक प्रधान के सभापतित्व में संघटित हुई हुआ ए• वाइल्डर साहब उपसभापति के प्रस्ताव और पत्रव्यवहार कर्ता मन्त्री एच• पी• ब्लैवाटस्की के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से निर्धारित हुआ है कि यह सभा आर्य समाज के इस प्रस्ताव को कि सभा उक्त समाज के साथ मिल जावे और इस समाज का नाम परिवर्तित करके "भारतवर्षीय आर्य समाज की थियोसोफिकल सोसाइटी" रखा जावे स्वीकार करती है,

यह भी निश्चय हुआ कि थियोसोफिकल सोसाइटी अपनी और अपनी शाखाओं की ओर से जो अमेरिका, यूरोप और अन्य प्रदेशों में हैं, स्वामी दयानंद सरस्वती पंडित, संस्थापक आर्य समाज को अपना नियमानुकूल अधिनायक मानती है,

आपकी स्वीकारी की सूचना और किन्हीं सुझावों की जो आप देवें प्रतीक्षा करता हुआ"

मैं हूँ, माननीय महोदय, कौन्सिल की आज्ञानुसार

आपका

(हस्ताक्षर) आगस्टम गस्टम,

रिकॉर्डिंग सेक्रेटरी - (अनुवादक)

(स्त्रोत- LIFE & TEACHINGS OF SWAMI DAYANAND: Swami Dayanand and Theosphists- P. 162,163, एवं देवेन्द्रबाबु रचित 'दयानंद चरित', पृष्ठ २७५,२७६)

****

पत्र में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यह सभा आर्य समाज के इस प्रस्ताव को कि सभा (अर्थात थियोसोफिकल सोसाइटी) उक्त समाज (अर्थात आर्य समाज) के साथ मिल जावें और इस सभा का नाम परिवर्तित करके "Theosophical Society of the Arya Samaj" रखा जावें स्वीकार करती है,

उक्त पत्र से यह साफ हो जाता है कि किस प्रकार स्वामी जी ईसाई मिशनरीयों से निवेदन कर रहे हैं कि आओं आर्य समाज के जमाता हमारे साथ मिल कर भारतीय सनातन संस्कृति को नष्ट करने में मेरी सहायता करें और अपने मत का प्रचार कर नास्तिकवाद को बढ़ाने में आर्य समाज का सहयोग करें,

पाठकगण! विचार करें यदि दयानंद का काम वैदिक धर्म का प्रचार ही था तो क्या दयानंद को पुरे भारतवर्ष में कहीं वैदिक लौग नहीं मिलें, जो वे ईसाइयों के सामने गिडगिडा रहे थे, आखिर दयानंद ने उस गौभक्षक ईसाई मिशनरी सभा में ऐसे कौन से वैदिक गुण देख लिए जो उन्हें सनातनधर्मीयों मे न दिखें, दरअसल स्वामी जी स्वार्थ, अंहकार और द्वैषाग्नि में इतने अंधे हो चुके थे कि अपने स्वार्थपूर्ति के लिए वो किसी भी स्तर तक गिर सकते थें वर्ना दयानंदी जबाव दें कि यदि दयानंद का मन साफ था तो उन्होंने सनातनधर्मीयों के साथ मिलकर वैदिक धर्म का प्रचार प्रसार क्यों नहीं किया और उस गौभक्षक ईसाई मिशनरी सभा में ऐसा क्या देख लिया जो ना तो वैदिक धर्मि थे और ना ही इस भारतभूमि के, फिर ऐसा क्या कारण था जो थियोसोफिकल सोसाइटी को भारत में बुलाने व उसका हिस्सा बनने के लिए उनकी लार टपक रही थी, ऐसा करते हुए दयानंद को लज्जा नहीं आई,

पाठकगण ! स्वयं निर्णय करें दयानंद वैदिक धर्म के प्रचार थे या फिर सनातन संस्कृति को नष्ट करने वाले एक षड्यंत्रकारी...

१०• स्वामी दयानंद की मृत्यु, उनके अंतिम शब्द व उनके अंतिम संस्कार का संक्षिप्त विवरण-

वर्ष १८८३ में स्वामी जी महाराज जसवंत सिंह से भेंट करने जोधपुर पहुंचे, जोधपुर नरेश महाराजा जसवंत सिंह अत्यंत विलासी थे, अनेक रानियों के होने पर भी महाराजा नन्हीबाई (नन्ही जान) नामक एक वेश्या, के प्रेमजाल में फँसे थे।

एक दिन स्वामी जी अचानक राजदरबार में पहुँचे, वहाँ महाराजा के साथ नन्हीबाई भी उपस्थित थी, महाराजा की इस चरित्र हीनता को देखकर स्वामी जी ने कहा, "सिंह होकर कुतिया का शिकार करते हो?" ~(मधुर अथैया लिखित- स्वामी दयानंद सरस्वती जीवन चरित्र पृष्ठ ६३)

समीक्षा-- शाबाश एक ब्रह्मचारी सन्यासी होकर स्त्री को गालियाँ बकना आपको ही शोभा देता है इस सबका उत्तरदायी व्यभिचारी राजा को तो आपने सिंह की उपमा दे दी और नन्ही जान को कुतिया ये आपकि दौगलीनिति नहीं तो क्या है?

ये तो सन्यासी वाले लक्षण नहीं है एक सन्यासी के लिए तो क्या स्त्री और क्या पुरूष सब एक समान है फिर एक के लिए कुतिया और दूसरे को सिंह की उपमा कैसे? हो सकता है आपने व्यभिचारी राजा को सिंह इसलिए बोला क्योकि आपकी राजा से फटती थीं, आपके लक्षण से तो यही प्रतित होता है,

फिर आगे लिखा है कि-- इस बात से नन्ही जान स्वामी जी से अत्यंत क्रोधित हो उठी, नन्ही जान स्वामी जी की हत्या का षड्यंत्र रचने लगी, उसने रसोइये जगन्नाथ के माध्यम से २९ सितंबर १८८३ की रात्रि को दूध में विष मिलाकर पिलवा दिया, जिससे उनका स्वास्थ्य खराब होने लगा, उल्टी और दस्त रूकने का नाम नहीं लेते, उदर शूल और यकृत में सूजन के साथ-साथ स्वामी जी को अत्यधिक शारीरिक दुर्बलता अनुभव होने लगी।

और इस प्रकार महीनों की दर्दनाक पीड़ा सहने के बाद ३० अक्तूबर १८८३ ई. दीपावली की शाम को स्वामी दयानंद की मृत्यु हो गई, मृत्यु से पहले स्वामी दयानंद के अंतिम शब्द थे-

'हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो, अहा! तूने अच्छी लीला की!

समीक्षा-- स्वामी जी सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं कि—

"चाहे कोई कितनी भी चतुराई करें परन्तु अन्त में सच-सच और झूठ-झूठ हो जाता है" ~(सत्यार्थ प्रकाश, पृ.३५३)

अब स्वामी जी के इस सिद्धान्त के आधार पर स्वामी जी का अन्त देखते हैं, ३० अक्तूबर १८८३ ई. को शाम के समय स्वामी जी पलंग पर सीधे लेटे हुए थे, उन्होंने कहा--

"हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो, अहा! तूने अच्छी लीला की!" ~(दयानन्द जीवन चरित्र)

स्वामी जी ने अपने साहित्य में कहीं भी ईश्वर और सत्पुरूषों के कर्मों को लीला नहीं कहा है लेकिन अन्तकाल आया तो जाते जाते वह ईश्वर के कर्म को भी 'लीला' कह गए, इससे समझा जा सकता है कि संसार से विदा होते समय उनके हृदय में ईश्वर के प्रति किस प्रकार के भाव थे,

स्वामी जी सत्यार्थ प्रकाश में धूर्त, ठग और धोखेबाज़ों को 'पोप' की संज्ञा देते हुए उनके बुरे कामों को 'लीला' कहते है, वे लीला का अर्थ बताते हुए लिखते है--

"अर्थात् राजा और प्रजा को विद्या न पढ़ने देना, अच्छे पुरूषों का संग न होने देना, रात दिन बहकाने के सिवाय दूसरा कुछ भी काम नहीं करना है" ~(सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास)

क्या यह मानना सही है कि ईश्वर लीला करता है?

स्वामी जी ईश्वर में इच्छा का होना नहीं मानते थे, वह कहते थे--

"ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं" ~(सत्यार्थ प्रकाश,सप्तम समुल्लास)

इसके बावजूद उन्होंने अपने अंतिम कथन में ईश्वर में इच्छा का होना भी माना है, इस तरह हम देखते हैं कि जिन बातों को वह ईश्वर की महिमा के प्रतिकूल मानते थे, अपने अंत के एक वाक्य में वह ईश्वर के लिए ऐसी दो बातें कह बैठे, यही तो उनके भंग की तंरग है भंग के नशे में जो कुछ मुहँ में अंड संड आया बक दिया और जो मन में आया सो लिख दिया अब पाठकगण! विचार करें जो अपने मत विरुद्ध ही बातें करें ऐसे भंगेडी के लेखों का क्या प्रमाण?

दयानंद का अंतिम संस्कार-

बताया गया है कि दो मन (८० किग्रा.) चन्दन, दस मन (४०० किग्रा.) पीपल की लकड़ी, चार मन (१६० किग्रा.) घी, पांच सेर कपूर, एक सेर केसर, दो तोला कस्तूरी आदि सामग्री स्वामी जी की चिता को जलाने में ख़र्च की गई।

उनकी अन्तिम संस्कार के ख़र्चे को आज जोड़ा जाए तो लगभग १० से १२ लाख रुपये बैठता है। और स्वामी जी 'संस्कारविधि' के पृष्ठ १४१ पर प्रत्येक मृतक को इतनी ही सामग्री के साथ जलाना ही वैदिक संस्कार लिखा है, और लिखते हैं कि जो कोई दरिद्र हो तो न्यून से न्यून २० किग्रा घी अवश्य होना चाहिए और जो इतना भी घृतादि न होए तो न गाड़े, न जल में छोडे, न दाह करे, किन्तु दूर जाके जंगल में छोड आवें,

समीक्षा-- वाह रे! दयानंद तेरी बुद्धि, ये संस्कार विधि जरूर भंग के नशे में लिखी होगी, इतनी सामग्री हो तो अंतिम संस्कार हो नहीं तो शव को जंगल में फेंक दें, जिस दिन दयानंद के पचास, सौ चेलों की लाशें जंगल में पड़ी मिलेगी उस दिन गुरूआज्ञा का फल प्रकट होगा।

उचित होता कि दयानंदी गुरु आज्ञा का पालन करते हुए दयानंद के अंतिम संस्कार में बेकार का इतना धन खर्च करने की बजाय दयानंद की लाश को दूर कहीं जंगल में छोड़ आते, इस प्रकार जो धन और खाद्यय सामग्री बचती उससे लगभग १० परिवारों के एक वर्ष का भोजन का प्रबंध हो जाता,

दयानंद आत्मचरित लिखने का मेरा उद्देश्य सिर्फ इतना है कि हमारे सनातनी भाई दयानंद के असली जीवन चरित्र के बारे में ठीक-ठीक जान सके, इससे पहले कि यह सत्य हमेशा हमेशा के लिए इतिहास के अंधेरे में खो जाएं, क्योकि हम सभी जानते हैं, कि जब भी हम किसी आर्य समाजी द्वारा तैयार दयानंद जीवन चरित्र पढते है तो, हम केवल वही पढ़ और समझ पाते हैं जो वो हमें दिखाना चाहता है या कहें जो वो हमारे दिमाग में डालना चाहता है, फिर चाहे वो सत्य हो या फिर असत्य,

लेकिन उसमें कितना सत्य और कितना असत्य लिखा है वो हम तभी जान पाते हैं जब हम दयानंद द्वारा लिखित "दयानंद आत्मचरित" पढ़ते है, और इस पुस्तक के माध्यम से मैंने वही सत्य लोगों के सामने रखने का प्रयास किया है, आशा है इस पुस्तक से सभी को बहुत लाभ होगा,

नवीन आर्य समाजीयों से विशेष निवेदन है कि जब भी वो इस पुस्तक को पढ़े तो शांत मन से विचार करें, तभी सत्य और असत्य का निर्णय हो सकेगा,

आशा करता हूँ यह पुस्तक सभी के लिए लाभकारी सिद्ध होगी,

[redacted]~उपेन्द्र कुमार 'बागी'

दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश और उनके वेदभाष्यों कि वास्तविकता...

पूर्व काल मे भारतवर्ष विद्या बुद्धि और सर्वगुणों की खान था, जिस समय इस भारत वर्ष की कीर्तिपताका भूमंडल के चारो तरफ फहरा रही थी उस समय कनो से सुनी कीर्तियो और नेत्रो से देखने निमित दूर देशो से लोग यहाँ आते थे और अपने नेत्रो को सुफलकर यहाँ की अतुलनीय कीर्ति को अपनी भाषा के ग्रंथो मे रचते थे, वे ग्रंथ आज भी इस देश की गुरुता और कीर्ति का स्मरण कराते है जिस समय यह विश्व अज्ञानान्धकार मे मग्न था पृथ्वी के अधिकांश भाग असभ्यता पूर्ण ही रही थी उस समय यही देश धर्म आस्तिकता और भक्ति और सभ्यता के पूर्ण प्रकाश से जगमगा रहा था, परंतु समय की भी क्या अलौकिक महिमा है की सूर्यमंडल को आकाश मे चढ़कर मध्यान्ह समय महातीक्ष्ण होकर फिर से नीचे उतरना पड़ता है ठीक वही दशा इस देश की हुई, जो सबका सिर मौर था वो पराधीनता के भार से महापीडि॒त हो रहा है, भारत के उपरांत यह देश विदेशी चढ़ाइयों से गारत होकर ऐसा आहत हुआ है, की निस्सार बलहीन होकर आलस्य का भंडार हो गया है, इसकी विद्या बुद्धि सब विदेशी शिक्षा मे लय हो गयी है, धर्म कर्म मे असावधानी हो गयी है, संस्कृत विद्या जो द्विजमात्र का आधार थी, उसके शब्द भी अब शुद्ध नही उच्चारण होते, इस प्रकार धर्म विलुप्त होने से अनेक मतभेद भी हो गए है, जिस पुरुष को कुछ भी सहायता मिली झट उसने अपना नवीन पंथ की कलपना कर शब्द ब्रह्म की

कल्पना कर ली, और शिष्यों को उपदेश देना आरंभ कर दिया, इसका फल इस देश मे यह हुआ की फूट का वृक्ष उतपन्न हो गया और सत् धर्म में बाधा पड़ने लगी, इन नवीन मतो से हानि तो हो ही रही थी, इसी समय दयानन्द सरस्वती ने अपना मत चलाकर कोप लीला प्रारम्भ की, इसमे भक्ति भाव, मूर्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध, पाप दूर होना, तीर्थ, माहात्म्य आदि का निषेध करके जप तप, आचार विचार, जाति को मेटकर, कर्म से ब्राह्मणादि वर्ण, नियोग-प्रचार, स्त्री के एकादश (ग्यारह) पति आदि करने की विधि आदि की आज्ञा देकर वेद मे रेल, तार, कमेटी आदि का वर्णन कर सब कुछ वेदों के नाम से ही लिख दिया है,

इससे संस्कृत ना जानने वाले सनातन धर्म से हीन हो उनकी व्याख्याँ सुन अपने महान पुरुषो की गति श्याग इस नाम मात्र मे मगन हो जाते है, इनके संगठन का नाम आर्य समाज है, तथाकथित सन्यासी जी के बनाये हुए ग्रंथो मे दूसरी बार का छपा सत्यार्थप्रकाश ही इस मत का मूल है, स्वामी जी के अनुयायी इसको पत्थर की लकीर समझते है, इसका पाठ करते है और कोई कोई इसकी कथा भी कहाते है , समाजियों मे इसका पाठ होता है और शास्त्रार्थ मे प्रमाण भी उसी से देते है, समाजीयों का ऐसा मत है कि सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण १८७५ में मुद्रित हुआ, और कुछ तो यह भी कहते है कि १८७५ के आसपास ही स्वामी जी ने वेदभाष्य भी लिख लिया था, परन्तु इस बात में कुछ सच्चाई नहीं, सत्य तो यह है कि सच को छिपाने के लिए धूर्त समाजीयों द्वारा लोगों के दिमाग में ये बात भर दी जाती है कि सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण १८७५ में और द्वितीय संस्करण १८८२ में छपा परन्तु ये दयानंदी

किसी को ये नहीं बताते कि ये संस्करण कब, कैसे और किस मुद्रणालय से छपें? इसका एक कारण यह है कि ज्यादातर समाजी स्वयं नहीं जानते की सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण कब, कैसे और कहाँ से मुद्रित हुआ?

यह बात इसलिए भी छिपाई गईं कि यदि लोगों को ये सत्य ज्ञात हो जाता की सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण कब कैसे और किस मुद्रणालय से छपा? तो लोगों के बीच स्वामी दयानंद की छवि सनातनधर्म विरोधी बनकर रह जाती, और भविष्य में कोई व्यक्ति इनके इस संगठन पर थुकना भी पसंद नहीं करता।

इस बात से चिंतित आर्य समाज द्वारा यह एक झूठ गढ़ा कि 'सत्यार्थ प्रकाश' का प्रथम संस्करण १८७५ में मुद्रित हुआ, परन्तु सत्य तो यह है कि सत्यार्थ प्रकाश के लेखन का कार्य राजा जयकृष्णदास द्वारा लेखन कार्य के लिए नियुक्त पं० चन्द्रशेखर की सहायता से जून १८७४ में आरम्भ हुआ, और इस प्रकार १८७५ में स्वामी दयानंद ने प्रथम समुल्लास को एक छोटी सी पत्रिका के रूप में रूप छपवाकर १० अप्रैल १८७५ में आर्य समाज की स्थापना की, जिसमें स्वामी जी ने अपना मत और नियम पर प्रकाश डाला था, यह मात्र कुछ पृष्ठों की एक छोटी सी पत्रिका थी, परन्तु दयानंदी इसे ही सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण समझते हैं, यही उनकी बड़ी भारी भूल हैं, और यहीं नहीं द्वितीय संस्करण के बारे में भी असत्य बोला गया कि वह दयानंद के जीवित रहते छपीं, जिससे कि भविष्य में दयानंद और आर्य समाज पर कोई उंगली न उठे, पर अफसोस कि झुठ बोलते बोलते यह दयानंदी सत्य को भूल झूठ में ही जीने लगें, पर समाजी शायद यह भूल गये कि सत्य को चिल्लाना

नहीं पडता और झूठ को हजार बार रटने से भी वह सत्य में प्रवर्तित नहीं हो सकता।

अब प्रश्न ये उठता हैं कि यदि सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण १८७५ में मुद्रित न हुआ तो फिर कब हुआ? और दयानंद के वेदभाष्यों और सत्यार्थ प्रकाश कि सच्चाई क्या है? तो इसका उत्तर हमें स्वामी जी के इतिहास में ही मिलेगा तो आइए एक दृष्टि आर्य समाज के इतिहास पर भी डाल लेंते हैं,

सन् १८६० दयानंद लुडकते-लुडकते मथुरा विरजानंद के आश्रम जा पहुँचे, विरजानंद जो कि पाचँ वर्ष की उम्र से ही नेत्रहीन थे, उन्होंने दयानंद को अपना चेला बनाया, यहाँ दयानंद ने 4G की स्पीड से ज्ञान प्राप्त किया, पर आदत से मजबूर स्वामी जी यहाँ भी ज्यादा समय तक न रूक सकें, और सन १८६३ में अपने नेत्रहीन गुरु विरजानंद को भी छोड़कर भाग खड़े हुए, फिर कुछ वर्षों तक वह साधारण सन्यासियों की आकृति से हरिद्वार ऋषिकेश आदि के जंगलों में रहते रहे, कोई उनका नाम भी न जानता था, सन १८६७ के उपरांत वह गंगा जी के निकट गांव और नगरों में ठहर कर जो लोग उनसे मिलते थे उनसे सनातन परम्पराओं जैसे भक्ति भाव, मूर्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध, पाप दूर होना, तीर्थ, माहात्म्य आदि का निषेध करते, कुछ वर्ष पश्चात अचानक दयानंद जी की भेंट राजा जयकृष्णदास हुई, राजा जयकृष्णदास दयानंद की बातों से काफी प्रभावित हुए और उन्हें उनके मतों पर एक पुस्तक लिखने का सुझाव दिया, इस प्रकार राजा जयकृष्णदास की सहायता से दयानंद ने लेखन का काम प्रारंभ किया, (सन १८७४ मे मैक्स मुलर ने अपने वेदभाष्य प्रकाशित किए इसके बाद दयानंद ने अपने

वेदभाष्य एवं सत्यार्थ प्रकाश आदि पर लेखन का काम प्रारंभ किया) लेखन का कार्य राजा जयकृष्णदकस द्वारा लेखन कार्य के लिए नियुक्त पं० चन्द्रशेखर की सहायता से जून १८७४ को काशी में आरंभ हुआ, यह सहायता इसी रूप में थी कि दयानंद बोलते जाते थे और चन्द्रशेखर जी लिखते जाते थे, इसके लगभग एक वर्ष बाद स्वामी जी ने प्रथम समुल्लास को एक छोटी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' के नाम से छपवाकर आर्य समाज की स्थापना की, इस पुस्तक की सहायता से स्वामी जी ने केवल अपना मत प्रकट किया था, यहाँ यह साफ कर दें कि १८७५ में मुद्रित 'सत्यार्थ प्रकाश' में मात्र पहला समुल्लास था जिसके द्वारा स्वामी जी ने अपना मत प्रकट किया था, यह पुस्तक पूर्ण 'सत्यार्थ प्रकाश' नहीं हैं जो लोग इसे पूर्ण सत्यार्थ प्रकाश समझते हैं वह उनकी भूल है, आइए अब आपको यह बताते हैं कि कब, कैसे और कहाँ से सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण छपा देखिए- यह हम पहले ही साफ कर चुके हैं कि सत्यार्थ प्रकाश का लेखन कार्य पं० चन्द्रशेखर द्वारा हुआ स्वामी जी अपने मत प्रचार और शास्त्रार्थ के लिए महीनों शहर से बाहर जाते रहते और जब वापस लौटते तो उसका सब हाल लेखन कार्य के लिए नियुक्त पं० चन्द्रशेखर से कहते और वह उसे ज्यों का त्यों लिख देते इस तरह जब लेखन की सामग्री ज्यादा हो गई तो दयानंद को साहित्य प्रकाशन हेतु मुद्रणालय की आवश्यकता होने लगी, इस कार्य मे दयानंद को आर्य समाज मुराबाद, आर्य समाज मेरठ और राजा जरकृष्णदास से कुछ सहायता प्राप्त हुई, इसके अलावा थियोसोफिकल सोसायटी ने भी इसमें भारी सहायता प्रदान की।

इसके बाद थियोसोफिकल सोसायटी की मदद से प्रिंटिंग मशीन लंदन से भारत मंगवाईं गईं, और फिर इस प्रकार १२ फरवरी १८८० को लक्ष्मीकुंड स्थित विजयनगराधिपति के उद्यानगृह की छत पर वैदिक यंत्रालय की स्थापना हुई, इस प्रकार १८८१ में वैदिक यंत्रालय द्वारा दयानंद यजुर्वेदभाष्य का प्रकाशन किया गया, उसके लगभग एक वर्ष बाद सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण भी वैदिक यंत्रालय प्रयाग द्वारा १८८२ के अंत तक प्रकाशित किया गया इसमें कुल ग्यारह समुल्लास थे,

दयानंद द्वारा सत्यार्थ प्रकाश पर इसके आगे के लेखन का काम चल रहा था साथ ही दयानंद ऋग्वेद का भी भाष्य कर रहे थे अभी लेखन का काम पूरा भी नहीं हुआ था कि ३० अक्तूबर १८८३ को स्वामी जी नन्हीजान नाम की एक वैश्या के हाथों वीरगति को प्राप्त हो गये।

दयानंद की मृत्यु तक सत्यार्थ प्रकाश का बारहवाँ समुल्लास लिखा जा रहा था और ऋग्वेद के ६ मंडल तक का भाष्य पुरा हो सका था सातवें मंडल के दूसरे सुक्त का भाष्य आरंभ किया था पर वो पुरा न हो सका।

इस प्रकार कुल मिलाकर दयानंद २ वेद का भाष्य भी पुरा न कर सकें, दयानंद की मृत्यु के बाद तो दयानंदी जैसे अनाथ ही हो गये, सनातन धर्मियों के बीच दयानंद और आर्य समाज की छवि सनातन धर्म विरोधी बन चुकी थी, इसका सबसे मुख्य कारण यह रहा था कि, दयानंद ने जीवित रहते अपने इस तथाकथित ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश में सिर्फ और सिर्फ सनातन धर्म ही की निंदा की थी और

यही दयानंद का उद्देश्य भी था थियोसोफिकल सोसायटी के साथ अच्छे संबंध होने के कारण दयानंद ने कभी ईसाई और मुस्लिम मत के विरुद्ध कुछ नहीं लिखा, लोगों के मन में आर्य समाज की छवि सनातन धर्म विरोधी बनकर न रह जायें, इस भय से दयानंदीयों ने दयानंद की मृत्यु के बाद ईसाई और मुस्लिम मत के विरुद्ध २ समुल्लास और तैयार किए, जिसे १८८४ के अंत में वैदिक यंत्रालय द्वारा सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय संस्करण में छापा गया और एक झूठ गढ़ा गया कि ये समुल्लास दयानंद के जीवित रहते ही लिखे गए थे पर कुछ समस्याओं के कारण यह छप न सकें यहाँ तक कि द्वितीय समुल्लास और प्रथम समुल्लास के छपने के समय को लेकर भी झूठ बोला गया ताकि आर्य समाज और दयानंद का ये कुकर्म कभी किसी के सामने ने आ सके,

ये झूठ १३३ वर्षों से बोला जा रहा है ये समय इतना लम्बा है कि अब तो समाजी इस झूठ को ही सत्य मान बैठे हैं यही कारण है कि इन समाजीयों से सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण के बारे में पूछने पर इनके पास कोई जबाव नहीं होता जबकि दोनों ही संस्करण और वेदभाष्य एक ही मुद्रणालय से छापे गए थे जिसकी स्थापना सन् १८८० में हुई थी

ये आर्य समाजीयों की गपडचौथ है कि प्रथम संस्करण १८७५ में और द्वितीय संस्करण १८८२ में छपा, जबकि इस बात में कुछ भी सच्चाई नहीं है, दरअसल ये समाजी रट्टू तोते है इन्हें जितना रटाया जाता है उन्हें उतना ही पता होता है

सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण उस बदनसीब बच्चे कि तरह है जिसका बाप होते हुए भी १३३ वर्ष से लावारिस की तरह पहचान की उम्मीद में बैठा इंतजार कर रहा है, परन्तु अफसोस की इस तरफ किसी का ध्यान ही जाता, यदि इसकी बात होती तो सब भेद खुल जाता,

अब आइए एक दृष्टि दयानंद के वेद भाष्यों पर भी डाल लेते हैं दरअसल आर्य समाजी जिन वेदभाष्यों को आज दयानंद वेदभाष्यों के नाम से जानते हैं वो यही नहीं जानते कि दयानंद ने तो कभी वेदभाष्य किए ही नहीं थे, बल्कि दयानंद ने मैक्स मुलर के भाष्यों का ही हिन्दी अनुवाद किया है

प्रमाण-

मैक्स मुलर ने अपनी प्रति १८७४ में प्रदर्शित की इसके ७ वर्ष पश्चात दयानंद ने अपने वेद भाष्य प्रकाशित किया!!!

मैक्स मुलर और दयानंद की वेद भाष्करण में कुछ समानताएं हैं जो बाकी वेद ग्रंथों से समानता नहीं रखतीं। और इसके बाद टी एच ग्रिफ्थ ने भी वेद भाष्य को लिखा जो कि उन्होंने स्वयं ही कहा है कि वो मैक्स मुलर से प्रेरित है।

इन तीनों के भाष्य में सभी ज्यादातर मंत्र संख्या और उनका अर्थ एक सामान है, यह संभव है कि दयानंद ने मैक्स मुलर का वेद भाष्य पढ़ा और उसको अपने अनुसार हिंदी में लिखा जो कि आज दयानंद वेदभाष्य नाम से प्रचलित है, किन्तु यह मूल वेद प्रति नहीं है बल्कि केवल अर्थ का अनर्थ है, जिसमे कई मंत्रों को आधा अधुरा करके लिखा गया है, जिससे अर्थ का समूल नहीं व्यक्त होता बल्कि

अलग ही प्रकार से अर्थ को दर्शाने का प्रयास होता है, कई मंत्र ऐसे लिखे गए हैं जो इनके वेद भाष्यों में हैं वो अन्य वेद ग्रंथों में नहीं हैं, आप कोई मंत्र का संख्या काण्ड अध्याय भी दयानंद वंशजों से पूछ लें तो ये अपनी मानसिकता पर आ जाते हैं किन्तु सही जवाब नहीं देते, क्योंकि ये स्वयं भी जानते हैं कि ये जो दयानंद कृत पुस्तकें पढ़ते हैं वे वेद नहीं हैं, केवल छलावा हैं लोगों को वेदों के नाम पर अपनी शिक्षा देने का और अपनी सोच को वेदों के अनुसार न ढालकर लोगों में अपनी सोच के अनुसार वेद ज्ञान को ढाल दिया है, अपने अनुसार इन्होने अर्थ बना रखे हैं अपने अनुसार उनके मंत्र संख्या तय कर दिए!!!

ये जानकारी है कि किसने कब लिखा और किसने कब ये देखिये।

मैक्स मुलर ने १८७४ में वेदभाष्य किए। जिसके २६ वर्ष पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुए,

दयानंद ने १८८१ में यजुर्वेदभाष्य, १८८२ में सत्यार्थ प्रकाश और १८८३ में ऋग्वेदभाष्य लिखते लिखते ही मृत्यु को प्राप्त हुए,

राल्फ टी एच ग्रिफ्थ ने कुछ कुछ ही वर्षों के अंतराल में सारे वेदों को ट्रांसलेट कर दिया! और अंतिम ट्रांसलेशन के ७ साल बाद मृत्यु को प्राप्त हुए।

Hymns of the Rigveda (published 1889) इसके कुल ४ साल में ही सामवेद का पूर्ण अध्ययन और ट्रांसलेशन!!!

Hymns of the Samaveda (published 1893) इसके कुल तीन साल में ही अथर्ववेद का पूर्ण ट्रांसलेशन!!!!!

Hymns of the Atharvaveda (published 1896) इसके बाद तीन साल में ही यजुर्वेद का ट्रांसलेशन!!!!

The Texts of the Yajurveda (published 1899)

सबसे महत्वपूर्ण बात ये है कि ये ख्याल सबसे पहले लिखने वाले मैक्स मुलर और अंत में लिखने वाले राल्फ टी एच ग्रिफ्थ के भाष्य अपने आप में एक सबूत हैं कि इनके मध्य में लिखा गया दयानंद का भाष्य भी इन्हीं से प्रेरित था न कि किसी और से, ये सत्य ज्ञान नहीं बल्कि अंग्रेजों की वो सोच थी जिसपर अंग्रेज हमें चलाना चाहते थे ताकि भारत से पूजा पाठ धार्मिक कर्म काण्ड बंद हों और यही बात दयानंद की सोच में भी थी तो यहाँ दयानंद को अपने भाष्य लिखने के लिए अंग्रेजों से प्रेरणा मिली जिसके कारण आज तक वेदों के अर्थ का अनर्थ होता आ रहा है।

और ना जाने कब तक ऐसे ही मैक्स मुलर के भाष्यों का हिन्दी अनुवाद पढ़ पढ़कर दयानंदी लोग विद्वान बनते रहेंगे?

थियोसोफिकल सोसायटी आफॅ द आर्य समाज
(Theosophical Society of the Arya Samaj)

इतिहास साक्षी है कि जब-जब इस भारतवर्ष की अखंडता और इसकी सनातन संस्कृति को शत्रुओं ने नष्ट करने का प्रयास किया है और सफल हुए तो उसके पीछे हमारे अपने जयचंद जैसे गद्दारों की बहुत बड़ी भूमिका रही है ऐसे ही एक व्यक्ति थे स्वामी दयानंद जिनका उद्देश्य था किसी भी प्रकार से सनातन धर्म को तोड़ एक नये धर्म की स्थापना करना, परन्तु यह कार्य इतना सरल न था, क्योकि उस समय तक न तो स्वामी जी को कोई जानता ही था और न ही स्वामी जी के पास इतनी क्षमता थी कि वह अपने इस स्वप्न को पूरा कर सकें, इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि स्वामी जी द्वारा चलाया नवीन मत सभी प्राचीन मतों से भिन्न था, जिसमें स्वामी जी ने ईसाइयों की भांति सनातन कर्मकांडों का निषेध व्रत, पूजापाठ, अवतारादि का विरोध और इसके अतिरिक्त ईसाइयों की भांति स्वामी जी ने एक वेश्याधर्म चलाया जिसमें एक स्त्री पुरुष के ग्यारह पुरूष स्त्रीयों तक नियोग करने जैसा निंदित कर्म शामिल था, स्वामी जी का यह मत भारतवर्ष में व्याप्त सभी मतों से पूर्णतः भिन्न था सिवाय ईसाई मत के, यह दोनों ही मत भारत में नवीन थे, और दोनों ही मत भारत में अपने पैर पसारने के लिए एक सुनहरे अवसर की प्रतीक्षा में थे, अब क्योकि उस समय भारतवर्ष पर ईसाइयों शासकों अर्थात अंग्रेजों का राज था, और क्योंकि दयानंद

के अंग्रेजों के साथ अच्छे सम्बन्ध थे (जो थियोसोफिस्ट पत्र में छपे कुछ लेखों से सिद्ध होता है इसकी चर्चा हम आगे करेंगे) सो स्वामी जी ने अपने मत प्रचार हेतु ईसाई मिशनरीयों की सहायता लेने का निश्चय किया,

उस समय स्वामी दयानंद भारत में ईसाई मिशनरी के एकमात्र सबसे बड़े ऐजेंट के रूप में सामने आये, आश्चर्यचकित होने की आवश्यकता नही है, आप लोगों ने सही सुना स्वामी दयानंद भारत में ईसाई मिशनरी के सबसे बड़े दल्लों में से एक थे, स्वामी दयानंद न केवल थियोसोफिकल सोसायटी के अहम सदस्य थे, बल्कि थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापकों को पत्र लिखकर उन्हें भारत में लाने वाले भी दयानंद ही थे, १८७८ से लेकर अपनी मृत्यु १८८३ तक स्वामी जी ने इस ईसाई मिशनरी सभा के साथ मिलकर न केवल कार्य किया, बल्कि भारत में ईसाई धर्म के फलने फूलने के लिए पैर जमाने के लिए अच्छा खासा मंच तैयार करके दिया, स्वामी दयानंद कब और कैसे थियोसोफिकल सोसायटी के साथ जुड़े? अब आपको विस्तार में समझाते हैं,

सन् १८७५ में जब दयानंद अपने नवीन मत का प्रचार करने काशी पहुँचे, उन्हीं दिनों, मैडम हैलना पैट्रोवना ब्लैवाटस्की और कर्नल हेनरी स्टील आल्काट नामक दो ईसाई मिशनरी सभा के धर्म प्रचारक भी अपने मत प्रचार में लगे हुए थे, यह बात जब स्वामी दयानंद के कानों तक पहुंची, तो वह उनसे मिले बिना न रह सकें और मन में मिलने की इच्छा लिए उनके सम्मुख पहुंचे, स्वामी दयानंद उनके कार्यों की प्रशंसा करते हुए, उनके सामने साथ मिलकर काम करने का प्रस्ताव रखा और उन्हें मुम्बई आने का

निमंत्रण दिया, मैडम ब्लैवाटस्की और कर्नल आल्काट उनका प्रस्ताव स्वीकार कर उनके साथ मुम्बई पहुंचे, उसके कुछ समय पश्चात स्वामी दयानंद ने १० अप्रैल १८७५ में यहाँ आर्य समाज की स्थापना की, जिसके बाद दोनों वापस न्यूयॉर्क के लिए निकल गयें, न्यूयॉर्क पहुँचकर मैडम ब्लैवाटस्की और कर्नल आल्काट ने १७ नवंबर १८७५ में ईसाई मिशनरी सभा अर्थात थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की,

उसके बाद पुनः कर्नल और मैडम सन् १८७५ ई॰ की १७ वीं दिसंबर को अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर से चलकर लंदन में २ सप्ताह यापन करकें सन् १८७६ के फरवरी मास की १६ वीं तारीख को मुम्बई में आकर उपस्थित हुए, उसके पश्चात वहाँ कुछ दिन ठहर कर सहारनपुर चले गये,

(The Theosophist Vol 1. P 1., देवेन्द्रबाबु लिखित दयानंदचरित, पृष्ठ २७३)

उन दिनों स्वामी जी पंडित कृपाराम शास्त्री से भेंट करने के लिए देहरादून आये हुए थे, लेकिन जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि मैडम ब्लैवाटस्की और कर्नल आल्काट सहारनपुर आए हुए हैं तो उन्होंने तुरंत देहरादून से सहारनपुर के लिए प्रस्थान किया, मैडम और कर्नल को लेकर स्वामी जी सहारनपुर से मेरठ आए, मेरठ में उनके रहने के लिए स्वतंत्र प्रबंध हो गया, माई मास की पांचवी तारीख को कर्नल आल्काट ने छेदीलाल की कोठी में एक वक्तृता दी, इस प्रकार कई एक दिन स्वामी जी के किसी-किसी विषय में विगतसंशय होकर कर्नल और मैडम दयानंद जी की किसी बात पर

क्रोधित होकर मेरठ छोड़कर चले गए, उनके चले जाने पर दयानंद कुछ दिनों मेरठ में ही रहे, पर उन दिनों उन्होंने कोई व्याख्यान या वक्तृता नहीं दी,

उसके बाद दयानंद ने थियोसोफिकल सोसाइटी को कई पत्र लिखे, और अंत में १३ अप्रैल १८७८ में स्वामी दयानंद ने थियोसोफिकल सोसायटी को पत्र लिखकर थियोसोफिकल सोसायटी से यह निवेदन किया कि वह अपना प्रधान कार्यालय न्यूयॉर्क से मुम्बई ले आए,

उसके जबाव में थियोसोफिकल सोसायटी की तरफ से जबाव में जो पत्र आया वो आपको दिखाते है उसमें लिखा था-

The Theosophical Society, New York, May 22nd 1878.

To the Chief of the Arya Samaj.

HONOURED SIR,

You are respectfully informed that at a meeting of the Council of the Theosophical Society, held at New York on the 22nd of May 1878, the President in the chair upon motion of Vice-President A. Wilder seconded by the corressponding Secre tary H. P. Blavatsky, it was unanimously resolved that the society accept the proposal of the Arya Samaj, to unite with itself, and

that the title of this Society be changed to

" The Theosophical Society of the Arya Samaj of India. *

Resolved, that the Theosophical Society for itself and branches in America, Europe and else-where, hereby recognize Swami Dayanand Saraswati, Pandit, Founder of the Arya Samaj, as its lawful Director or Chief.

Awaiting the signification of your approval and any instructions that you may be pleased to give.

I am, honoured sir, by order of the Council,

Respectfully yours,

(Sd.) AUGUSTUS GOSTAM,

Recording Secretary

(स्त्रोत- LIFE & TEACHINGS OF SWAMI DAYANAND: Swami Dayanand and Theosphists- P. 162,163, एवं देवेन्द्रबाबु रचित 'दयानंद चरित', पृष्ठ २७५,२७६)

****

जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है-

थियोसोफिकल सोसाइटी, न्यूयॉर्क मई २२, सन् १८७८ ई•

सेवा में प्रधान आर्य समाज-

माननीय महोदय ! आपको विनयपूर्वक सूचना दी जाती है कि थियोसोफिकल सोसाइटी की कौन्सिल के एक अधिवेशन में, जो न्यूयॉर्क में २२ मई १८७८ को सामयिक प्रधान के सभापतित्व में संघटित हुई हुआ ए• वाइल्डर साहब उपसभापति के प्रस्ताव और पत्रव्यवहार कर्ता मन्त्री एच• पी• ब्लैवाटस्की के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से निर्धारित हुआ है कि यह सभा आर्य समाज के इस प्रस्ताव को कि सभा उक्त समाज के साथ मिल जावे और इस समाज का नाम परिवर्तित करके "भारतवर्षीय आर्य समाज की थियोसोफिकल सोसाइटी" रखा जावे स्वीकार करती है,

यह भी निश्चय हुआ कि थियोसोफिकल सोसाइटी अपनी और अपनी शाखाओं की ओर से जो अमेरिका, यूरोप और अन्य प्रदेशों में हैं, स्वामी दयानंद सरस्वती पंडित, संस्थापक आर्य समाज को अपना नियमानुकूल अधिनायक मानती है,

आपकी स्वीकारी की सूचना और किन्हीं सुझावों की जो आप देवें प्रतीक्षा करता हुआ"

मैं हूँ, माननीय महोदय, कौन्सिल की आज्ञानुसार

आपका

(हस्ताक्षर) आगस्टम गस्टम,

रिकॉर्डिंग सेक्रेटरी - (अनुवादक)

(स्त्रोत- LIFE & TEACHINGS OF SWAMI DAYANAND: Swami Dayanand and Theosphists- P. 162,163, एवं देवेन्द्रबाबु रचित 'दयानंद चरित', पृष्ठ २७५,२७६)

****

पत्र में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यह सभा आर्य समाज के इस प्रस्ताव को कि सभा (अर्थात थियोसोफिकल सोसाइटी) उक्त समाज (अर्थात आर्य समाज) के साथ मिल जावें और इस सभा का नाम परिवर्तित करके "Theosophical Society of the Arya Samaj" रखा जावें स्वीकार करती है,

उक्त पत्र से यह साफ हो जाता है कि किस प्रकार स्वामी जी ईसाई मिशनरी सभा से निवेदन कर रहे हैं कि आओं आर्य समाज के जमाता हमारे साथ मिल कर भारतीय सनातन संस्कृति को नष्ट करने में मेरी सहायता करें, और अपने मत का प्रचार कर नास्तिकवाद को बढ़ाने में आर्य समाज का सहयोग करें,

स्वामी दयानंद के निमंत्रण पर फरवरी १८७९ में सोसाइटी का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क से मुम्बई में लाया गया, और आर्य समाज कार्यालय का नाम बदल कर "थियोसोफिकल सोसायटी आफॅ द आर्य समाज (Theosophical Society of the Arya Samaj)" रखा गया।

उसके बाद आरंभ हुआ इनका असली खेल, आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी दोनों ने मिलकर एक साथ सनातन धर्म पर आघात किया, इसका परिणाम यह हुआ कि सनातनधर्मीयों के

बीच मतभेद उत्पन्न होने लगें, जिसका सबसे ज्यादा लाभ थियोसोफिकल सोसायटी को मिला, १८७९ से लेकर १८८३ तक दयानंद की सहायता से यह सभा (थियोसोफिकल सोसाइटी) लाखों सनातनधर्मीयों को ईसाई मत की ओर ले जाने में सफल रही,

दयानंद के लिए अंग्रेजी शासन किसी स्वर्ण युग से कम न था, उनके अनुसार उन्होंने सनातन धर्म के विरुद्ध जितना विष उगला यदि अंग्रेजों ने उनकी रक्षा न की होती तो जरूर कोई न कोई उन्हें मरवा डालता

१८८० के थियोसोफिस्ट पत्र के एक लेख में स्वामी जी बताते हैं कि "यदि अंग्रेजी राज्य न होता तो मैं जो इतनी बार फर्रूखाबाद आया, ब्राह्मण मुझे कभी जीवित न छोड़ते, किसी से मरवा डालते,

पाठकगण ! के मन में प्रश्न उठ रहा होगा कि आखिर अंग्रेजी सरकार दयानंद पर इतनी मेहरबान क्यों थी, तो इसका जबाव है- ‘डिवाइड एंड रूल’: अंग्रेज़ों की नीति "महान स्वतंत्रता सेनानी सुभाषचन्द्र बोस ने अंग्रेजों की नीति का तीन शब्दों में खुलासा करते हुए लिखा है- डिवाइड एंड रूल अर्थात फूट डालो और राज करो"

स्वामी दयानंद यही कर रहे थे, उनके नवीन मत प्रचार से सनातन धर्म में बिखराव की स्थिति उत्पन्न होने लगी थी, और अंग्रेजों की तो शुरू से यही नीति रही थी, जिसे स्वामी दयानंद ने और आसान बना दिया, स्वामी दयानंद आखिर ऐसा क्या कर रहे थे देखें-

दयानन्द सरस्वती के बारे में क्वीन्स कॉलेज के प्राचार्य रुडॉल्फ होर्नले (Rudolf Hoernley) ने यह बात लिखी—

दयानन्द हिंदुओं के मन में यह बात भर देना चाहते हैं कि आज का हिंदूधर्म, वैदिक हिन्दू धर्म के पूर्णतया विपरीत है, और जब यह बात हिन्दुओं के मन में बैठ जायेगी तो वे तुरंत हिंदूधर्म का त्याग कर देंगे; पर तब दयानन्द के लिए उन्हें वैदिक स्थिति में वापस ले जाना सम्भव न होगा, ऐसी स्थिति में हिंदुओं को एक विकल्प की खोज होगी जो उन्हें हिंदू से ईसाई धर्म की ओर ले जायेगी।

स्रोत: The Christian Intelligence, Calcutta, March 1870, p 79 and A F R H quoted in The Arya Samaj by Lajpat Rai, 1932, p 42 quoted in Western Indologists A Study in Motives.htm, Purohit Bhagavan Dutt

दयानंद की बनाईं "थियोसोफिकल सोसायटी आफॅ द आर्य समाज" इसी प्रकार कार्य करती, दयानंद हिन्दुओं के मन मे ये बात भर देते थे कि आज का हिन्दू धर्म, वैदिक हिन्दू धर्म के पूर्णतया विपरीत है, और जब यह बात हिन्दुओं के मन में बैठ जाती तो ऐसे में उनमें से कुछ तो आर्य समाज से जुड़ जाते और बाकीयों को थियोसोफिकल सोसायटी के धर्म प्रचारक ईसाई बना देते, अब क्योकि "थियोसोफिकल सोसायटी आफॅ द आर्य समाज" एक साथ काम करती थी इसलिए बदले में दयानंद को भी बिना किसी रोक टोक के भयमुक्त होकर अपना नवीन मत फैलाने हेतु ब्रिटिश सरकार का पूरा सहयोग मिलता था।

पाठकगण ! विचार करें यदि दयानंद का काम वैदिक धर्म का प्रचार ही था तो क्या दयानंद को पुरे भारतवर्ष में कहीं वैदिक लौग नहीं मिलें, जो वे ईसाइयों के सामने गिडगिडा रहे थे, आखिर दयानंद ने उस गौभक्षक ईसाई मिशनरी सभा में ऐसे कौन से वैदिक गुण देख लिए जो उन्हें सनातनधर्मीयों मे न दिखें, दरअसल स्वामी जी स्वार्थ, अंहकार और द्वैषाग्नि में इतने अंधे हो चुके थे कि अपने स्वार्थपूर्ति के लिए वो किसी भी स्तर तक गिर सकते थें वर्ना दयानंदी जबाव दें कि यदि दयानंद का मन साफ था तो उन्होंने सनातनधर्मीयों के साथ मिलकर वैदिक धर्म का प्रचार प्रसार क्यों नहीं किया? और उस गौभक्षक ईसाई मिशनरी सभा में ऐसा क्या देख लिया? जो ना तो वैदिक धर्मि थे और ना ही इस भारतभूमि के, फिर ऐसा क्या कारण था जो थियोसोफिकल सोसाइटी को भारत में बुलाने व उसका हिस्सा बनने के लिए उनकी लार टपक रही थी? ऐसा करते हुए क्या दयानंद को तनिक भी लज्जा न आई? उन्होंने एक बार भी यह नहीं सोचा की विद्वान लोग उनके बारे में क्या सोचेंगे?

आर्य समाज किस प्रकार थियोसोफिकल सोसायटी से जुड़ा हुआ था यदि यह जानना हो तो आप गूगल पर जाकर सिर्फ इतना टाइप कर दीजिए "Theosophical Society of the Arya Samaj" आपको आपकी सभी बातों का जवाब मिल जाएगा और यदि इसमें अब भी किसी प्रकार कोई संदेह रह गया हो कि दयानंद थियोसोफिकल सोसायटी के सदस्य थे या नहीं तो वो जाकर दयानंद की १८८२ में तैयार कराई वसीयत के बारे में पढे, दयानंद ने अपनी वसीयत जो कि उन्होंने मेरठ में पंजीकृत कराईं थी जिसमें

कुल १८ लोग थे जिन्हें दयानंद ने अपनी अंत्येष्टि करने तथा निजी वस्त्र, पुस्तक, मंत्रालय आदि का अधिकार दिया था उसमें थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवाटस्की का भी नाम है

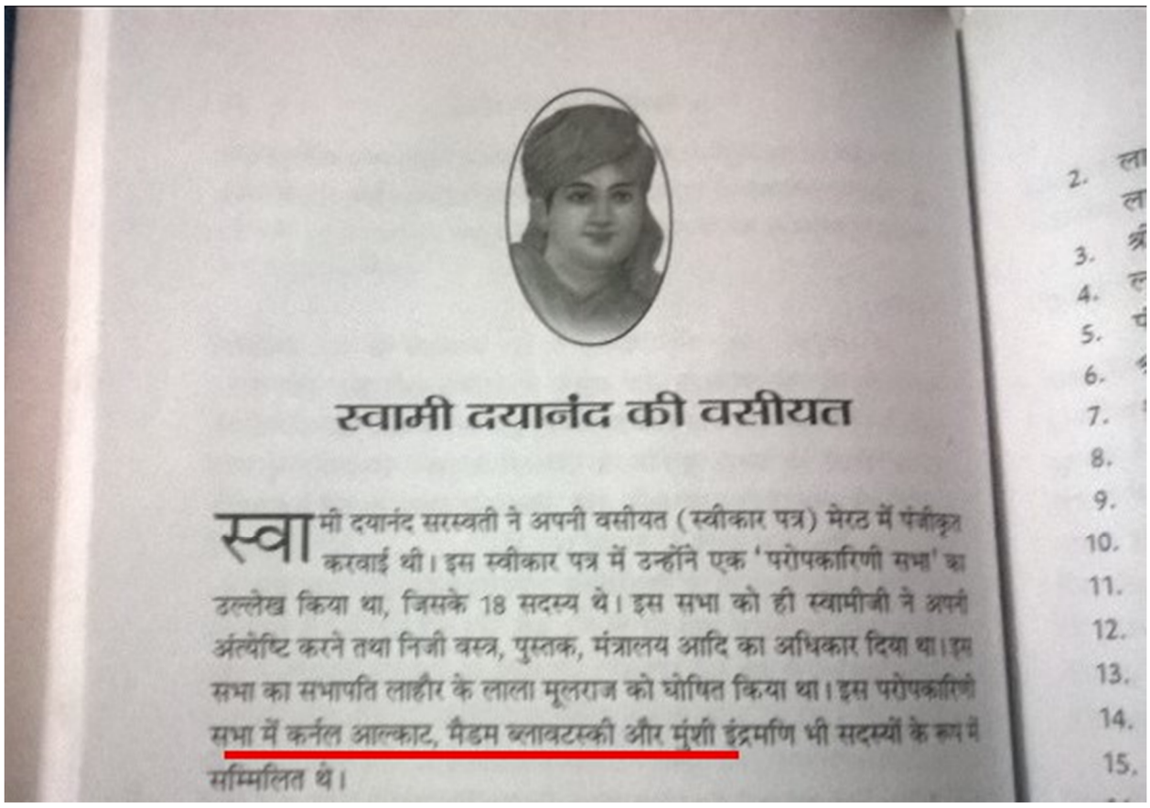

स्वामी दयानंद की वसीयत

स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी वसीयत (स्वीकार पत्र) मेरठ में पंजीकृत करवाई थी। इस स्वीकार पत्र में उन्होंने एक 'परोपकारिणी सभा' का उल्लेख किया था, जिसके 18 सदस्य थे। इस सभा को ही स्वामीजी ने अपनी अंत्येष्टि करने तथा निजी वस्त्र, पुस्तक, मंत्रालय आदि का अधिकार दिया था। इस सभा का सभापति लाहौर के लाला मूलराज को घोषित किया था। इस परोपकारिणी सभा में कर्नल आल्काट, मैडम ब्लावटस्की और मुंशी इंद्रमणि भी सदस्यों के रूप में सम्मिलित थे।

मुझे लगता है अपनी बात को सिद्ध करने के लिए अब मुझे और कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है दयानंद की ये वसीयत ही ये सिद्ध कर देती है ईसाई मिशनरीयों के साथ दयानंद के कितने अच्छे और गहरे संबंध थे जो काम ईसाई मिशनरी पिछले १५० सालों में न कर सकी दयानंद के समर्थन से मात्र ५ वर्षों मे ईसाई मिशनरी के धर्म प्रचारको ने लाखों सनातनीयों का धर्म परिवर्तन कर उन्हें ईसाई बनाया बडे आश्चर्य कि बात है कि स्वंय को वैदिक कहने वाले दयानंद को ईसाई मिशनरीयों के साथ मिलकर काम करने में तो कोई परहेज नही था पर अपने हिन्दु भाई आँखों मे खटकते थें ऐसा शायद इसलिए क्योकी स्वामी दयानंद और ईसाई

मिशनरी सभा का उद्देश्य एक ही था किसी भी प्रकार सनातन संस्कृति को पुरी तरह से समाप्त करना शायद यही कारण रहा कि दयानंद ने अपने तथाकथित ग्रंथ के प्रथम संस्करण में १८७५ से लेकर १८८३ तक केवल सनातन धर्म की ही आलोचना की है ईसाई या मुस्लिम मत के विरुद्ध एक शब्द नहीं लिखा।

ये लेख उन मूर्खों के मुहँ पर तमाचा है जो दयानंद को वैदिक धर्म का प्रचारक और हिन्दुओं का हितैषी बोलते हैं जबकि सत्य तो यह है कि दयानंद जैसा स्वार्थी, निच , कपटी और गद्दार व्यक्ति जो अपने देश, धर्म अपने भाई बंधुओं का नहीं हुआ पूरे संसार में नहीं मिलेगा जीवन पर्यन्त दयानंद का केवल एक ही उद्देश्य रहा सनातन धर्म को तोड के एक नया धर्म बनाना,

स्वामी दयानंद का काशी शास्त्रार्थ

जब काशी शास्त्रार्थ में काशी के मूर्धन्य पंडितों के अग्रणी “स्वामी श्री विशुद्धानन्द जी महाराज” ने दुराग्रही स्वामी दयानन्द को शास्त्रार्थ में धूल चटाई—

स्वामी दयानंद ने अपना तार्किक उल्लू सीधा करने के लिए एक बार काशी में शास्त्रार्थ कर के सनातन धर्म को समाप्त करके सनातन धर्म के स्थान पर आर्य समाज की स्थापना करने के लिए काशी प्रयाण किया, काशी के दिग्गज पंडितों के समाख स्वामी दयानंद का काशी शास्त्रार्थ काशी नरेश महाराज ईश्वरीनारायण सिंह की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ, इस शास्त्रार्थ के दर्श के तौर पर काशी नरेश के भाई राजकुमार वीरेश्वर नारायण सिंह, तेजसिंह वर्मा आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी उपस्थित थे, इस शास्त्रार्थ में क्या हुआ देखें–

सर्वप्रथम पं० ताराचरण तर्करत्न स्वामी जी से वाद आरम्भ करने को प्रस्तुत हुए, स्वामी दयानन्द ने प्रश्न किया यदि आप लोगों को वेदों का प्रामाण्य स्वीकार्य हो तो, वेदों में पाषाणादि मूर्तिपूजा का प्रमाण कहाँ है? प्रस्तुत करें, पं० ताराचरणजी ने वेदों की प्रामाणिकता को यथायोग्य रूप से स्वीकारते हुए भारतीय परम्परा के अनुसार वैदिक शास्त्रों से मूर्ति पूजा के प्रमाणों की झड़ियाँ लगाना शुरू किया, इस पर तिलमिलाते हुए दयानंद ने मन्त्रभाग से इतर शास्त्रों की वेदामूलकता पर प्रश्न खड़े करना शुरू कर दिया, इस पर सारे

विद्वान आश्चर्यचकित हो गए कि ये अजीब नवीन मत वाला कौन नया शास्त्रार्थी आ गया? ऐसे विप्रतिपन्न मति स्वामी दयानन्द की बुद्धि ठिकाने लगाने के लिए दयानन्द के अज्ञान दर्प का दलन करने के लिए काशी के मूर्धन्य विद्वान स्वामी विशुद्धानन्द जी ने प्रश्न किया "रचनानुपत्तेश्च नानुमानम्" इस वेदान्तसूत्र की वेदमूलकता क्या है? स्वामी दयानन्द जी निरुत्तर हो गए और लाज बचाने के लिए बोले भिन्न प्रकरण की चर्चा का कोई औचित्य नहीं है, मुझे सारे शास्त्र उपस्थित नहीं

स्वामी विशुद्धानन्द ने कहा यदि सब शास्त्र उपस्थित नहीं हैं तो शास्त्रार्थ के लिए क्यों आये?

स्वामी दयानन्द ने पूछा- क्या आपको सभी शास्त्र उपस्थित हैं? स्वामी विशुद्धानन्द जी ने सिन्हा गर्जना करते हुए कहाँ– हाँ, तब स्वामी दयानंद ने पूछा तो धर्म का लक्षण बताइयें, विशुद्धानन्द जी ने पूर्व मीमांसा दर्शन के सूत्र से स्वामी दयानंद का पुनः दर्प दलन करते हुए उत्तर दिया–

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः (अर्थात् वेद के प्रेरक वाक्य धर्म हैं),

तब तिलमिलाए स्वामी दयानन्द ने अपना रटा-रटाया उत्तर ना पाकर बोला, तुम गलत बोलते हो, धर्म के तो दस लक्षण है-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनुस्मृति)

इन दयानंद महाशय को ये भी ज्ञात नहीं था कि मनु स्मृति के धर्म लक्षणों से पूर्वमीमांसा के धर्म लक्षण का बाध नहीं होता, स्वामी दयानंद की इस मूढ़ता पर हंसते हुए स्वामी विशुद्धानन्द जी बोले–

घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा कृत्वा रासभरोहणम्।

येन -केन- प्रकारेण प्रसिद्ध : पुरुषो भवेत्॥

अर्थात् घडा फोड़कर , कपडे फाड़कर , गधे पर चढ़कर येन-केन-प्रकारेण व्यक्ति (मूर्ख) प्रसिद्ध होना चाहता है,

तब पं० बालशास्त्री जी सामने आये और स्वामी दयानन्द से धर्मशास्त्र से धर्म के लक्षणों पर प्रश्नोत्तर करने की इच्छा से चर्चा शुरू करने को उद्यत ही हुए थे कि स्वामी दयानन्द अपनी बार-बार डूब रही लुटिया बचाने के लिए उनसे अधर्म का लक्षण पूछ बैठे, जो कि सारे धर्म शास्त्र में कहीं भी वर्णित नहीं, मेधावी पंडित बालशास्त्री ने इसका भी दर्प दलन दुर्दिष्टजन्यत्वं अधर्मत्वमिति कहकर दे दिया, तब दयानंद क्या बोलते?

तब काशी के अन्यान्य पण्डितों ने स्वामी दयानन्द से पूछा- वेद में कहीं प्रतिमा शब्द नहीं है क्या? स्वामी दयानन्द ने कहा सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण में प्रतिमा शब्द का उल्लेख है- **देवतायतनानि कम्पन्ते दैवत प्रतिमा हसन्तीत्यादीनि।**

तो पंडितों ने बोला तो चिल्लाते क्यों हो कि प्रतिमा शब्द कहीं नहीं - कहीं नहीं ?? तब स्वामी दयानंद ने बोला -यहाँ प्रतिमा शब्द के उल्लेख से परमात्मा की प्रतिमा बनाकर पूजा का विधान नहीं है, पण्डितों द्वारा पूछे जाने पर स्वामी जी ने उक्त प्रकरण के मन्त्रों का अर्थ पर कहा कि यहाँ अद्भुत शान्ति प्रकरण की चर्चा है, स्वामी

दयानन्द ने पंडित बालशास्त्री जी से पूछा कि आप बताएं कि आपके मत में यहाँ विघ्न दर्शयिता कौन है? बालशास्त्री ने उत्तर दिया इन्द्रियॉ, स्वामी दयानंद ने कहा कि इन्द्रियॉ देखने वाली हैं न कि दिखाने वाली, बालशास्त्री जी ऐसे बड़बोले धूर्त मति से क्या बोलते जिसको ये भी ना मालूम हो कि इन्द्रियों से ही विघ्नों की प्रतीति की जाती है,

स्वामी विशुद्धानन्द जी ने स्वामी दयानन्द जी से पूछा- जैसे मन और सूर्य में ब्रह्मबुद्धि करके उपासना करे, इससे प्रतीकोपासना कही है ; ठीक वैसे ही शालिग्राम पूजन का ग्रहण क्यों नहीं करना चाहिए,

स्वामी दयानंद ने कहा– जैसे मनो ब्रह्मेत्युपासीत इत्यादि कहा है, वैसे पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीत– ऐसा नहीं कहा है, पुनः पाषाणादि का ग्रहण क्यों किया जाय ? सारे पंडित दयानंद की मूर्खता पर हंसने लगे क्योंकि एक ओर तो दयानंद मन (जड़ तत्व) की प्रतीकोपासना का विधान स्वयं स्वीकृत कर रहे हैं और दूसरी ओर उसी का अपने तर्क से निषेध भी!

तब पण्डित माधवाचार्य ने पूछा – 'पुराण' शब्द कहीं वेदों में है वा नहीं? तब स्वामी जी ने कहा – अनेकत्र है किन्तु भूतकालवाची विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । **'ब्राह्मणानीतिहासपुराणानि'** यहाँ भी पुराना सनातन ब्राह्मण इत्यादि अर्थ ही अभिप्रेत हैं न कि ब्रह्मवैवर्त्त आदि, जबकि अथर्ववेद के **ऋचः सामानिच्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह०** इस उच्छिष्ट ब्रह्म सूक्त में पुराण शब्द बिना विशेषण के स्पष्ट प्रयोग हुआ है जो कि धूर्त्त स्वामी दयानंद ने उद्धृत न किया, मुद्दा भटकाने के लिए स्वामी दयानन्द ने पंडित बालशास्त्री से पूछा

व्याकरण में कल्म संज्ञा किसकी है? मेधावी पंडित श्री बालशास्त्री जी ने बता दिया कि महाभाष्य के अमुक स्थल पर अमुक रूप में इसकी चर्चा है, तब माधवाचार्य ने दो पत्रे निकाल कर पण्डितों के बीच फेंक दिये, जिस पर लिखा था– यज्ञ समाप्ति पर दशम दिवस में पुराण पाठ सुने,

पण्डितों ने पूछा– यहाँ पुराण शब्द का क्या अर्थ है? तब स्वामी दयानंद ने कहा- पुराना विद्या– वेदविद्या ब्रह्मविद्या का ग्रहण करना चाहिए– यही अभिप्राय है अन्यथा यहाँ ब्रह्मवैवर्त्त आदि का नाम लिखा होता, पुराण शब्द से पुरानी ब्रह्म विद्या अर्थ करने वाले दयानंद की अल्पज्ञता जगजाहिर थी क्योंकि ब्रह्म विद्या तो ब्रह्मविद्या है , वो नयी क्या और पुरानी क्या? ऐसी कोई भी “पुरानी ब्रह्मविद्या” नहीं जिसका कर्मकाण्ड में पाठ किया जाता हो तथैव पौराणिक सिद्धान्त के अनुसार एक ही “पुराण” १८ स्वरूपों में महर्षि वेदव्यास द्वारा संकलित है तथा इस प्रकार १८ पुराणों का द्योतक है , जिनके १८ उप तथा औप इस प्रकार ५४ प्रकार निर्दिष्ट हैं, उन ५४ नामों का इतना लंबा कथन सूत्र में किया जाए तो सूत्र की सूत्रात्मकता क्या रही? एक बालक भी आसानी से ये तथ्य समझ सकता है, इस प्रकार पुराण शब्द के ब्रह्मवैवर्त्तादि नाम व्याख्यायित ना होने पर अस्वीकार रूप असद् हेतु की यथार्थता स्पष्ट है | ऐसे मूर्खों की चले तो ब्रह्मसूत्र के स्मृतेश्च आदि सूत्रों पर न जाने मन्वादि स्मृतियों का क्या हाल करेंगे! खैर!

इस पर विशुद्धानन्द जी आदि ने अपना अमूल्य समय ऐसे व्यर्थ दुराग्रह युक्त प्रलापकारी धूर्त के चक्कर में नष्ट करना व्यर्थ है, ये सिद्ध कर लिया, यहाँ विलम्ब हो रहा है, चलते हैं, ऐसा कहकर हर

हर महादेव और सनातन धर्म के विजय उद्घोषों के साथ उठना शुरू कर दिया, काशी नरेश श्री ईश्वरी नारायण सिंह ने भी स्पष्ट निर्णय दिया कि– ये दयानन्द धूर्त है अतः आप पंडित गण इसके उठाये प्रसंग पर खण्डन -मंडन के ग्रन्थ बनाइये, सभी पण्डितों एवं उनके अनुयायियों ने हर हर महादेव का विजयी उद्घोष से स्वामी दयानन्द को धोबी पछाड़ हार का स्वाद चखाकर यथास्थान प्रस्थान किया, अनन्तर शास्त्रार्थ के मध्यस्थ काशी नरेश की आज्ञानुसार "दयानन्द पराभूति'' एवं "दुर्जनमुखमर्दन" नामक दो पुस्तकें प्रकाशित कर स्वामी दयानन्द की यथार्थता को जगजाहिर किया, साथ ही पंडित बालशास्त्री जी के हस्ताक्षर युक्त विज्ञापनों से भी इस यथार्थता को जन- सामान्य को सप्रमाण अवगत भी करा दिया गया, परन्तु स्वामी दयानन्द तब भी ना सुधरे! इसी परम्परा के अनुसार स्वामी दयानंद के चेले आर्य समाजियों (अनार्य नमाजियों) का भी ये इतिहास है कि कुत्ते की पूंछ भी कदाचित् सीधी हो जाए किन्तु ये नवार्य नियोगी नमाजी बार-बार मुंह की खाकर भी नहीं सुधरते!

सत्यार्थ प्रकाश अन्तर्गत भूमिका की समीक्षा

सत्यार्थ प्रकाश अन्तर्गत भूमिका की समीक्षा

(सत्यार्थ प्रकाश) भूमिका पृष्ठ, १

❝जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था, उस समय और उस से पूर्व संस्कृतभाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझ को इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी, अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है, इसलिए इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है, कहीं-कहीं शब्द, वाक्य रचना का भेद हुआ है सो करना उचित था, क्योंकि इसके भेद किए विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी, परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है, हाँ, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल शोधकर ठीक-ठीक कर दी गई है❞

समीक्षा-- भूमिका में छपे इस लेखानुसार, जब दयानंद ने यह सत्यार्थ प्रकाश बनाया उस समय तक पठन-पाठन में संस्कृत बोलने, और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण उन्हें हिन्दी भाषा की सही समझ नहीं थी, इस कारण भाषा अशुद्ध बन गई थीं, अब यदि भूमिका में छपे इस लेख को सत्य मानें तो, समाजी अपने ही बनाए झूठ के जाल में फंसते चलें जाते हैं, और इस प्रकार एक के बाद एक कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं, जैसे-

प्रश्न १• भूमिका में छपें इस लेखानुसार विदित होता है कि इससे पहले का जो सत्यार्थ प्रकाश है, वो गुजराती भाषा मिश्रित है,

परन्तु इसमें कोई भी गुजराती भाषा का शब्द दिखाई नहीं पड़ता, क्यों?

प्रश्न २• यहाँ यह भी विचारणीय है कि यह कौन सी बुद्धिमानी की बात है कि कोई व्यक्ति उस भाषा में पुस्तक लिखता है, जिस भाषा का उसे समुचित ज्ञान न हो, कोई भी व्यक्ति यदि कोई पुस्तक लिखता है तो उसी भाषा में जिसे वो अच्छी प्रकार से लिख, बोल और समझ सकें, और जहाँ तक 'सत्यार्थ प्रकाश' की बात है तो दयानंद 'सत्यार्थ प्रकाश' गुजराती अथवा संस्कृत में लिखकर भी उसका हिन्दी रूपांतरण करवा सकते थे, फिर दयानंद ने ऐसा क्यों नहीं किया? यह जानते हुए भी कि उन्हें हिन्दी भाषा का शुद्ध ज्ञान नहीं फिर भी हिन्दी में ही लिखना जारी रखा क्यों?

प्रश्न ३• यहाँ यह भी विचारणीय है कि 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखने का कार्य दयानंद द्वारा नहीं बल्कि काशी नरेश राजा जयकृष्णदास द्वारा लेखन कार्य के लिए नियुक्त पंडित चन्द्रशेखर द्वारा हुआ, जो हिन्दी और संस्कृत दोनों ही भाषाओं के बडे अच्छे विद्वान थे, फिर भाषा का अशुद्ध होना कैसे संभव है? अर्थात दयानंद झूठ बोल रहे हैं

प्रश्न ४• दयानंद के लेखानुसार अब यह वाला सत्यार्थ प्रकाश सम्पूर्ण ही शुद्ध हैं, और आर्य समाज के मतानुसार 'सत्यार्थ प्रकाश' का यह संस्करण १८८२ में तैयार हुआ, अब क्योकि इसके बनाने से पूर्व न तो दयानंद को शुद्ध बोलना ही आता था और न ही शुद्ध लिखना आता था, इससे यह भी सिद्ध होता है, कि इस 'सत्यार्थ प्रकाश' से पूर्व रचित 'वेदभाष्यभूमिका' और 'यजुर्वेदभाष्य' आदि की भाषा भी अशुद्ध होगी, क्योकि शुद्ध भाषा का ज्ञान तो स्वामी जी को इस 'सत्यार्थ प्रकाश' को लिखने

के समय हुआ है, अर्थात इससे पूर्व रचित 'वेदभाष्यभूमिका' और 'यजुर्वेदभाष्य' आदि की भाषा भी अशुद्ध होगी,

प्रश्न ५• अन्तिम और सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न, दयानंदी बताए कि 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम संस्करण में दयानंद ने ऐसा क्या लिखा था? जिस कारण इसमें संशोधन कर 'सत्यार्थ प्रकाश' दोबारा छापनी पडी? क्योकि दयानंद ने तो सत्यार्थ प्रकाश दोबारा छपवाने का कारण उसमें लिखा 'मृतको का श्राद्ध' और 'पशुयज्ञ' का होना बताया है,

दयानंद अपने वेदभाष्य के दूसरे अंक में एक विज्ञापन देकर कारण बताते हैं कि- "सत्यार्थ प्रकाश में मृतकों का श्राद्ध और पशुयज्ञ लिखने और शोधने वालों की गलती से छप गया है इसलिए अब यह दुसरा सत्यार्थ प्रकाश तैयार किया जा रहा है, इसमें जो कुछ कहा है वह बहुत कुछ समझकर वेदानुसार ही कहा है" फिर भूमिका में इन बातों का जिक्र क्यों नहीं किया गया?

जो लोग सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण की अशुद्धि का कारण नहीं जानते, उन्हें यह पता होना चाहिए कि सत्यार्थ प्रकाश की अशुद्धि का कारण क्या था? क्यों उसमें संशोधन कर सत्यार्थ प्रकाश दोबारा छपवाया गया, देखिये--

सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण पृष्ठ संख्या ४५, में प्रातः साय मांसादि से होम करना लिखा है,

पृष्ठ १४८ में गाय की गधि से तुलना करते हुए लिखा है कि गाय तो पशु है सो पशु की क्या पुजा करना उचित है ? कभी नहीं किन्तु उसकी तो यही पुजा है कि घास जल इत्यादि से उसकी रक्षा करना सो भी दुग्धादिक प्रयोजन के वास्ते अन्यथा नहीं,

पृष्ठ १४६ में लिखा है कि मांस के पिण्ड देने में तो कुछ पाप नहीं,

पृष्ठ संख्या १७२ में लिखा है कि यज्ञ के वास्ते जो पशुओं की हिंसा है सो विधिपूर्वक हनन है,

पृष्ठ संख्या ३०२ में है कि कोई भी मांस न खाएँ तो जानवर, पक्षि, मत्स्य और जल इतने है, की उनसे शत सहस्र गुने हो जाएं, फिर मनुष्यों को मारने लगें और खेतों में धान्य ही न होने पावे फिर सब मनुष्यों की आजीविका नष्ट होने से सब मनुष्य नष्ट हो जाएं,

पृष्ठ ३०३ में लिखा है कि जहाँ जहाँ गोमेधादिक लिखे हैं वहाँ वहाँ पशुओं में नरों का मारना लिखा है और एक बैल से हजारों गैया गर्भवती होती है, इससे हानि भी नहीं होती और जो बन्ध्या गाय होती है उसको भी योमेघ में मारना क्योकि बन्ध्या गाय से दुग्ध और वत्सादिको की उत्पत्ति होती नहीं,

पृष्ठ ३६६ में लिखा है कि पशुओं को मारने में थोड़ा सा दु:ख होता हैं परन्तु यश में चराचर का अत्यन्त उपकार होता है,

निम्न लेख को पढ़कर विद्वान लोग सम्यक् समझ सकते हैं कि दयानंद जी धर्म के फैलाने वाले थे या फिर अधर्म के...

और उसी सत्यार्थ प्रकाश के पृष्ठ ४२ और ४३ में स्पष्ट मृतकों का श्राद्ध करना लिखा है

पृष्ठ ४७ और ४८ पर मृतकों के श्राद्ध करने के लाभ विस्तार पूर्वक लिखें हैं,

इसके उपरांत जब दयानंद मृतकों के श्राद्ध का खंडन करने लगे तो लोगों ने उनपर आक्षेप किया कि आप ही न सत्यार्थ प्रकाश में मृतकों का श्राद्ध लिखा और अब अपने ही विरुद्ध खंडन करते हैं ऐसे पुरुष का क्या प्रमाण?

उसके पश्चात दयानंद ने वेदभाष्य के दूसरे अंक में यह विज्ञापन दिया कि सत्यार्थ प्रकाश में मृतकों का श्राद्ध और पशुयज्ञ लिखने और शोधने वालों की गलती से छप गया है इसलिए अब यह दुसरा सत्यार्थ प्रकाश तैयार किया जा रहा है, इसमें जो कुछ कहा है वह बहुत कुछ समझकर वेदानुसार ही कहा है

अब बुद्धिमान लोग स्वयं विचार करें, क्या दर्जनों पृष्ठ का लेख लिखने और शोधने वालों के भूल से हो सकता है? कदापि नहीं!

और दयानंद को ऐसा झूठा विज्ञापन छपवाते लज्जा न आई और ध्यान ने हुआ कि विद्वान लोग उन्हें क्या कहेंगे?

उक्त प्रमाणों द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि 'सत्यार्थ प्रकाश' द्वितीय संस्करण की यह भूमिका पूर्णतया फर्जी है, जो केवल मूल विषयों से ध्यान भटकने, दयानंद की गलतियों पर पर्दा डालने एवं लोगों को भ्रमित करने के लिए तैयार की गई है,

झूठ बोलना, और असत्य का प्रचार तो आर्य समाज के DNA में है,

पाठकगण! विचार करें जिस सत्यार्थ प्रकाश के आरंभ से पहले ही असत्य प्रचार आरंभ हो गया, जिसकी नींव ही मिथ्या प्रचार, नास्तिकता और धर्मविरोध पर आधारित है, वह सत्यार्थ प्रकाश लोगों के लिए कितनी लाभकारी और कितनी हानिकारक सिद्ध होगी, विद्वान लोग इसका अनुमान लगा सकते हैं

द्वितीय खंड
सत्यार्थ प्रकाश की समीक्षा

यस्माज्जातम जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते।

येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः॥

सत्यार्थप्रकाशान्तर्गतप्रथमसमुल्लासस्य खंडनंप्रारभ्यते

सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास पृष्ठ, ९

❝ ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्य मा।

शन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।

त्वामेव प्रत्यक्षं बह्म्र वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु।

अवतु माम् अवतु वक्तारम्। ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः॥१॥

अर्थ-(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक (ओ३म्) समुदाय हुआ है, इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं जैसे-अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि, मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है, उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रें में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं❞

समीक्षा-- यह अर्थ स्वामी जी के घर का है जो उन्होंने भर लौटा भंग पीने के बाद किया हैं स्वामी जी ने तो ठान रखा है कि इस पुस्तक के माध्यम से उन्हें केवल मिथ्या भाषण ही करना है किसी को कुछ ठीक ठीक नहीं बताना, वर्ना उनका मत दूसरों से भिन्न कैसे मालूम होगा, देखिये सही अर्थ यह है-

ॐ शं नः मित्रः शं वरुणः। शं नः भवतु अर्यमा। शं नः इन्द्रः बृहस्पतिः। शं नः विष्णुः उरुक्रमः। नमः ब्रह्मणे। नमः ते वायो। त्वम् एव प्रत्यक्षं बह्म असि। त्वाम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तत् माम् अवतु। तत् वक्तारम् अवतु। अवतु माम। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः। ~कृष्ण यजुर्वेद- [तैत्तिरीय उपनिषद्] (शिक्षा बल्ली, प्रथम अनुवाक)

अर्थ- प्राण वृत्ति का और दिवस का अभिमानी देवता जो मित्र सो हमारे लिए कल्याणकारी हो, अपान वृत्ति का और रात्रि का अभिमानी देवता जो वरुण सो हमारे लिए कल्याणकारी हो, चक्षुविषये वा सूर्यविषये अभिमानी जो अर्यमा सो हमारा कल्याण करें बलविषये अभिमानी जो इन्द्र और वाणी और बुद्धिविषये अभिमानी जो वृहस्पति सो हमारा कल्याण करें, उरुक्रम वलिराजा से तीन पाद की याचना से सर्व राज्य के ग्रहण अर्थ विश्वरूप धार के विस्तीर्ण पाद के क्रमवाला और पादन का अभिमानी जो विष्णु सो हमारा कल्याण करें, ब्रह्मरुप जो वायु है उसके अर्थ नमस्कार है, तू ही चक्षु आदि की अपेक्षा करके बाह्य समीप और अन्तराय से रहित प्रत्यक्ष ब्रह्म है इस कारण में तुझेही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहता हूँ और जैसे शास्त्रों मे कहा है और जैसे करने को योग्य है ऐसा बुद्धिविषे सम्यक् निश्चय किया जो अर्थ सो ऋत कहता है सो वो तेरे आधिन है इससे तुझे ऋत कहता हूँ वाणी और शरीर से सम्पादन हुआ जो सत्य है सो भी तेरे आधिन हैं इस कारण तुझे सत्य कहता हूँ सो सर्वात्मा वायु नाम ईश्वर मेरी रक्षा करें, वह वक्ता की रक्षा करें, मेरी रक्षा करें, ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः , तीन बार शांति करने से आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधिदैविक रूप जो विद्या की प्राप्तिविषे विघ्न है उसकी निवृत्ति के अर्थ है

यह इसका अर्थ है और दयानंद ने अपने सत्यार्थ प्रकाश में इसका अन्यथा व्याख्यान किया है, इससे ही दयानंद की बुद्धि का पता चलता है, अब आते है ॐकार प्रकरण पर

दयानंद लिखते हैं कि--

“(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक (ओ३म्) समुदाय हुआ है, इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं जैसे- अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि, मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है, उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रें में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं ”

समीक्षा-- दयानंद की वेदज्ञता तो इस ॐकार के अर्थ निरुपण से ही ज्ञात हो जाती है, ध्यान देने वाली बात है कि प्रणव की व्याख्या अन्नत प्रकार से वेदादि शास्त्रों में प्रसिद्ध है परन्तु दयानंद ने अपने अर्थ की पुष्टि में एक भी प्रमाण नहीं दिया, जिससे दयानंद द्वारा लिखें उक्त अर्थ सिद्ध होते हो, भला वह कौन सा मंत्र है जिसमें दयानंद के लिखें उक्त अर्थ लिखें है ॐकार के ऐसे अर्थ का प्रतिपादक मंत्र न वेद, न पुराण, न ब्राह्मण और न हि उपनिषदादि किसी एक में भी नही मिलने का...

देखिये ऋग्वेद में इस प्रकार कथन है-

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिदेवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तन्न वेद किमचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

~ऋग्वेद १/१६४/३९

इति विदुषः उपदिशति कतमत्तदेतदक्षरमोमित्येषा वागिति शाकपूणिर्ऋचोह्मक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेष्वेतद्धवा एतदक्षरं यत्सर्वो त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति च ब्राह्मणम् निरूक्त १३/१०, परिशिष्टे प्र० भाष्यम् कतमत् तदक्षरम् इति ॐम् इत्येषा वाक् इति शाकपूणे: अभिप्राय: ॐकारमृतेन ह्मर्चयन्ति तस्या अक्षरे परमे व्योमन् व्योम विविधमस्मिन् शब्दजातमोतमिति व्योम तस्मिन् तिसृपु मात्रासु अकारोकारमकारलक्षणासूपशान्तासु यदवशिप्यते तदक्षरं परमं व्योम शब्दसामान्यमभिव्यक्तमित्यभिप्राय: यस्मिन्देवाः अधिनिषिण्णाः सर्वे ऋगादिषु ये देवाः ते मन्त्रद्वारेणाक्षरे निषण्णाः तस्य शब्दकारणत्वात् अथवा प्रथमायां मात्रायां पृथिवी आग्नेः ऋग्वेदः पृथिवीलोकानिवासिन इत्येवं द्वितीयायां मात्रायां अन्तरिक्षम् वायु: यजूंषि तलृकनिवासिनी जना इति तृतीयायां मात्रायां द्यौ: अद्वित्यः सामानि तलृकनिवासिनी जना इति विज्ञायते ही ॐकार एवेदं सर्वम् इति य स्तन्न वेद अनया विभूत्याक्षरम् किमसौ ऋचा ऋगादिभिमैत्रैः करिष्यति यस्तम्राक्षरात्मना पश्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते इति विदुष उपदिशति ते हि तत्परिज्ञानात् तान्द्राव्यमुपगताः प्रणवविग्रहमात्मानमनुप्रविश्य समीकृता निर्वान्ति शान्ताचिषं इवानला इति

भावार्थ- अविनाशी ऋचाएं परमव्योम से भरी हुई हैं, उसमें सम्पूर्ण देव शक्तियों का वास है, जो इस तथ्य को नहीं जानता (उसके लिए) ऋचा क्या करेगी? और जो इस तथ्य को जानते हैं वे इस ऋचा का सदुपयोग कर लेते हैं, इस मंत्र का व्याख्यान ॐकारपरत्व, आदित्यपरत्व तथा आत्मतत्व परता उसमें से प्रथम शाकपूणि नामक निरुक्तकार के मत से ॐकारपरता निर्णय करते हैं

(प्रश्न) जिस परम व्योम संज्ञक अक्षर मे देवादि स्थित हैं वह अक्षर कौन है?

(उत्तर) ॐ यह वाक् नाम शब्द परम उत्कृष्ट (व्योमन्) नाम सर्व की रक्षा करने वाला जो ॐकार उसमें ही सम्पूर्ण ऋग्वेदादि मंत्र अध्ययन किये जाते हैं और नाना जो देवता हैं वे सर्व मंत्रों में स्थित है, और मंत्रों में कारण होने से यह अक्षर व्याप्त है, क्योकि सर्व वेद त्रयी विद्या के प्रति ये अक्षर व्याप्त है ऐसे ब्राह्मण भी प्रतिपाद नहीं करता है, भाव यह है ओंकार के बिना ऋगादि मंत्रों का उच्चारण नहीं होता इससे व्योम संज्ञक जो अक्षर हैं उसमें नानाविध शब्द समूह स्थित है,

(प्रश्न) मंत्र तथा ओंकार शब्दरूप है इससे यह दोनों आकाश में स्थित है यावत शब्द समूह ओंकार में स्थित कैसे कहते हो?

(उत्तर) ओंकार नाम यहां अकारादि मात्रा के शान्त होते जो परिशेष रहता है शब्द सामान्य व्योम नामक अक्षर उसका है, इससे उस अक्षर शब्द सामान्य नादरूप ॐकार में यावत् मंत्र स्थित है, और जिसमें सर्व देवता स्थित है, क्योकि मंत्रों में देवता स्थित हैं और मंत्र पूर्वोक्त नाद नामक अक्षर में स्थित है, इससे मंत्र द्वारा यावत् देवता भी मंत्र में स्थित है, अथवा प्रथम मात्रा में पृथ्वीलोक, अग्नि, ऋग्वेद और पृथ्वीलोक निवासी जन स्थित है, और द्वितीय मात्रा में अन्तरिक्ष, वायु, यजुमंत्र और अन्तरिक्षलोक निवासी जन स्थित है, और तृतीया मात्रा में द्यौलोक, आदित्य, साम मंत्र और स्वर्गलोक निवासी जन स्थित है, इस कारण मांडूक्य उपनिषद में **(ॐकार एवेदं सर्व)** यह कहा है, जो इस विभूति सहित अक्षर को नहीं जानता वो ऋगादि मंत्रों से क्या करेगा? अर्थात बिना ॐकार के जाने और उसके अर्थ जाने उसे वेद मंत्र फल नहीं देंगे, और जो पुरूष उक्त रूप नाद विभूति

सहित अक्षर को जानते हैं, वे मनुष्य **(समासते)** प्रणव ज्ञान से अक्षर भाव को प्राप्त हुए अपने आत्मा को प्रणवरूप निश्चय करके प्रणव में प्रविष्ट होकर समता को प्राप्त हो शान्त ज्वाला अग्निवत् **(निर्वान्ति नाम निर्वाणपदं मोक्षं प्राप्तवन्ति)** निर्वाण अर्थात मुक्त होते है, आदित्य पक्ष में यह अर्थ है कि जिस व्योमरूप परम अक्षररूप आदित्य में सब देवता स्थित है, मंत्र द्वारा उस आदित्य को जो नहीं जानते वे ऋगादि मंत्रों का क्या करेंगे? जो इस नाम एवं उस आदित्य को जानते हैं वे मनुष्य ही विद्वज्जन भूमि में सुख पूर्वक रोगादि रहित भोग सम्पन्न चिरकाल जीते हैं, मांडूक्य उपनिषद में इस प्रकार कथन है सुनिए-

ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।

यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥मांडूक्योपनिषत्-१॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥मांडूक्योपनिषत्- ८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥मांडूक्योपनिषत् ९॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिम् समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥मांडूक्योपनिषत् १०॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥मांडूक्योपनिषत् ११॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥मांडूक्योपनिषत् १२॥

अर्थ- ॐकार अविनाशी ब्रह्म है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है, भूत, भविष्यत्, वर्तमान

आदि तीनों कालों वाला यह संसार ॐकार ही है,और तीनों कालों से परे भी जो अन्य तत्व है वह ॐकार ही है, जो वाच्य की प्रधानता वाला ॐकार चारों पाद वाला आत्मा है ऐसा पुर्व व्याख्यान किया है यथा **(सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्)** सर्व (कारण और कार्य) ही यह ब्रह्म है सर्व जो ॐकार मात्रा है ऐसा श्रुति ने कहा है सो यह ब्रह्म है यह आत्मा ब्रह्म है, सो यह आत्मा ही अक्षर दृष्टि से ॐकार है, वह मात्राओं का विषय करके स्थित है, यह आत्मा अध्यक्षर है, अक्षर का आश्रय लेकर जिसका अभिधान (वाचक) की प्रधानता से वर्णन किया जाए उसे अध्यक्षर कहते हैं, यह आत्मा चार पादवाला है, आत्मा के जो पाद हैं वे ॐकार की मात्रा है और ॐकार की जो मात्रा है वे आत्मा के पद है 'अकार' 'उकार' और 'मकार' यह तीन ॐकार की मात्रा है

ॐकार की प्रथम मात्रा 'अकार' व्याप्त होने पर आदि होने के कारण जागरित स्थानरूप वैश्वानर नामक प्रथम चरण है, जिस प्रकार अकार नामक अक्षर अदिमान् है उसी प्रकार वैश्वानर भी है, उसी समानता के कारण वैश्वानर की अकार रूपता है, अकार निश्चय ही सम्पूर्ण वाणी है श्रुति के अनुसार अकार से समस्त वाणी व्याप्त है।

ॐकार की दूसरी मात्रा 'उकार' श्रेष्ठ होने और द्विभावात्मक होने के कारण स्वप्न स्थान रूपतैजस नामक दूसरा चरण है, उत्कर्ष के कारण जिस प्रकार अकार से उकार उत्कृष्ट-सा है उसी प्रकार विश्व से तैजस उत्कृष्ट है, जिस प्रकार उकार अकार और मकार के मध्य स्थित है उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञ के मध्य तैजस है, सुषुप्ति जिसका स्थान है वह प्राज्ञ मान और लय के कारण ॐकार की तीसरी मात्रा मकार है, मापक और विलीन

करने वाली होने से सुषुप्त स्थान वाला प्राज्ञ नामक तृतीया चरण है, जिस प्रकार ओङ्कार का उच्चारण करने पर अकार और उकार अन्तिम अक्षर में एकीभूत हो जाते हैं उसी प्रकार सुषुप्ति के समय विश्व और तैजस प्राज्ञ में लीन हो जाते हैं।

अमात्र अर्थात मात्रा रहित ॐकार अव्यवहार्य, प्रपंचातीत एवं कल्याण रूप है यही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है, जो इस प्रकार जानता है वह आत्मज्ञानी आत्मा के द्वारा ही परब्रह्म में लीन हो जाता है

इस प्रकार और भी उपनिषदों में वर्णन है--

उपुरस्ताद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।

रहस्यं ब्रह्मविद्याया धृताग्निं संप्रचक्षते॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।

शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानकालत्रयं तथा॥

तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः।

तिस्रो मात्रार्धमात्रा च प्रत्यक्षस्य शिवस्य तत्॥

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च।

अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः॥

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।

विष्णुश्च भगवान् देव उकारः परिकीर्तितः॥

सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च।

ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः॥

सूर्यमण्डलमाभाति ह्यकारश्चन्द्रमध्यगः।

उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः।

मकारश्चाग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।

तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्नितेजसः॥

शिखा च दीपसंकाशा यमित्नु परिवर्तते।

अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता॥

उक्त श्रुतियों से भी सिद्ध होता है कि अमात्र अर्थात मात्रा रहित एक अक्षर ॐकार ही ईश्वर का सर्वोत्तम नाम है,

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ८/१३ मे भी स्वंय भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि-

ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

~श्रीमद्भगवद्गीता {८/१३}

भावार्थ : जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ ब्रह्म का चिंतन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है॥१३॥

परन्तु दयानंद का यह किया (कल्पित) अर्थ किसी भी ग्रंथ के अनुसार नहीं है इसलिए सत्यार्थ प्रकाश में यह ओङ्कार का अर्थ मिथ्या जानना ही बुद्धिमानों को उचित है।

सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास पृष्ठ, १०

❝ स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।

स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः॥७॥ ~कैवल्य उपनिषत्

भावर्थ : सब जगत् के बनाने से 'ब्रह्मा', सर्वत्र व्यापक होने से 'विष्णु', दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से 'रुद्र', मंगलमय और सब का कल्याणकर्त्ता होने से 'शिव',

जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी, स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रलय में सब का काल और काल का भी काल है, इसलिए परमेश्वर का नाम 'कालाग्नि' है ❞

फिर आगे पृष्ठ, १३ पर लिखा है कि--

❝इसलिए सब मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की, वैसे हम सब को करना योग्य है❞

समीक्षा-- धन्य है स्वामी जी धूर्त हो तो आपके जैसा, बड़े बड़े धूर्त देखें परन्तु आपके समान दूजा नहीं देखा, कहाँ तो आप दस ही उपनिषद मानते थे, और आज मतलब पड़ा तो ग्यारह वाँ कैवल्य भी मान बैठे और प्रमाण के साथ ब्रह्मा, विष्णु और शिव को ईश्वर बताया, और अब यहाँ उन्हें पूर्वज विद्वान बता दिया, आपकी बुद्धि का पता तो यही चल जाता है, इसमें कोई प्रमाण तो दे दिया होता की यह मनुष्य थे, यदि प्रमाण नहीं मिला तो कोई उल्टी सीधी संस्कृत ही गढ़ लिए होते, आपके मंदबुद्धि नियोगी चेले उसे भी पत्थर की लकीर समझ लेते, यह आपको ही योग्य है कि ब्रह्मादिक नाम ईश्वर के बताकर फिर उन्हें पूर्वज विद्वान बता दिया और तो और यह अर्थ भी आपका अशुद्ध है, सही अर्थ इस प्रकार है देखिए--

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।

स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः॥ ~कैवल्य उपनिषत्

अर्थ- वो ब्रह्मारूप हो जगत की रचना करता, विष्णु रूप हो पालन करता, रूद्ररूप हो दुष्टों को कर्मफल भुगाकर रूलाता शिव ही मंगल करता है वो ही स्वराट इन्द्र चन्द्रमा है, और कालाग्निरूप धारण कर प्रलय करता है

यह सब देवता उसी के रूप है, नहीं तो बताइये की आप यहाँ किन ब्रह्मा, विष्णु और महादेव की बात कर रहे हैं, यह तीनों विद्वान किनके पुत्र थे? जो कहो की स्वयं उत्पन्न हो गए तो आपका सृष्टि क्रम जाता रहेगा कि बिना माता, पिता के कोई मनुष्य उत्पन्न नहीं होता, यही तो आपके भंग की तरंग है जो आत्मचरित में लिखा है कि मुझे भंग पीने की ऐसी आदत थी कि कभी-कभी तो उसके कारण मैं सर्वथा बेहोश हो जाया करता था, और फिर दूसरे दिन ही होश हो पाता था।

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ १७

“आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।

ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ ~मनु (१/१०)

जल और जीवों का नाम नारा है, वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं, जिसका इसलिए सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम ‘नारायण’ है”

समीक्षा-- आपका यह अर्थ भी अशुद्ध है सही अर्थ इस प्रकार है-"अप्त तत्व का एक नाम 'नार' है, क्योकि वह नर अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म की ब्रह्मा रूप में उत्पत्ति इसी 'नार' से हुई, इसलिए परमात्मा का एक नाम 'नारायण' है,

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, १८ में लिखते है कि-

❝(गृ शब्दे) इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। 'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः' 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'।योग०। जो सत्यधर्मप्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'गुरु' है❞

समीक्षा-- "ब्रह्मादि गुरूओं का भी गुरु" ये पद दयानंद के घर का है, यह स्वामी जी बुद्धि की गढ़ंत है इस कारण इसे मिथ्या जानना ही बुद्धिमानों को उचित है, क्योकि वेदादि ग्रंथों में ऐसा कहीं भी नहीं लिखा, किन्तु यह अवश्य लिखा है कि उस परमात्मा का ही प्रकृतियुक्त नाम 'ब्रह्मा' है, देखें प्रमाण--

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।

तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥

~मनुस्मृति {१/९}

सहस्रों सूर्यों के समान चमकीले अंडरूप प्रकाशयुक्त ज्योति पिण्ड (हिरण्यगर्भ) से सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, इससे यह सिद्ध होता है कि आदि में ब्रह्मा जी सबसे प्रथम उत्पन्न हुए और सब लोकों की सृष्टि ब्रह्मा जी ने ही की, सुनिये अथर्ववेद में भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि--

ब्रह्मज्येष्ठा सम्भृता विर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥

~अथर्ववेद {१९/२२/२१}

(भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे) अर्थात सबसे प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, दयानंद तथा उनके कम अक्ल नियोगी चमचों को आखँ देखना चाहिए यह वेद वचन ही है इसमें स्पष्ट लिखा है कि आदि में सबसे प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, वही सब लोकों को रचने वाले वही सबसे श्रेष्ठ है देखिये यजुर्वेद में ब्रह्मा जी की उत्पत्ति के बारे में इस प्रकार कथन है कि--

हिरण्यगर्भः सम् अवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिर् एक ऽ आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्याम् उतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

~यजुर्वेद {१३/४}

सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ पुरुष (प्रजापति ब्रह्मा) सम्पूर्ण ब्रह्मांड के एक मात्र उत्पादक और पालक रहे, वही स्वर्ग अंतरिक्ष और पृथ्वी को धारण करने वाले हैं, उस प्रजापति के लिए हम आहुति समर्पित करते है, और सुनिये,

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकं।

तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥

~मनुस्मृति {१/११}

नित्य तथा सत-असत की मूल प्रकृति के मुख्य आधार परमात्मा का ही प्रकृतियुक्त नाम 'ब्रह्मा' है, अत: प्रकृति से जो अतीत और भिन्न है उस परमात्मा का नाम 'ब्रह्म' और जो परमात्मा प्रकृति सहित है उसका नाम 'ब्रह्मा' है, और सुनिये मुंडकोपनिषद में भी इस प्रकार कथन है कि--

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥१॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।

स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥२॥
~मुंडकोपनिषद {१/१/१-२}

सब जगत के बनाने वाले ब्रह्मा जी सब देवों में सर्वप्रथम उत्पन्न हुए, उन्होंने वह वेद विद्या जिसके सब विद्या आश्रय है अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व ऋषि को पढाई, अथर्व ने वह ब्रह्मविद्या अंगी ऋषि को पढाई, अंगी ने वह वेद विद्या ऋषि भारद्वाजवंशीय सत्यवाह को पढाई और सत्यवाह ने वह वेद विद्या अंगिरा ऋषि को पढाई, दयानंद और नियोगी चमचों को यह आखँ खोलकर देखना चाहिए इन वेदादि वचनों से यही सिद्ध होता है कि आदि में सृष्टि रचना की इच्छा से प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, उनसे ही अग्नि वायु सूर्य आदि देवताओं सहित अंगिरा आदि ऋषियों ने वेद विद्या प्राप्त की इससे ब्रह्मा जी सब प्राणियों को उत्पन्न करने से सबके प्रभु और वही प्रथम सबको वेद विद्या जिसके सब विद्या आश्रय है को उपदेश करने वाले प्रथम गुरु है अर्थात उनका गुरु कोई नहीं, सब विद्या को उत्पन्न करने वाले वही है, नहीं तो स्वामी जी बताए कि वह किस ब्रह्मा के विषय में बात कर रहे हैं, यदि वो मनुष्य थे तो किसके पुत्र थे?

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, १४

“(विष्लृ व्याप्तौ) इस धातु से ‘नु’ प्रत्यय होकर ‘विष्णु’ शब्द सिद्ध हुआ है, ‘वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः’ चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम ‘विष्णु’ है”

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, १६

“(रुदिर् अश्रुविमोचने) इस धातु से ‘णिच्’ प्रत्यय होने से ‘रुद्र’ शब्द सिद्ध होता है। ‘यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः’ जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है, इससे परमेश्वर का नाम ‘रुद्र’ है”

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, १८

❝(बृह बृहि वृद्धौ) इन धातुओं से 'ब्रह्मा' शब्द सिद्ध होता है। 'योऽखिलं जगन्निर्माणेन बर्हति वर्द्धयति स ब्रह्मा' जो सम्पूर्ण जगत् को रच के बढ़ाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम 'ब्रह्मा' है❞

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, २०

❝(गण संख्याने) इस धातु से 'गण' शब्द सिद्ध होता है, इसके आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति शब्द' सिद्ध होते हैं। 'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा' जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम 'गणेश' वा 'गणपति' है❞

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, २०

❝(श्रिञ् सेवायाम्) इस धातु से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है। 'यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः'। जिस का सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगीजन करते हैं, उस परमात्मा का नाम 'श्री' है❞

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, २०

❝(सृ गतौ) इस धातु से 'सरस्' उस से मतुप् और ङीप् प्रत्यय होने से 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। 'सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती' जिस को विविध विज्ञान अर्थात् शब्द, अर्थ, सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम 'सरस्वती' है❞

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, २२

❝(डुकृञ् करणे) 'शम्' पूर्वक इस धातु से 'शंकर' शब्द सिद्ध हुआ है। 'यः शंकल्याणं सुखं करोति स शंकरः' जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम 'शङ्कर' है❞

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, २२

❝'महत्' शब्द पूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' सिद्ध होता है। 'यो महतां देवः स महादेवः' जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान्, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिए उस परमात्मा का नाम 'महादेव' है❞

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, २२

❝(शिवु कल्याणे) इस धातु से 'शिव' शब्द सिद्ध होता है। 'बहुलमेतन्निदर्शनम्।' इससे शिवु धातु माना जाता है, जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'शिव' है (इस प्रकार दयानंद ने ईश्वर के १०० नाम लिखें और फिर संबंध से लिखते हैं)❞

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, २२

❝(प्रश्न) जैसे अन्य ग्रन्थकार लोग आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं वैसे आपने कुछ भी न लिखा, न किया?

(उत्तर) ऐसा हम को करना योग्य नहीं, क्योंकि जो आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल करेगा तो उसके ग्रन्थ में आदि मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा वह अमङ्गल ही रहेगा, इसलिए 'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतिश्चेति' यह सांख्यशास्त्र का वचन है, इस का यह अभिप्राय है कि जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्य, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है, उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना मङ्गलाचरण कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से ले के समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का करना ही मङ्गलाचरण है, न कि कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना❞

समीक्षा-- धन्य हे! स्वामी जी की बुद्धि, आपने तो ठान रखा है कि इस पुस्तक के माध्यम से केवल मिथ्या भाषण ही करना है, आप तो मङ्गलाचरण करते भी जा रहे हैं और पुछने पर मना भी करते हैं, यदि आप मङ्गलाचरण नहीं करते तो बताइये कि सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका के पहले **"ओम् ॥सच्चिदानंदेश्वराय नमो नमः॥" "अथ सत्यार्थप्रकाशः"** और **"शन्नोमित्रादि"** सत्यार्थ

प्रकाश के प्रारम्भ मे और अन्त के पृष्ठ में फिर से **"शन्नोमित्रादि"** और ये परमेश्वर के सौ नाम किस आशय से लिखें हैं, तथा अपने वेदभाष्य के प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में **"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, यद्भद्रं तन्न आसुव"** क्यों लिखा है? इससे आपके लेखानुसार तो यही सिद्ध होता है कि आपके 'वेदभाष्यों' और 'सत्यार्थ प्रकाश' के बीच-बीच में अमङ्गलाचरण ही है, ऊपर टीके में सत्यवेदोक्त ईश्वर की आज्ञा कहना मङ्गलाचरण है और आपने जो रांड, रांड स्नेही, धूर्त, निशाचर, भांड, भडुवे, ढेड, चमार, चुतड, भङ्गी, पोप आदि न जाने कौन-कौन से बहुत से अपशब्द और दुर्वचन आगे इस पुस्तक मे लिखें है, जिनके उच्चारण की आज्ञा वेदों मे कही नही पाई जाती, यह क्या है? शायद इसी कारण प्रारंभ मे तो दयानंद मङ्गलाचरण से हिचकते है और स्वयं वही परिपाटी ग्रहण करते है यदि ऐसा न करते तो इनका यह मत अन्य लोगों से भिन्न कैसे प्रतीत होता?

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृ, २३

❝इसलिए जो आधुनिक ग्रन्थों में 'श्रीगणेशाय नमः', 'सीतारामाभ्यां नमः', 'राधाकृष्णाभ्यां नमः', 'श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः', 'हनुमते नमः', 'दुर्गायै नमः', 'वटुकाय नमः', 'भैरवाय नमः', 'शिवाय नमः', 'सरस्वत्यै नमः', 'नारायणाय नमः' इत्यादि लेख देखने में आते हैं, इन को बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रें से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं। क्योंकि वेद और ऋषियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता और आर्ष ग्रन्थों में 'ओम्' तथा 'अथ' शब्द तो देखने में आता है

जैसे- 'अथ शब्दानुशासनम्' , महाभष्यों में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' , मीमांसा में 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' वैशेषिक दर्शन में 'अथ योगानुशासनम्' योग में, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' वेदांत में, 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' छन्दोग्य में यह वचन है❞

सत्यार्थ प्रकाश प्र• समु• पृष्ठ, २३

❝'श्रीगणेशाय नमः' इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में 'हरिः ओम्' लिखते और पढ़ते हैं, यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं❞

समीक्षा-- स्वामी जी का लेख पढ़कर ज्ञात होता है कि स्वामी जी को परमेश्वर के कुछ नाम तो प्रिय है, और कुछ अप्रिय, इसमें जो प्राचीन लोगों की परिपाटी है उसका तो मेटना मानों, देखिये प्रथम तो स्वामी जी ने गुरु, गणेश, सरस्वती, श्री, नारायण, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नाम परमेश्वर के लिखें, और अब कहते हैं कि विद्वान लोग इन्हें मिथ्या ही समझते हैं, ऐसे कहने वाले तथाकथित विद्वान भी दयानंद की ही भांति नर बकरे का दूध घी खाकर विद्वान बने होगें जैसा कि दयानंद ने अपने यजुर्वेदभाष्य २१/४३ में बकरे का दूध घी खाने को लिखा है, विद्वान लोग दयानंद की बुद्धि का अनुमान इसी से लगा लें, क्योकि जो विद्वान हैं वे तो इन्हें मिथ्या नहीं समझते, आप उनको दोष क्यों देते हैं? साफ साफ यही कह देते की मै इन्हें मिथ्या समझता हूँ, डरते क्यों है? डरीये नहीं वैसे भी आप तो रीछ(भालू) को डरा चुके हैं (आत्मचरित में लिखा है कि मुझसे रीछ डरकर भाग गया),

आप बताए क्या यह नाम आप परमेश्वर के नहीं मानते, जो मानते हो तो मिथ्या कैसे? और जो नहीं मानते तो परमेश्वर के सौ नामों में ये नाम क्यों लिखें? इन्हें भी वेदों से निकाल दिया करीए, यदि आपकी चलती तो प्राचीन महात्माओं ने जो सत्य बोलना परम धर्म लिखा है आप उसका भी निषेध करते, परन्तु इसमें चल नहीं सकती, और जैसे आपने धातुओं से परमेश्वर के नाम सिद्ध किए है क्या **'रम् क्रिडायां'** इस धातु से राम और **'हरति**

दुःखानितिहरिः' जो सबमे रम रहा है वो राम है, और भक्तों के दुख हरने से परमेश्वर का नाम हरि है और

"कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः।

तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥"

इस प्रकार कृष्ण के अर्थ भी तो ईश्वर के ही हैं, इस प्रकार राम, कृष्ण और हरि नाम भी तो परमेश्वर के सिद्ध होते हैं,

या परमेश्वर को अपना कोई नाम प्रिय है कोई नहीं, जिनका आप निषेध करते हो, आप ही कहिए ईश्वर के यह नाम लेने से देशोन्नति में कौन सी हानि हो जाती है?

यदि विचारा जाये तो जैसे प्राचीन ग्रन्थों में विष्णुसहस्त्र नाम शिवसहस्त्र नाम है उसी प्रकार आपने भी ईश्वर के शत नाम लिखें हैं, भला ग्रंथ के आदि में ईश्वर के सौ नाम लिखना यह कौन से वेदानुकुल है? साफ साफ यह लिख देते की विष्णुसहस्त्र नाम के स्थान पर हमारे नियोगी चैले शत नाम का पाठ करें, ऐसी गपड़चौथ लिखने कि, इतना ड्रामा फैलाने की क्या आवश्यकता थी? और यह क्या बात हुई? अपने नामों को आप ही मिथ्या बतलाते हो, शोक है आपकी बुद्धि पर, आप लिखते हो कि वेद और ऋषि कृत ग्रंथों में ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता इससे भी ज्ञात होता है ऐसा नहीं तो किसी और प्रकार का देखने में आता है, और आप ही लिखते हैं कि अथ और ओम् देखने में आते हैं, और आपने भी उसी प्रकार अथ और ओम् लिख दिया अर्थात आपने भी मङ्गलाचरण किया, अब आप बताए आपके ग्रंथों के आदि, मध्य और अंत में क्या है? (मङ्गल या फिर अमङ्गल?) मुकरते क्यो हो? मङ्गलाचरण करना कोई चोरी नही है, हाँ पर जो आपने किया उसे दौगलापन कहते है, स्वंय

मङ्गलाचरण किए जा रहे हो, और पुछने पर मना भी कर रहे हो, परमेश्वर के सौ नामों मे जो नाम लिखें आप ही उन्हे मिथ्या बतलाते है, प्रतीत होता है कि स्वामी जी ने अपने यजुर्वेदभाष्य अनुसार (छागस्य) नर बकरे का दूध, घी कुछ ज्यादा ही खा लिया,

॥इति सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत प्रथम समुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत द्वितीयसमुल्लासस्य खंडनंप्रारभ्यते

॥ शिक्षाप्रकरणम् ॥

सत्यार्थ प्रकाश द्वि• समु• पृष्ठ, २४

❝धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे❞

समीक्षा-- स्वामी का यह लेख पढ़कर विदित होता है कि उनका मानसिक संतुलन हिल गया है जो लिखते हैं कि "गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे" ये सब बकरे का दूध, घी खाने का परिणाम है, भला गर्भाधान में सुशीलता का उपदेश किस प्रकार हो सकता है, (दयानंद अपने यजुर्वेदभाष्य अध्याय २८/३२ मे लिखते है कि जैसे बैल गौओं को गाभिन करके पशुओ को बढ़ाता है वैसे ही तुम स्त्रियों को भी करों) कही स्वामी जी का तात्पर्य यही तो नही, कि समाजी स्त्रियां उसी प्रकार गर्भधारण करें जिस प्रकार बैल गौओं को गाभिन करता है, धन्य हे! स्वामी जी आपकी बुद्धि, और आपकी शिक्षा और धन्य हे! वे दयानंदी जो दयानंद के इन उपदेशों को मानते हैं,

सत्यार्थ प्रकाश द्वि• समु• पृष्ठ, २४

❝माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों

को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें”

समीक्षा-- शिक्षा तो अच्छी है पर अफसोस स्वामी जी की ये बात उनके चैले न मान सकेंगे, क्योकि जब उपदेश करने वाले दयानंद ही इन अवगुणों को त्याग न सकें और जीवन पर्यन्त बुद्धिनाशक पदार्थों का सेवन करते रहे, (जैसे कि स्वामी जी ने अपने आत्मचरित में कहा है कि मुझे भंग पीने की धूम्रपान आदि करने की ऐसी लत लगीं कि कभी कभी तो इसके चलते मैं सर्वथा बेहोश हो जाया करता था और दूसरे दिन ही होश हो पता था, और उसी आत्मचरित में मांसभक्षियों के घर का भोजन लेकर खाना भी स्वीकार किया है),

तो अब ध्यान देने वाली बात है कि जब उपदेश करने वाला स्वयं इन अवगुणों का त्याग न कर सका, तो भला उनके चैले इसका कितना पालन करेंगे, बुद्धिमान लोग समझ सकते हैं

सत्यार्थ प्रकाश द्वि॰ समु॰ पृष्ठ, २४

“जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पांचवें दिवस से लेके सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है उन दिनों में से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं, रहे १२ दिन, उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड़ के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है”

फिर आगे पृष्ठ २६ पर प्रश्न संबंध से लिखते हैं कि-

“(प्रश्न) तो क्या ज्योतिषशास्त्र झूठा है?

(उत्तर) नहीं, जो उसमें अंक, बीज, रेखागणित विद्या है वह सब सच्ची, जो फल की लीला है वह सब झूठी है”

समीक्षा-- क्यों साहब? आपका यह लेख जो कि मनुस्मृति के इन श्लोकों से उध्दत है-

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।

चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥१॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।

त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः॥२॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।

तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥३॥

बताये यह ज्योतिष विद्या से सम्बन्ध रखता है या नहीं? और ज्योतिष किसकों कहते हैं? और यह रात्रि त्याज्या इसी कारण है, कि इनमें गर्भाधान करने से आपकी भांति संतान उत्पन्न होती है, और शेष रात्रियों में श्रेष्ठ संतान उत्पन्न होती है, यह मनु जी ने लिखा है, त्याज्य रात्रियों में दुष्ट और प्रशस्त रात्रियों में श्रेष्ठ संतान उत्पन्न होना यह फल नहीं तो क्या है? धन्य हे! आपकी बुद्धि, आप तो फल मानते भी नहीं और यहाँ गुप्त रूप से लिख भी दिया, इस पुस्तक के आरंभ से आपका यही ड्रामा चालू है, पहले तो स्वयं ही लिखते हैं और बाद में अपने ही विरुद्ध खंडन भी करते हैं ऐसे लक्षण तो सिर्फ महाधूर्त, मूर्ख और गवर्गण्डों में ही देखने में आते हैं न कि किसी सिद्ध पुरुष में,

सत्यार्थ प्रकाश द्वि॰ समु॰ पृष्ठ, २५

“क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव समय निर्बल हो जाती है उस समय उसके दूध में भी बल कम होता है, इसलिये प्रसूता स्त्री दूध न

पिलावे, दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधी का लेप करे जिससे दूध स्रवित न हो, ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती हो जाती है”

समीक्षा-- देखें इन गवर्गण्ड दयानंद कि पोप लीला यदि इनकी चले तो यह प्रकृति का नियम भी बदल दें, पर इसमें इनकी चल नहीं सकती, पाठकगण! ध्यान दें स्वामी जी लिखते हैं कि “स्त्री प्रसव समय निर्बल हो जाती है उस समय उसके दूध में भी बल कम होता है, इसलिये प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे, दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधी का लेप करे जिससे दूध स्रवित न हो”

क्यों न पिलावे उसका कारण नीचे लिखते है कि “ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती हो जाती है”

वाह रे! मेरे ठरकी दयानंद स्त्रीयों के यौवन का बड़ा ध्यान है आपको, स्त्री का फिगर खराब न हो फिर चाहे बच्चा भाड में जाए, तुम लिखते हो कि "प्रसूता स्त्री दूध में बल कम होता है, इसलिए दूध न पिलावे", यह तो बड़ी अनोखी और नई बात सुन रहा हूँ आपके द्वारा, जो बात संसार में किसी ने न कही और न सुनी होगी वो आप अपने इस लेख में लिखते हैं, इससे ही आपकी बुद्धि का पता चलता है, मैं तो कहता हूँ आपके अंदर बुद्धि की बहुत कमी है, प्रसूता स्त्री का दूध तो बच्चे के लिय अमृत तुल्य है, जो नाना प्रकार के रोगादि से उसकी रक्षा करती है, प्रकृति स्वतः ही यह अमृत निर्माण करती है, और आप कहते है कि प्रसूता स्त्री के दूध मे बल नही होता, ऐसा कहकर स्वामी जी क्यो अपने माता के दूध का अपमान करते हो? आप ही बताये यदि बच्चे के लिए प्रसूता स्त्री का दूध अवश्यक न होता तो फिर प्रकृति स्वतः ही यह अमृत निर्माण क्यों करती?

यहाँ तक कि चिकित्सा विज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार भी--

१• जन्म के आधे घंटे के अंदर प्रसूता स्त्री बच्चे को अपना दूध पिलाये, माँ का पहला दूध गाढ़ा और पीले रंग का होता है, जिसे 'खिरसा' कहते हैं, यह खिरसा नवजात शिशु का पहला टीका है जो अनेक संक्रामक रोगों से बचाता है, प्रसूता स्त्री का दूध बच्चे के लिय अमृत तुल्य है, प्रकृति स्वतः ही यह अमृत निर्माण करती है, यदि इसे रोका जाये तो स्तन में गांठे पड़ जाती हैं जो की अत्यधिक पीड़ादायक होती हैं और आगे चलकर स्तन कैंसर का भी कारण बन सकती हैं

२• सिर्फ स्तनपान-

पहले छः माह तक माँ के दूध के अलावे बच्चे को ना तो कुछ खिलाए और ना ही पिलाए इसका अर्थ यह है कि बच्चे को पानी, पानी मिश्री, पानी ग्लूकोज, दूसरा कोई आहार आदि कोई चीज नहीं देना चाहिए, यह सब बच्चे के लिए हानिकारक हो सकता है, डॉ0 की सलाह पर, जरूरत पडने पर, विटामिन या दवाई पिलाया जा सकता है।

३• गर्मी के मौसम में भी माँ के दूध के अलावा पानी देना जरूरी नहीं है, पानी पिलाने से शिशुओं में दूध पीने की इच्छा कम हो जाती है जबकि पानी बीमारी का जड़ भी हो सकता है, दूसरा कोई भी पेय पदार्थ सफल स्तनपान में बाधक बन जाता है, मगर छः माह तक सिर्फ स्तनपान कराते रहने से बच्चों के मस्तिष्क का संपूर्ण विकास होता रहता है जिससे बच्चा तेज बृद्धि वाला हो जाता है।

इससे बच्चों मे छुआछुत रोग, दमा, एक्जिमा एवं अन्य एलर्जी रोग होने की संभावना की कम होती है,

अब आप बताए कहाँ की प्रसूता स्त्री के दूध में इतनी विशेषताएं हैं और कहाँ आप कहते हैं कि "प्रसूता स्त्री के दूध में बल नहीं होता" इसलिए उसे व्यर्थ ही समझें, शोक है ऐसी बुद्धि पर,

नवजात शिशु के लिए प्रसूता स्त्री का दूध कितना जरूरी है ये केवल वही समझ सकता है जिसकी माता ने उसे दूध पिलाया हो और जिसकी माता ने फिगर को देखते हुए डब्बे का दूध पिलाया हो वो तो इसे आपकी भांति व्यर्थ ही समझेगा, नवजात शिशु माता का दूध नहीं तो क्या भांति नर बकरे का दूध पिये? और तो और आपने उस औषधि का नाम भी नहीं बताया जिसके लेप से दूध का स्त्राव रूक जाए यदि बता देते तो विषयी स्त्रियाँ आपसे बहुत खुश होती, मैने तो ये भी सुना है कि प्रसूता स्त्री के स्तन मे यदि दूध स्त्रावित ना हो या मात्रा अधिक हो जाती है तो स्त्री को काफी पीड़ा का सामना करना पड़ता है फिर आज के डॉक्टर्स भी यही सलाह देते है कि पीड़ा दूध के अत्यधिक दबाव की वजह से है, तो ऐसे मे दयानंद का दूध स्त्रावित ना होने देने से क्या तातपर्य है?

सत्यार्थ प्रकाश द्वि॰ समु॰ पृष्ठ, २५

❝बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पावें, ,,,,,,,, उपस्थेन्द्रिय से स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध भी होता है इससे उसका स्पर्श न करें❞

समीक्षा-- वाह रे वाह! सत्यार्थ प्रकाश के बनाने वाले लालभुजक्कड़? क्या कहना! तुझ को ऐसी-ऐसी अश्लील बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शर्म न आई, निपट अन्धा ही बन

गया तू जन्मते ही क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गया? वा जन्मते समय मर क्यों न गया? कम से कम समाजी स्त्रीयाँ इस महापाप से तो बच जाती,

तनिक स्वयं विचार कर देखें कि माता जब इस शिक्षा को करेगी तब लज्जा जो स्त्री जाति का आभूषण होता है कोने में को रख देवेगी, क्योंकि ये धूर्त अश्लील बुद्धि दयानंद इसी में ऊपर लिखता है कि 'माता इस प्रकार शिक्षा करें' इस धूर्त ने सोचा होगा कि कहाँ तक समझता फिरूगाँ अब हर किसी को मेरी भांति सेक्सी उपन्यास पढने व लिखने का अभ्यास तो है नहीं इसलिए ये बोझ स्त्रीयों पर ही दे मारा,

हो सकता है मूलशंकर की माता ने उसे अंगों के साथ कुचेष्टा करते पकड़ा हो और फिर मुलशंकर को इस प्रकार शिक्षा करी हो कि “उपस्थेन्द्रिय से स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध भी होती है इससे उसका स्पर्श न करें” तभी तो स्वामी जी यह शिक्षा माता को करनी लिखते है

और दयानंद ने जिस विश्वास के साथ यह लेख लिखा है उससे तो यही विदित होता है कि दयानंद ने इसका कितना अभ्यास किया होगा, शोक हे! दयानंद की बुद्धि पर, तुमने तो महापाप को भी शिक्षा का अंग बना दिया, कम से कम लिखने से पहले तनीक विचार तो लिया होता कि माता के द्वारा ऐसी शिक्षा करने को लिखकर कैसा महापाप, कैसा अधर्म फैलाया है?

सत्यार्थ प्रकाश द्वि॰ समु॰ पृष्ठ, २६

“गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।

प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति॥

~मनु० [अध्याय ५ श्लोक ६५]

अर्थ-जब गुरु का प्राणान्त हो तब मृतकशरीर जिस का नाम प्रेत है उस का दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है। और जब उस शरीर का दाह हो चुका तब उस का नाम भूत होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों, वर्त्तमान में आ के न रहें वे भूतस्थ होने से उन का नाम भूत है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है परन्तु जिस को शंका, कुसंग, कुसंस्कार होता है उस को भय और शंकारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं

,,,,,,,,,अज्ञानी लोग वैद्यक शास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत प्रेतादि धरते हैं।

,,,,,,,परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट ‘पांच जूता, दण्डा वा चपेटा, लातें मारें’ तो उसके हनुमान्, देवी आदि झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं **”**

समीक्षा-- स्वामी जी जब कोई बात बनाते हैं तो कोई न कोई श्लोक आदि लिखकर उसके अर्थ का अनर्थ कर देते हैं वहीं चुतियापंति इस श्लोक में भी फैलाई है देखिए **(पितृमेधं समाचरन्)** इस पद का अर्थ ही न लिखा, अब कहें यह स्वामी जी का दौगलापन नही तो क्या है? इसका अर्थ इस प्रकार है

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।

प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति॥~मनु० [५/६५]

अर्थ- गुरु का स्वर्गवास होने पर शिष्य गुरु की अंत्येष्टि क्रिया, पिंडादि विधान करता हुआ शव को उठाने वाले के साथ दसवें दिन शुद्ध होता है,

और प्रेतयोनि एक पृथक है जिसको जीव प्राण त्यागने के उपरांत कर्मानुसार प्राप्त होता है, जिसका प्रमाण वेदादि ग्रंथों में भी है, ये देखें--

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।

यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥१॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः।

उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥२॥

~अथर्ववेद

और दयानंद की बुद्धि देखें लिखते हैं कि—"और जो वर्तमान में आकर न रहे वो भूत कहलाता है" स्वामी जी का यह लेख समय का बोधक है और इसका यहाँ कोई मतलब नहीं बनता और यदि दयानंद इसे मनुष्यों पर लगाते हैं तो अब दयानंद भी मरकर भूत संज्ञक हुए, इसलिए यह शिक्षा दयानंदीयों को ग्रहण करने योग्य है अब दयानंदीयों को चाहिए कि गुरू आज्ञा का पालन करते हुए दयानंद के नाम के पीछे भूत और लगा दें तो परम हंस की शोभा बढ़ जाएगी,

दयानंद लिखते हैं कि "ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है" जब जब दयानंद अपनी मिथ्या बातों को सिद्ध करने के लिए ब्रह्मादि के नाम का सहारा लेते हैं तो मन करता है कि स्वामी जी को चार जूते भेंट स्वरूप दे दूँ कसम से इतना बड़ा दौगला मैंने आज तक नहीं देखा, जो बिना प्रमाण अपनी गढ़ंत को ब्रह्मादि का सिद्धांत लिख दें, अरे धूर्त! कोई प्रमाण तो

लिख दिया होता की ऐसा कहाँ लिखा है, ब्रह्मादि ने तो ऐसा कहीं नहीं लिखा यह तो तुम्हारे ही दिमाग की उपज हैं तुम हर जगह अपना मुँह क्यों छिपाते हो? क्या यहाँ भी पिता जी का डर है जो वो आकर पकड़ ले जायेंगे, अपना नाम क्यों नहीं लिखते कि मैं ऐसा मानता हूँ आप भूत, प्रेतादि को नहीं मानते क्योकि आप दौगले हो, देखों मनुस्मृति, सुश्रुतसंहिता, वेदादि ग्रंथों से आपको इसके प्रमाण देते हैं,--

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।

नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितृणांश्च पृथग्गणम्॥

~[मनुस्मृति : १/३७]

उसके बाद परमात्मा ने यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प और पितृगणों की सृष्टि की।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।

पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तान् अस्मद्भूमे यावय॥

~[अथर्ववेद- १२/१/५०]

अर्थ- हे भूमे! जो गन्धर्व, अप्सरा, किमी दिन, मांसभक्षि पिशाच और राक्षसी वृत्तियों वाले आततायी है उन्हें हमसे दूर करें।

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति।

परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टान् अस्मात्प्र धमाति यज्ञात्॥

~[अथर्ववेद- १८/२/२८]

अर्थ- जो दुष्ट प्रेतात्मा ज्ञानवान पितरों के समान आकृति बनाकर पिता, पितामह आदि पितरों में मिल बैठें है, और आहूति देने पर छल से हवि-भषण करते हैं तथा जो पिंडदान करने वाले पुत्र,

पौत्रों को हिंसित करते हैं, हे अग्निदेव! आप उन छदमवेशधारी असुरों को बाहर करें।

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना ऽ असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।

परापुरो निपुरो ये भरन्त्य् अग्निष्टाँन् लोकात् प्र णुदात्य् अस्मात्॥

~[यजुर्वेद- २/३०]

अर्थ- हे अग्निदेव! जो असुरी शक्तियाँ पितरों को समर्पित अन्न का सेवन करने के लिए अनेक रूप बदलकर सुक्ष्म या स्थूलरूप से आती और नीच कर्म करती है, उन्हे इस पवित्र स्थान से दूर करें।

येऽमावास्यां रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्तिणः।

अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्॥

~[अथर्ववेद- १/१६/१]

अर्थ- अमावस्या की अंधेरी रात के समय मनुष्यों पर घात करने वाले तथा उनको क्षति पहुचाने वाले, जो असुरादि विचरण करते हैं, उन असुरों के सम्बंध में असुर विनाशक चतुर्थ अग्निदेव हमें अभय करें, रक्षा करें।

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु॥१॥

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु॥२॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।

तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः॥३॥

~[अथर्ववेद- ५/२९/८-१०]

अर्थ- जो पिशाच जलपान, यात्रा, शयन के समय हमें पीडित किया करते हैं, वह अपनी प्रजा सहित दूर हो जाएं और वह रोगी निरोगी हो जाए॥१॥

जो पिशाच रात अथवा दिन में बिस्तर पर सोते समय हमें पीडित करते हैं वे पिशाच अपनी प्रजा सहित हमसे दूर हो जाएं और रोगी निरोगी हो जाएं॥२॥

हे अग्ने! आप इन मांसभक्षक, रक्तभक्षक और मन को कष्ट करने वाले पिशाच को नष्ट करें, शक्तिशाली इन्द्र उन्हें वज्र से मारें और सोमदेव उनका शीश काट दें॥३॥

इससे प्रकट होता है कि राक्षस, पिशाचादि विघ्नदायक होते हैं और मंत्रों के प्रभाव से दूर होते हैं, 'सुश्रुतसंहिता' में भी इस प्रकार कथन है--

यद्यथा शल्यं शालाक्यं कायचिकित्सा भूतविद्या कौमारभृत्यम्
अगदतन्त्रं रसायनतन्त्रं वाजीकरणतन्त्रमिति॥

~[सुश्रुतसंहिता : प्रथमोऽध्यायः, सूत्रस्थान- ७]

अर्थ- सुश्रुत के अनुसार आयुर्वेद के आठ अंग ये हैं-शल्य, शालाश्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभूत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरण तन्त्र, महर्षि सुश्रुत भूतविद्या को चौथे स्थान पर रखते हुए लिखते हैं कि-

भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः
पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां
शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्॥

~[सुश्रुतसंहिता- प्रथमोऽध्यायः, सूत्रस्थान- ११]

अर्थ- महर्षि सुश्रुत ने भूत विद्या के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से लिखा है कि जिस विद्या द्वारा देव, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर,

पिशाच, नाग ग्रहों आदि से पीड़ित व्यक्ति का शान्ति कर्म, बलिदान आदि कर्म क्रियाओं द्वारा उपरोक्त देवादि देवों का उपशमन होता है वह भूतविद्या कही जाती है।

यहाँ भी यह योनि वर्णन करी है जिनको बलिदान देने से मनुष्य पर जो आच्छादन होता है सो जाता रहता है

अब बोलों क्या बोलते हो पोप (दयानंद) जी? क्या वेद और वैदिक ऋषियों के इस कथन को भी मिथ्या बोलोगें?

आप सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २६ में लिखते हैं कि "अज्ञानी लोग वैद्यक शास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत प्रेतादि धरते हैं।

,,,,,,,परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट 'पांच जूता, दण्डा वा चपेटा, लातें मारें' तो उसके हनुमान्, देवी आदि झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं"

आप एक वैश्या के हाथों ऐसे ही खर्च नहीं हुए आपकी ऐसी दर्दनाक मृत्यु का कारण देवताओं को ऐसे अपशब्द बोलना ही है, अच्छा हुआ जो आपके जैसा भांड समय रहते इस धरती से उठ गया वर्ना आप इन वैदिक ऋषियों और देवताओं को भी इसी प्रकार 'पांच जूता, दण्डा वा चपेटा, लात मारना लिख देते

आप अज्ञानी किन्हें कहते हैं? क्योकि वेदों में तो भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुरादि विघ्नदायक आसुरी शक्तियों और उनसे रक्षा के सैकड़ों प्रमाण लिखें हैं अब आप बताए क्या इन वेद ऋचाओं को प्रकट करने वाला ईश्वर अज्ञानी है?

मनु सुश्रुत आदि द्वारा रचित ग्रंथों मे भी इसके प्रमाण मिलते है, क्या ये भी अज्ञानी है? आपके अनुसार सब अज्ञानी केवल आप ही बुद्धिमान हो, और होंगे भी क्यो नही? आपने (छागस्य) अर्थात बकरा आदि नर पशुओं का दूध घी जो खाया है (दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य २१/४३ में लिखा है), और आप की भांति आपके नियोगी चैले भी बकरे का दूध, घी खाकर बुद्धिमान बने फिरते है, बड़ा आश्चर्य होता है यह देखकर कि जिस व्यक्ति में न तो दो कौडी कि बुद्धि और न बोलने कि सभ्यता ऐसे महाधुर्त को महर्षि बनाने का प्रयास किया जा रहा है

सत्यार्थ प्रकाश द्वि• समु• पृष्ठ, २६

❝जैसी यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक हैं, वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते, क्या ये चेतन हैं जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें?❞

समीक्षा-- अरे स्वामी भंगेडानंद जी यदि यह सुख दुख नहीं दे सकते तो वेदों में इनकी शांति क्या व्यर्थ की है देखिए-

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा॥१॥

उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः॥२॥

रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु।

पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।

अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः॥३॥ ~अथर्ववेद

ग्रह चन्द्र, आदित्य,राहु हमारे लिए शांतिकारक हो, पृथ्वी और अंतरिक्षलोक में होने वाले उत्पात और द्युलौक में विचरणशील मंगल आदि ग्रह हमारे दोषों का निवारण करते हुए हमारे लिए

शांतिकारक सिद्ध हो, यह वेदों में शांति प्रकरण क्या व्यर्थ की है इसी से ग्रह दुख सुख देने वाले सिद्ध होते हैं॥१-२॥

सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, आकाश, और अंतरिक्षलोक में विचरणशील मंगल आदि तेरी रक्षा करे, तेरे लिए कल्याणकारी सिद्ध हो।

अब कहें भंगेडानंद जी यदि ये सुख दुख नहीं दे सकते तो वेदों में इनकी शांति क्या वृथा की लिखीं हैं।

सत्यार्थ प्रकाश द्वि॰ समु॰ पृष्ठ, २७

“जो हम मन्त्र पढ़ के डोरा वा यन्त्र बना देवें तो हमारे देवता उस मन्त्र, यन्त्र के प्रताप से उस को कोई विघ्न नहीं होने देते’ उन को वही उत्तर देना चाहिये कि क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे?”

समीक्षा-- वाह रे! स्वामी धूर्तानंद क्या कहने आपके? या तो आप बहुत बडे वाले धूर्त है या फिर आपको भूलने की बीमारी है, मंत्र पढ़कर डोरा बांधने से रक्षा नहीं होती लेकिन आप ही ने अपने पंच महायज्ञ विधि के पृष्ठ ५ पर यह लिखा है कि “इसके अनंतर गायत्री मंत्र से शिखा को बांध कर रक्षा करे” अब कोई इन धूर्तानंद जी से पूछें कि गायत्री मंत्र पढ़कर क्या रक्षा करें? और किससे रक्षा करें? क्योकि मंत्रों के प्रभाव को तो आप मानते नहीं इसलिए यदि सिर्फ शिखा बांधने से ही रक्षा हो जाएं तो ये जितने भी बंदूक, तलवार और तमंचे है सब धरे के धरे रह जाए कोई किसी काम का नहीं, अब यदि दो नियोगी दयानंदी संध्योपासन के अनंतर कुश्ती लडें तो उनमें से न तो कोई हारे और न ही कोई जीते, क्योकि दोनों के दोनों शिखा बांधकर रक्षा कर चुके हैं, धन्य हे! तुम्हारी बुद्धि,

वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि जब रामचंद्र वन को चलें तो कौशल्या ने मंत्र पढ़कर रक्षा की सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान में रोगी की भूत प्रेतादि से मंत्र पढ़कर रक्षा करनी लिखीं है जिसका प्रमाण इससे पहले दे चुके हैं और भी अनेक मंत्र है वेद के जो भूत प्रेत, पिशाचों की शांति करते हैं ये देखिए वेदों से प्रमाण-

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः।

इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम्॥१॥ ~[अथर्ववेद- २/३/६]

अर्थ- औषधि के निमित्त प्रयोग किये जाने वाले जल हमारे रोगों का शमन करने वाले और सुखदायक हो, रोगों को उत्पन्न करने वाले (असुरों) को इन्द्र देव का वज्र विशिष्ट करें, असुरों द्वारा सधान किये गये व्याधिरूप बाण हमसे दूर जाकर गिरें॥

यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्।

पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि॥२॥

आरादरातिं निरृतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।

रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि॥३॥

~[अथर्ववेद- ८/२/१०,१२]

अर्थ- हे मृत्यो! तेरे रजोमार्ग का कोई नाश नहीं कर सकता, इस पुरूष को इस मार्ग से बचें रहने का मन्त्रणारूप कवच धारण कराते हैं, आतंकित करने वाले निर्ऋति की दुर्गति करते हुए मांसभक्षी पिशाचों को नष्ट करते हैं अन्य जो भी रक्षसत्व है उन सब तमस् गुण वालों का हम नाश करते हैं॥

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु॥४॥

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु॥५॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।

तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः॥६॥

~[अथर्ववेद- ५/२९/८-१०]

अर्थ- जो पिशाच जलपान, यात्रा, शयन के समय हमें पीडित किया करते हैं, वह अपनी प्रजा सहित दूर हो जाएं और वह रोगी निरोगी हो जाए ॥

जो पिशाच रात अथवा दिन में बिस्तर पर सोते समय हमें पीडित करते हैं वे पिशाच अपनी प्रजा सहित हमसे दूर हो जाएं और रोगी निरोगी हो जाएं॥

हे अग्ने! आप इन मांसभक्षक, रक्तभक्षक और मन को कष्ट करने वाले पिशाच को नष्ट करें, शक्तिशाली इन्द्र उन्हें वज्र से मारें और सोमदेव उनका शीश काट दें॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।

पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तान् अस्मद्भूमे यावय॥७॥

~[अथर्ववेद- १२/१/५०]

अर्थ- हे भूमे! जो गन्धर्व, अप्सरा, किमी दिन, मांसभक्षि पिशाच और राक्षसी वृत्तियों वाले आततायी है उन्हें हमसे दूर करें।

इससे प्रकट होता है कि राक्षस, पिशाचादि विघ्नदायक होते हैं और मंत्रों के प्रभाव से दूर होते हैं अब कोई इन स्वामी धूर्तानंद जी से पूछें यदि मंत्र पढ़ने से रक्षा नहीं होती तो वेदों में ये मंत्र क्या व्यर्थ के लिखें हैं?

क्यों साहब क्या कहते हो यह सभी वेद मंत्र परमेश्वर के नियम में है या नहीं?

जितने विघ्नों का विधान है उन सब की शांति मंत्रों द्वारा हो जाती है, और मंत्र जपने से उन मंत्रों के देवता विघ्न नहीं होने देते, यह ईश्वर का नियम ही है, समझे स्वामी धूर्तानंद जी,

सत्यार्थ प्रकाश द्वि॰ समु॰ पृष्ठ २८

“९वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य कुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये विना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें”

समीक्षक-- चलो कम से कम आपकी बुद्धि यहाँ ठिकाने पर तो है कि शुद्र का उपनयन न हो जाति ही सिद्ध रखी है, और द्विज से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ग्रहण किया है, आप लिखते हैं कि "शुद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरूकुल में भेज दें" क्यों यहाँ यह प्रतिज्ञा छूट गई कि "जिस को पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है, उस का पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ है" तृतीया समुल्लास के पृष्ठ ५५ पर यह आपने ही कहा है ना? याद आया, धन्य हे! स्वामी जी आपकी नौटंकी, जिसको निर्बुद्धि और मूर्ख बोलकर उस का पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ बताते हो, और अब उसे विद्याभ्यास के लिए गुरूकुल भेजना लिखते हो, यही तो आपके भंग की तरंग है इससे ही पता चलता है कि आपमें बुद्धि की कितनी कमी थी

✍ सत्यार्थ प्रकाश द्वि॰ समु॰ पृष्ठ, २९

❝यही माता, पिता का कर्त्तव्य कर्म परमधर्म और कीर्ति का काम है जो अपने सन्तानों को उत्तम शिक्षायुक्त करना, (पुन:) यह बालशिक्षा में थोड़ा सा लिखा, इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे❞

समीक्षक-- वाह बड़ी सुंदर शिक्षा दी है समाजीयों को, मैंने पढ़ा और उसका करारा जबाव भी दिया है उसे आप पढ़ें, वैसे इस शिक्षा को स्वत: प्रमाण माने या परत: प्रमाण जिसमें योनिसंकोचन, उपस्थेन्द्रिय का मर्दन, प्रसूता स्त्री का बच्चे को दूध न पिलाना आदि सिखाया है माता पिता ऐसी शिक्षा अपने बालकों और बालिकाओं को करें यह शिक्षा आपकी कौन से वेदानुसार है? कोई प्रमाण नही दिया आपने, और यह थोडी सी बालशिक्षा नही है बल्कि सत्यानाश करने को, नास्तिक वर्णसंकर बनाने को यही काफी है, बुद्धिमान लोग इसको बहुत ही अच्छी प्रकार समझते है और आपकी वेदविरूद्ध शिक्षाओं से दूर ही रहते है।

॥इति सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत द्वितीयसमुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

✍ सत्यार्थ प्रकाश तृ• समु• पृष्ठ ३१

❝कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ ~मनु° ७/१५२

इसका अभिप्राय यह है कि इस में राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें, पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो, प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में ही हो और दूसरा पाठशाला में आचार्य्यकुल में हो, पिता माता वा अध्यापक अपने लड़का लड़कियों को अर्थसहित गायत्री मन्त्र का उपदेश कर दें❞

समीक्षक-- वाह रे! स्वामी धूर्तानंद अच्छा चुतिया बना रहे हो भोले भाले कम अक्ल समाजीयों का, जरा बताए कि आपका यह इतना लम्बा चौड़ा अभिप्राय किन अक्षरों से सिद्ध होता है?, इस श्लोक का यह तात्पर्य तो बिलकुल भी नहीं है यह श्लोक राजधर्म प्रसंग का है जिसका अर्थ इस प्रकार है देखिए-

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।

चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् सार्धं तैरेक एव वा॥१॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।

कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणं॥२॥

~[मनुस्मृति- ७/१५१,१५२]

अर्थ- राजा को योग्य है कि वह मांसिक थकावट से रहित होकर दिन के मध्य या अर्धरात्रि में अकेले अथवा मंत्रियों के साथ धर्म, अर्थ तथा काम से सम्बन्धित विषयों पर चिंतन करें, यदि मंत्रियों के धर्म, अर्थ तथा काम आदि विषयों पर अलग-अलग विचार हो, तो विरोध दूर करके अर्जन का उपाय अपने कुल की कन्याओं के विवाह एवं राजकुमारों की सुरक्षा से सम्बन्धित विषयों पर विचार करें।

इस श्लोक से आपका अर्थ किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता, इससे ही पता चलता है कि आप कितने बड़े वाले धूर्त हो, और यह तो बड़ी अदभूत बात कही कि एक यज्ञोपवीत घर में और एक पाठशाला में करें इससे ही पता चलता है कि आपकी बुद्धि ठिकाने पर नहीं है, यह शिक्षा आपकी कौन से वेदानुसार है, कोई प्रमाण तो लिख दिए होते और यदि प्रमाण न मिला तो कोई उल्टी सीधी संस्कृत गढ़ कर ही उसे श्लोक नाम से लिख देते आपके अक्ल से पैदल नियोगी चैले उसे भी पत्थर की लकीर मान लेते।

सत्यार्थ प्रकाश तृ• समु• पृष्ठ ३१

“ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इस मन्त्र में जो प्रथम (ओ३म्) है उस का अर्थ प्रथमसमुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना, अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं-‘भूरिति वै प्राणः’ ‘यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः’ जो सब जगत् के जीवन का आवमार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक होके ‘भूः’

परमेश्वर का नाम है, 'भुवरित्यपानः' 'यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः' जो सब दुःखों से रहित, जिस के संग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है, 'स्वरिति व्यानः' 'यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः', जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सब का धारण करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'स्वः' है, ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक के हैं।

(सवितुः) 'यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य'। जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है, (देवस्य) 'यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः' जो सर्वसुखों का देनेहारा और जिस की प्राप्ति की कामना सब करते हैं, उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) 'वर्त्तुमर्हम्' स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ (भर्गः) 'शुद्धस्वरूपम्' शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्म स्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि) 'धरेमहि' धारण करें। किस प्रयोजन के लिये कि (यः) 'जगदीश्वरः' जो सविता देव परमात्मा (नः) 'अस्माकम्' हमारी (धियः) 'बुद्धीः' बुद्धियों को (प्रचोदयात्) 'प्रेरयेत्' प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ा कर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे"

समीक्षक-- यह जो आपने ओ३म् के द्वारा ॐकार का काल्पनिक अर्थ गढ़ा है उसका खंडन प्रथम समुल्लास में कर आये हैं जिज्ञासु लोग वही से जान लेना।

आपने महाव्याहृतियों के अर्थ में भी भारी गोलमाल कर तैत्तिरीय आरण्यक के नाम से कल्पना की है सो अब आपके द्वारा महाव्याहृतियों के किये गए काल्पनिक अर्थ का खंडन संक्षेप में लिखते हैं देखिए-

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः।

तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते।

मह इति। तत् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः।

भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्।

सुवरित्यसौ लोकः॥ ~[तैत्तिरीय आरण्यक : शिक्षा बल्ली, पंचम अनुवाक]

अर्थ- भू: भुव: स्व: यह तीन व्याहृतियाँ है, कहीं तो स्व: ऐसा व्याहृति का आकार होता है और कहीं सुव: ऐसा आकार होता है अर्थ का भेद नहीं क्योकि प्रातिशाख्य जो वेद का व्याकरण है उसमें स्व: के स्थान पर सुव: और स्वर्ग के स्थान पर सुवर्ग ऐसा शब्द प्रयोग होता है, इन तीन व्याहृतियों के मध्य यह चतुर्थ व्याहृति मह: (महलोक) है इसको महाचमस के पुत्र जो महाचमस्य ऋषि है सर्वप्रथम उन्होंने जाना व देखा वही (मह:) ब्रह्म है और वही उक्त तीन व्याहृतियों की आत्मा है, और सब देवता उसके अंग है, अब इनकी तुल्यता को कथन करते हैं जैसे कि ब्रह्म महत् है और व्याहृति महर् है इससे इनकी एकता बनी है और वह महर् आत्मा (ब्रह्म रूप) है क्योंकि वह महर् व्याप्ति रूप कर्म वाला है, इससे जो आत्मा है और अन्य जो व्याहृतिरूप लोक देव, वेद और प्राण है वे जिससे कि "महर् ब्रह्म है" इस आगे कहने के वाक्य से कथन किये व्याहृतिरूप ब्रह्म के देव लोक आदिक सर्व अवयव रूप है, और जिससे वे सूर्य ब्रह्म और अन्न रूप से व्याप्त हुए हैं इससे और देवता जो है सो वे अंग (ब्रह्म के पाद आदिक अवयव) है और महाव्याहृति अंगी है भाव यह है कि महाव्याहृति रूप जो अंगी है। हिरण्यगर्भ, उसके भू: व्याहृति को पाद, भुव: व्याहृति को बाहु, और स्व: व्याहृति को शिरेरूप से ध्यान करें, ऐसी उपासना विधि है सो कथन करते हैं

अर्थात भूरादि प्रजापति अंगों को जिस जिस रूप में चिंतन करना है सो निरूपण करते हैं।

"पृथ्वीलोक प्रजापति के पादरूप भू: व्याहृति और अंतरिक्षलोक प्रजापति के बाहुरूप भुव: व्याहृति है और स्वर्गलोक प्रजापति का शिरेरूप स्व: व्याहृति है, और जो प्रकाशमान आदित्य है सो प्रजापति का मध्य भागरूप महाव्याहृति है

भाव यह है कि पृथ्वीलोक में प्रजापति के पाद दृष्टि करना, अंतरिक्षलोक में प्रजापति के बाहु दृष्टि करना और स्वर्गलोक में प्रजापति के शिर दृष्टि करना और आदित्य में प्रजापति के शरीर मध्य दृष्टि करना, और मध्य भाग से अंगों की वृद्धि होती है इसी कारण कहते हैं कि आदित्य से सब लोकों की वृद्धि होती है इसी प्रकार अग्नि आदि में प्रजापति के अंग दृष्टि जानना।

मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोक महीयन्ते।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः।

मह इति चन्द्रम: चन्द्रमसा वाव

सर्वाणि ज्योतिषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः।

भुव इति सामानि। सुवरिति यजूषि॥ ~[तैत्तिरीय आरण्यक : शिक्षा बल्ली, पंचम अनुवाक]

अर्थ- भू: यह प्रसिद्ध अग्नि है, भुव: वायु और स्व: सूर्य है, और मह: चन्द्रमा है क्योंकि चन्द्रमा ही सब ज्योतियों को महिमान्वित करता है, भू: यह प्रसिद्ध ऋचा (ऋग्वेद) है, भुव: सामवेद, और स्व: यजुर्वेद है।

मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः।

मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राण महीयन्ते।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्ध। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः।

ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति॥ ~[तैत्तिरीय आरण्यक : शिक्षा बल्ली, पंचम अनुवाक]

अर्थ- मह: यह ब्रह्म (ॐकार) है क्योंकि ॐकार से ही सब वेद वृद्धि को प्राप्त होते हैं, भू: यह प्राण है भुव: यह अपान है स्व: यह व्यान है, और मह: यह अन्न है क्योकि अन्न से ही प्राण में वृद्धि है, जो यह उपचार व्याहृति चार प्रकार की है इनका फल वर्णन करते हैं कि एक-एक व्याहृति चार-चार प्रकार की हो गई इस प्रकार यह सोलह व्याहृतियाँ हुई तब प्रकरणानुसार षोडशकला युक्त पुरूष का ध्यान कहा इसका वर्णन यजुर्वेद अध्याय ३२ मंत्र ५ में इस प्रकार आया है--

यस्माज् जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।

प्रजापतिः प्रजया सम् ररााणस्त्रीणि ज्योतीम्षि सचते स षोडशी॥ ~[यजुर्वेद अध्याय ३२ मंत्र ५]

अर्थ- जो प्रजापति अकेले ही सभी भुवनों में व्याप्त है, उनसे पूर्व कुछ भी उत्पन्न न हुआ, वह प्रजा के साथ रहने वाले प्रजापति षोडश कलाओं से युक्त, तीनों ज्योतियों (अग्नि, विद्युत, सूर्य) को धारण करते हैं,

वह षोडश कला कौन सी है अब उसे यहाँ संक्षेप में लिखते हैं देखिए- व्याहृति से पृथ्वीकला, अग्निकला, ऋग्वेदकला, प्राणकला ऐसे चतुष्कला तो प्रजापति के पाद हैं, और अंतरिक्षकला, वायुकला, सामवेदकला, अपानकला ऐसे चतुष्कला प्रजापति के बाहु हैं, स्वर्गलोककला, आदित्यकला, यजुर्वेदकला, व्यानकला ऐसी चतुष्कला प्रजापति के शिर है आदित्यकला, चन्द्रकला,

ॐकारकला, अन्नकला ऐसा प्रजापति का आत्मशब्द प्रतिपाध मध्यभाग है, ऐसे षोडसकला युक्त पुरूष को हृदय में ध्यान करने से जो फल प्राप्त होता है सो कथन करते है इन व्याहृतियों को पूर्व प्रकार से जो जानता है सो ब्रह्म को जानता है।

और आपने इस षोडशकला युक्त प्रजापति की उपासना के प्रकरण में (भूरिति वै प्राणः भुवरित्यपान: स्वरिति व्यान:) इतने भाग को लेकर प्राण, अपान और व्यान को परमेश्वरपरता वर्णन किया है परन्तु बुद्धिमान विचारें की ये कितनी धृष्टता है कि सगुणोपासना के फल के लोप करने को यह लीला रची है, कि यह कौन प्रकरण के वाक्य है यह भी न लिखा अब यह देखना चाहिए कि जब स्वामी धूर्तानंद जी ने ॐकार और व्याहृतियों के ही अर्थों में अनर्थ किया है तो और मंत्रों के साथ क्या किया होगा?

अब गायत्री के अर्थ लिखते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में इसका कैसा व्याख्यान है-

(तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि) **"तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणाय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै तेऽवस्थिता योऽस्य भर्गः कं सञ्चितयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनः"** यह जो प्रत्यक्ष आदित्य है यही सविता (अर्थात उत्पन्न करने वाला) है, आत्मकाम करके प्रवणीय है अर्थ यह जो आत्मरिक्त पदार्थ की कामना रहित है, उसको यह सविता ही एकताबुद्धि करकें प्रार्थनीय है, भाव यह है कि पिण्डसार, प्राणओर, ब्रह्मांडसार आदित्य की एकता करकें दोनों उपाधि से उपलक्षित तत्व को आमरूप से भावना करें, ऐसा वेदविद् पुरूष कहते हैं, अब द्वितीय पद की व्याख्या करते हैं देव शब्द बोध्य सविता ही है,

उस कारण से जो सविता का भर्गाख्य रूप है, उसको चिंतन करते हैं,

(धियो यो नः प्रचोदयात्) **"अथ धियो यो नः प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योऽस्माकं प्रचोदयादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः"** अन्त:करण की वृत्तियों को जो परमात्मा प्रेरणा करता है उस आदित्य के 'भर्ग' भाग का हम ध्यान करते हैं, क्योकि वह सम्मुख उपस्थित रहता है उसका जो 'भर्ग' है वह बुद्धि को प्राप्त होता रहता है

(प्रश्न) हम किसका चिंतन करें?

(उत्तर) **"सवितुर्देवस्ययत् भर्गाख्यं वरेण्यं तत् धीमहि तत् किम् योऽस्माकं धियोऽन्तकरणवृत्तीः प्रचोदयात्"** सविता देव का जो 'भर्ग' तथा 'वरेण्य' रूप है हम उसका चिंतन करें, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है, बुद्धि को धी कहते हैं " जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है - सन्मार्ग पर चलाता है" हम उसका चिंतन करें, ऐसा वेदविद् पुरूष कहते हैं, अब 'भर्ग शब्द का कथन करते है-

अथ भर्गा इति यो ह वा अमुष्मिन्नादित्ये

निहितस्तारकोऽक्षिणि वैष भर्गाख्यः भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गः भर्जयतीति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ भ इति भासयतीमान् लोकान् र इति रञ्जयतीमानि भूतानि ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भ-रग-त्वाद्भर्गः शाश्वत् सूयमानात् सूर्यः सवनात् सविताऽदानात् आदित्यः पवनात्पावनोऽथापोप्यायनादित्येवं ह्याह

यह 'भर्ग' वही है जो आदित्य मंडल मे स्थित है, आखँ की पुतली मे भी 'भर्ग' नाम से यही रहता है, इसकी कान्ति से ही मनुष्य गति कर सकता है, इसलिए 'भर्ग' है (भर्जयतीतिवाएष भर्ग:) जो सर्व जगत् का संहार करता है इससे 'भर्ग' है, (भासयतीमान्

लोकानितिभः) अपने मंडल अंतर्गत प्रकाश करकें सर्व जगत् को प्रकाशित करता है इस कारण 'भर्ग' है (रंजयतीमानि भूतानि इति रः) अपने आनन्दरूप से सर्व प्राणी वर्ग को आनन्दित करता है इसलिए 'भर्ग' है (गच्छन्त्यस्मिन् वा आगच्छन्य स्मात् सर्वा इमाः प्रजप्रजा इति गः) और सुषुप्ति प्रबोध ममें वा महाप्रलय उत्पत्ति काल में सर्व प्रजा परमात्मा में लीन होकर फिर उत्पन्न होती है इस कारण 'भर्ग' है और (शश्वत् सूयमानात् सूर्य्यः) निरन्तर उदय और अस्त होकर प्रातः कालादि करने से सूर्य है, और सर्व प्राणी वर्ग की वृष्टि अन्न वीर्यादि द्वारा उत्पत्तिकर्ता होने से सविता है, (आदानात् आदित्यः) पृथ्वी का रस तथा प्राणी वर्ग की आयु को ग्रहण करने से आदित्य है (पवनात् पावनोप्येषएव) सबको पवित्र करने से पावन नाम वायु भी यह परमेश्वर है, और अप नाम जल भी परमेश्वर ही है ऐसे ब्रह्मवादि कहते हैं इस प्रकार गायत्री मंत्र के दोपाद से अधि देवतत्व का निश्चय करा, अर्थात सूर्य, वायु, जल उपलक्षित यावत् देवतारूप परमात्मा का बोधन करा, और यावत् जगत् उत्पत्ति, पालन, संहार कर्तृत्व बोधन करा तथा जगतलयधार और जगत उत्पादन कारण भी 'भर्ग' पदव्याख्यान से कहा,

इस कारण जड प्रकृति जगत् का उत्पादन कारण दयानंद का यह पक्ष गायत्री ब्रह्म विद्या विरुद्ध है इसलिए उसे मिथ्या जानना ही बुद्धिमानों को उचित है

इस प्रकार वेद, उपनिषद आदि से गायत्री अर्थ वर्णन किया, अब यहाँ यह भी विचारणीय है कि दयानंद ने अपने सत्यार्थ प्रकाश के अंत में (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः) प्रकरण में यह लिखा है कि "११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनायें ग्रंथ है" इस कारण

गायत्री जो चतुर्वेद प्रधान है उसका अर्थ किसी एक व्याख्यान की रीति से तो दयानंद को लिखना अवश्य था, और यहाँ ध्यान देने वाली बात है कि दयानंद की दयानंद ने जो ये ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) शाखा लिखीं है वो भी गलत लिखा है क्योंकि महाभाष्य की रीति से ११३१ (ग्यारह सौ इकत्तीस) शाखा होती है अब यहाँ विचारणीय है कि इन मंत्रों के व्याख्यान होने पर भी दयानंद को एक व्याख्यान भी गायत्री मंत्र के अर्थ निरूपण वास्ते न ममिला, तो फिर इनके कल्पित अर्थों को कौन मानेगा?

॥आचमन प्रकरणम्॥

सत्यार्थ प्रकाश तृ• समु• पृष्ठ ३३

❝'आचमन' से कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी सी होती है, पश्चात् 'मार्जन' अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से नेत्रदि अंगों पर जल छिड़के, उस से आलस्य दूर होता है जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे❞

समीक्षक-- वाह रे स्वामी मुर्खानंद! आपके अनुसार 'आचमन' कफ और पित्त की शांति के लिए है अब कोई इन मुर्खानंद महाशय से पूछें कि यदि 'आचमन' कफ और पित्त की निवृत्ति के लिए है तो क्या संध्याकाल में सभी लोग कफपित्त ग्रसित होते हैं, और सबको आलस्य और निद्रा दबाये रहती है वह समय निद्रा का तो बिलकुल नहीं है और यदि 'आचमन' कफ और पित्त की निवृत्ति के लिए ही है तो फिर हाथ में जल लेकर गायत्री और ब्रह्मतीर्थ ही से 'आचमन' करने की क्या आवश्यकता है? और क्या कफ और पित्त ने प्रतिज्ञापत्र लिखा है कि रोज

संध्यासमय संस्कार कर्ता तथा संध्या करने वालों के कंठ में फेरा करेंगे, और यदि 'मार्जन' का प्रयोजन आलस्य दूर करना ही है तो कोई अन्य बेहतर उपाय जैसे चाय कॉफी पी लिया करो, या फिर सबसे अच्छा उपाय है कि अमोनिया की सीसी लेकर सूंघ लिया करों उससे तो मूर्छित व्यक्ति भी उठ खड़ा हो फिर तुम्हारे आलस्य की तो बात ही क्या? और संध्या तो प्रात:काल स्नान करने के बाद ही होता है फिर स्नान करते ही आलस्य आ गया वाह! समझ नहीं आता कि तुम मनुष्य की औलाद हो या फिर राक्षस कुंभकर्ण की औलाद जो तुम्हें हमेशा निद्रा और आलस्य ही घेरे रहती है, अब तुम ही बताओ यदि स्नान करने के बाद भी तुम्हारा आलस्य दूर नहीं होता तो भला 'मार्जन' से कैसे हो सकता है? इस कारण स्वामी मुर्खानंद जी आपका यह कथन पुरी तरह से मिथ्या ही सिद्ध होता है 'आचमन' करने से आभ्यंतर शुद्धि होती है देखिए मनुस्मृति में किस प्रकार लिखा है-

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदा चन ॥१॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।

कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे देवं पित्र्यं तयोरधः ॥२॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।

खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥३॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।

शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥४॥

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।

वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥५॥

~[मनुस्मृति : अध्याय २, श्लोक ५८-६२]

ब्राह्मण सदा ब्रह्म तीर्थ या प्रजापति तीर्थ अथवा देव तीर्थ से 'आचमन' करें, उसे कभी पितृ तीर्थ से 'आचमन' नहीं करना चाहिए ॥१॥

अब अगले श्लोक में यह बताया गया है कि ये तीर्थ हाथ में कहां होते हैं।

हाथ के अंगूठे के मूल में ब्रह्म तीर्थ, कनिष्ठ उंगली का मूल प्रजापति तीर्थ इसी उंगली के आगे वाला भाग देव तीर्थ तथा अंगूठे एवं तर्जनी उंगली के बीच पितृ तीर्थ होता है ॥२॥

सबसे पहले तीन बार जल से 'आचमन' करें, इसके बाद दो बार मुख को धोकर तत्पश्चात ज्ञानेन्द्रिय को, सिर को, हृदय को जल से स्पर्श करें ॥३॥

पवित्रता के इच्छुक धर्मात्मा व्यक्ति ठंडे और फेन रहित (शुद्ध) जल से ब्रह्म आदि तीर्थों से एकान्त में पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठे हुए 'आचमन' करें ॥४॥

'आचमन' के समय जल जब ब्राह्मण के हृदय तक पहुँचता है तभी वह पवित्र होता है, कंठ में जल पहुँचने पर क्षत्रिय तथा मुख में जल पहुँचने पर वैश्य पवित्र होता है और शुद्र जल को छूने मात्र से ही पवित्र हो जाता है ॥५॥

अब बोलिए स्वामी धूर्तानंद जी क्या बोलते हैं? मनु के इन श्लोकों ने आपके कल्पित अर्थ की धज्जियां ही उडा दी, फिर आपने मनसा परिक्रमा करनी लिखीं हैं सो आप बताए कि परिक्रमा काहे की करें आपकी या आपके इस सत्यार्थ प्रकाश की? क्योकि परमात्मा को तो आप निराकार मानते हैं फिर उसकी परिक्रमा कैसी? और जल तो कफ निवृत्ति के अर्थ है,

आप (मनुस्मृति २/१०४) इस श्लोक में जल के पास बैठकर गायत्री जप लिखते हैं, परन्तु आपके जो चैले आलस्य और कफपित्त ग्रसित रहते हैं वो तो आपके मतानुसार कोट पतलून पहनकर कोठी, बंगलों में ही जप कर लिया करेंगे।

सत्यार्थ प्रकाश तृ• समु• पृष्ठ ३४

❝ 'स्वाहा' शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं❞

समीक्षक-- धन्य हे! स्वामी जी आपकी बुद्धि और आपका दौ कौड़ी का ज्ञान, मिथ्या भाषण करना तो आपके डि.एन.ए. में हैं जरा बताए कि यह स्वाहा का अर्थ आपने किस निघण्टु एंव निरूक्त से निकाला है और ऊपर जो आपने यह लिखा है कि 'प्राणय स्वाहा' अब आपके मतानुसार तो इसका अर्थ यह होता है कि 'प्राण' अर्थात परमेश्वर के अर्थ जैसा ज्ञान आत्मा में होवे वैसा ही जीभ से बोलें, भला यह क्या बात हुई? इससे हवन की कौन सी कला सिद्ध होती है? आपके द्वारा किया 'स्वाहा' का ऐसा कल्पित अर्थ न तो आज पहले किसी न किया और न ही किसी ने सुना होगा?

सुनिए स्वाहा अव्यव है जिसके अर्थ हवि त्याग करने के है, जिस देवता के उद्देश्य से अग्नि में हवि दिया जाता है उसमें 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग होता है, जैसे "प्राणाय स्वाहा" अर्थात प्राणों के अर्थ हवि देता हूँ, कुछ समझ में आया मुर्खानंद जी या नहीं, न जाने आप निघण्टु , निरूक्त विरुद्ध नए नए अर्थों की कल्पना करके क्या सिद्ध करना चाहते हों?

सत्यार्थ प्रकाश तृ• समु• पृष्ठ ३४

❝सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धियुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है

(प्रश्न) चन्दनादि घिस के किसी को लगावे वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डाल के व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

(उत्तर) जो तुम पदार्थविद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते। क्योंकि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म हो के फैल के वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

फिर आगे इसी पृष्ठ पर लिखा है कि "मन्त्रें में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने में लाभ विदित हो जायें और मन्त्रें की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें"

और पृष्ठ ३२ पर लिखा है कि "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासवु। यद्भद्रं तन्न आ सवु॥

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से आहुति देवे❞

समीक्षक- वाह रे स्वामी धूर्तानंद! क्या कहने आपके? आपके नियोगी चैले तो कहते हैं कि हजारों ग्रंथों का अध्ययन करने के बाद आपने यह तथाकथित ग्रंथ तैयार किया, घंटा हजारों ग्रंथों का अध्ययन किया, आपकी वेदज्ञता तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि हवन करने, मंत्र उच्चारण और घृतादि से आहुति देने का फल क्या है? इस विषय में वेदादि ग्रंथों से एक प्रमाण तक नहीं दे पायें, कम से कम एक दो प्रमाण तो दे दिए होते, और तो और आपकी अग्निहोत्र की विधि भी वेद विरुद्ध ही है और जहाँ तक

पदार्थ विद्या की बात है, तो तुम्हारी पदार्थ विद्या तो अष्टम और नवम समुल्लास में ही दिख जाती है जहाँ तुमने सूर्य, चन्द्र, तारे आदि पर मनुष्यों की प्रजा और आसमान का नीला रंग पानी के कारण होना लिखा है, किन्तु उसका खंडन हम वही करेंगे, फिलहाल आपके इस पदार्थ विद्या की धज्जियां उडाते है

आपने जो यह अग्निहोत्र का प्रयोजन जलवायु की शुद्धि होना सिद्धांत किया हैं, आपका यह कल्पित सिद्धांत शास्त्र और युक्ति दोनों के विरुद्ध है यदि घृतादि से आहूति देना मात्र जलवायु की शुद्धि निमित्त है, तो इन पाँच आहूतियों से क्या होगा? इससे अच्छा तो किसी नियोग समाजी के घी के गोदाम में आग लगा देनी चाहिए, जब सैकड़ों, हजारों टन घी जलें तो खुब जलवायु की शुद्धि हो अनेकानेक लोगों का उपकार हो जाएं,

अब सुनिये पदार्थ विद्या को जानने वाले विद्वान यह बात भलीभाँति जानते हैं कि जलवायु की शुद्धि तो परमात्मा के बनाये नियम से स्वतः ही होती रहती है जैसे- सूर्य की आकर्षण शक्ति जल की तरलता बादलों का बनना फिर बरसना, और वन में अपने सुगन्धित पुष्प, ओषधियों आदि का उत्पन्न होना, वायु की प्रसरण शक्ति सुगंधित पुष्पादि के परमाणुओं का वायु में मिलना, ऋतु परिवर्तन आदि, इन सब कारणों से जलवायु की शुद्धि होती है, और यह सब इतने बड़े स्तर पर होता है कि उसकी तुलना में आपका यह सिद्धांत कुछ भी नहीं, यह तो थी पदार्थ विद्या अब आते हैं आपके दूसरे सिद्धांत पर,

अब देखिए यहाँ गायत्री के साथ स्वाहा लगाकर होम करना लिखा है, वाह रे! मेरे मुर्खानंद भला इसमें कौन से हवन के लाभ का अर्थ है? (गायत्री मन्त्र का अर्थ इससे पूर्व कर आए हैं) आपके मतानुसार होम में मंत्रों का उच्चारण मंत्र कंठस्थ करने

के लिए, घृतादि से आहुति जलवायु की शुद्धि निमित्त, और अब यह गायत्री के साथ स्वाहा और लगवा दिया, और तो और स्वाहा का अर्थ भी आपका कल्पित ही है अब आपके हवन का कोई अर्थ तो रहा नहीं बस बेमतलब घी फूंकें जाइए, प्रथम तो स्वामी जी ने इससे चुटिया बंधवाई, फिर रक्षा की,फिर जप किया, अवधि फूंका, यहाँ तक की दयानंदी मृतकों का अंतिम संस्कार भी गायत्री से करते हैं देखिए एक गायत्री से कितने लाभ लिए आगे जब और विद्या की उन्नति होगी तब इसमें इंजन लगाकर रेल चलवायेंगे और पंख लगाकर हवाई जहाज उडायेगें,

और जब हवन करने से वायु की शुद्धि मात्र होती है तो फिर ये प्रात: साय संध्या का नियम व्यर्थ ही है, फिर तो जब चाहें आग में घी उडेल दिया उसके लिए स्नानादि की भी कोई आवश्यकता नहीं, जब जी करें चूल्हे या भट्टी में घी झोक दें, फिर यह पृष्ठ ३३ पर चमचा, कटोरी, थाली, प्रोक्षणीपात्र, प्रणीतापात्र, आज्यस्थली आदि का विधान क्यों लिखा है केवल करछा भर-भर कर घी उडेलना लिख देते,

फिर आप लिखते है कि होम में मंत्र उच्चारण करने से मंत्र कंठस्थ होते हैं, जब मंत्र कंठस्थ करना ही इष्ट है तो याद करने वाले तो बिना हवन किये ही परिश्रम कर कंठस्थ कर सकते हैं, और केवल होम में प्रयोग होने वाले मंत्र ही क्यों कंठस्थ करना? बाकी के वेद मंत्र क्या व्यर्थ के है? और जब मंत्र कंठस्थ करने का ही लाभ हैं तो फिर स्वाहा लगाने की क्या आवश्यकता है? चाहे जहाँ के मंत्र पढ़ दिये फिर नियत मंत्र से आहूति देना यह क्यों लिखा है?

सुनिए! स्वामी धूर्तानंद जी हवन करने से केवल जलवायु की शुद्धि और मंत्रों का उच्चारण मंत्रों को कंठस्थ करने के लिए यह

सिद्धांत आपका ठीक नहीं, क्योकि हवन करने घृतादि से आहूति देने और मंत्रों के उच्चारण से सुख, धैर्य, धन-धान्य, रक्षा सामर्थ्य, पाप नष्ट होने के साथ साथ स्वर्ग की प्राप्ति भी होती है, देखिए आपको वेदादि ग्रंथों से प्रमाण देते हैं-

प्रथम घृतादि से हवन करने व उसके फल का कथन करते हैं देखें-

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तम् सम् इधीमहि। अग्ने बृहन्तम् अध्वरे॥४॥

घृताच्य् असि जुहूर् नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियम् सद ऽ आ सीद। घृताच्य् अस्य् उपभृन् नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियम् सद ऽ आ सीद। घृताच्य् असि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियम् सदऽ आ सीद। प्रियेण धाम्ना प्रियम् सद ऽआ सीद। ध्रुवा ऽ असदन्न् ऋतस्य योनौ ता विष्णो पाहि। पाहि यज्ञं। पाहि यज्ञपतिम्। पाहि मां यज्ञन्यम्॥६॥ ~[यजुर्वेद अ० २, मंत्र ४,६]

भूत-भविष्य के ज्ञाता हे क्रान्तदर्शी अग्निदेव! ऐश्वर्य प्राप्ति की कामना करने वाले तेजस्वी, महान, याजक यज्ञ में आपको समिधा द्वारा प्रज्वलित करते हैं॥४॥

हे जुहू! आप अपने प्रिय घृत से पुर्ण होकर इस यज्ञ-स्थल में स्थापित हो, हे उपभृत्! आप घृत से युक्त होकर अपने प्रिय यज्ञ-स्थल पर स्थापित हो, हे ध्रुवा! आप अपने प्रिय घृत द्वारा सिंचित होकर यज्ञ-स्थल पर स्थापित हो, हे यज्ञ-स्थल पर प्रतिष्ठित विष्णुदेव! आप यज्ञ-स्थल पर स्थापित सभी साधनों, उपकरणों, यज्ञकर्ताओं एंव हमारी रक्षा करें॥६॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर् बोधयतातिथिम्।

आस्मिन् हव्या जुहोतन॥१॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।

अग्नये जातवेदसे॥२॥

तं त्वा समिद्भिर् अङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।

बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥३॥

उप त्वाग्ने हविष्मतीर् घृताचीर् यन्तु हर्यत।

जुषस्व समिधो मम॥४॥ ~[यजुर्वेद अ० ३, मंत्र १-४]

हे ऋत्विजो! आप घृतसिक्त समिधा से (यज्ञ में) अग्नि को प्रज्वलित करें, घृत की आहूति प्रदान करकें सब कुछ आत्मसात् करने वाले अग्निदेव को प्रदीप्त करें, और अनेक प्रकार के हव्य पदार्थों द्वारा यज्ञ करते हुए इन्हें दीप्तियुक्त बनाओं॥१॥

हे ऋत्विजो! भली प्रकार से प्रज्वलित, जाज्वल्यमान, सर्वत्र (जातवेद) देदीप्यमान यज्ञाग्नि में शुद्ध घृत की आहुतियाँ प्रदान करें॥२॥

हे (ज्वालाओं से) प्रदीप्त अग्निदेव! हम आपको घृत (और उससे सिक्त) समिधाओं से उद्दीप्त करते हैं, हे नित्य तरूपा (तेजस्वी) अग्निदेव! (घृत आहुति प्राप्त होने के बाद) आप ऊँची उठने वाली ज्वालाओं के माध्यम से प्रकाशयुक्त हो॥३॥

हे अग्निदेव! आपको हवि-द्रव्य और घृत-सिक्त समिधा की प्राप्ति निरंतर हो, हे दीप्तिमान अग्निदेव! आप हमारे द्वारा समर्पित समिधाओं को स्वीकार करें॥४॥

घृतं मिमिक्षे घृतम् अस्य योनिर् घृते श्रितो घृतम् व् अस्य धाम।
अनुष्वधम् आ वह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥
यजुर्वेद अ० १७, मंत्र ८८]

यह घृत इन अग्नि का उत्पत्ति स्थान है, घृत ही इन्हें तीक्ष्ण करने वाला है, अग्नि इस घृत के ही आश्रित है अतः मैं इन अग्नि के मुख में घृत सींचने की इच्छा करता हूँ, हे अध्वर्यो! हवि संस्कार के बाद अग्नि का आह्वान करों और जब यह तृप्त हो जाएं तब इनसे हवियों को देवताओं तक पहुँचाने का निवेदन करों।

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो ऽ अग्निम्।

घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥

~[यजुर्वेद अ० १७, मंत्र ९६]

घृत की धाराएं अग्नि में गिरकर समिधाओ को व्याप्त करती हुई, अग्नि में सुसंगत होती है, वे जातवेदा अग्नि उन घृत धाराओं की बारम्बार इच्छा करते हैं।

अभ्य् अर्षत सुष्टुतिं गव्यम् आजिम् अस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।

इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते॥

~[यजुर्वेद अ० १७, मंत्र ९८]

हे देवों! आप श्रेष्ठ स्तुतियों और घृत वाले इस यज्ञ में आओं, यह मधुमयी घृत धारायें गिर रही है, इन अधूर आहूतियों को स्वर्ग लोक में प्राप्त करायें और हमें सब प्रकार के कल्याणकारी धन-धान्य ऐश्वर्य प्रदान करें।

अब मंत्र पढ़कर होम करने के फल का कथन करते हैं देखें-

विश्वेऽअद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्व् अग्नयः समिद्धाः।

विश्वे नो देवाऽअवसा गमन्तु विश्वम् अस्तु द्रविणं वाजो ऽ अस्मे॥

~[यजुर्वेद अ० १८, मंत्र ३१]

हमारे इस यज्ञ में आज सभी मरूद्गण आगमन करें, सभी गणदेवता रूद्र और आदित्य भी आवें, विश्वदेवा भी हमारी हवियों

को ग्रहण करने को आवें, सभी अग्नियाँ प्रदीप्त हो और हमें ऐश्वर्य व अन्न की प्राप्ति हो ॥

आयुर् यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर् यज्ञेन कल्पताम् श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पताम् आत्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर् यज्ञेन कल्पताम् स्वर् यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । स्तोमश् च यजुश् च ऽ ऋक् च साम च बृहच् च रथन्तरं च। स्वर् देवा ऽ अगन्मामृता ऽ अभूम प्रजापतेः प्रजा ऽ अभूम वेट् स्वाहा
~[यजुर्वेद अ० १८, मंत्र २९]

इस यज्ञ के फल से आयु वृद्धि हो, यज्ञ के प्रसाद से हमारे प्राण रोग रहित हो, यज्ञ के प्रभाव से हमारे चक्षु ज्योति वाले हो हमारे कान और वाणी उत्कर्षता को प्राप्त करें, यज्ञ के प्रभाव से हमारा मन स्वस्थ हो, यज्ञ के फलस्वरूप हमारी आत्मा आनन्दित हो, यज्ञ की कृपा से हम शास्त्रों से प्रिति करें, यज्ञ के प्रभाव से हमें परम ज्योति रूप ईश्वर की प्राप्ति हो, यज्ञ के कारण हम स्वर्ग को पावें, यज्ञ के प्रभाव से ही मैं महायज्ञ कर सकूँ स्तोम, यजुः, ऋक्, साम, बृहत् साम और स्थन्तर साम भी यज्ञ के प्रभाव से वृद्धि को प्राप्त हो, इस यज्ञ के फल से हम देवत्व लाभ कर स्वर्ग में पहुँचे, हम प्रजापति परमात्मा की प्रजा में सुख भोग करें, इसी अभिलाषा से प्रेरित यह विशिष्ट आहुति दी जाती है, सब देवतागण इसे ग्रहण करें॥

वाजश् च मे प्रसवश् च मे प्रयतिश् च मे प्रसितिश् च मे धीतिश् च मे क्रतुश् च मे स्वरश् च मे श्लोकश् च मे श्रवश् च मे श्रुतिश् च मे ज्योतिश् च मे स्वश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१॥

प्राणश् च मे ऽपानश् च मे व्यानश् च मे ऽसुश् च मे चित्तं च म ऽ आधीतं च मे वाक् च मे मनश् च मे चक्षुश् च मे श्रोत्रं च मे दक्षश् च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२॥

ओजस् च मे सहश् च म ऽ आत्मा च मे तनूश् च मे शर्म च मे वर्म च मे ऽङ्गानि च मे ऽस्थीनि च मे परूम् षि च मे शरीराणि च म ऽ आयुश् च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥३॥

ज्यैष्ठ्यं च मे ऽ आधिपत्यं च मे मन्युश् च मे भामश् च मे ऽमश् च मे ऽम्भश् च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥४॥

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच् च मे धनं च मे विश्वं च मे महश् च मे क्रीडा च मे मोदश् च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥५॥

ऋतं च मे ऽमृतं च मे ऽयक्ष्मं च मे ऽनामयच् च मे जीवातुश् च मे दीर्घायुत्वं च मे ऽनमित्रं च मे ऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश् च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥६॥

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश् च मे धृतिश् च मे विश्वं च मे महश् च मे संविच् च मे ज्ञात्रं च मे सूश् च मे प्रसूश् च मे सीरं च मे लयश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥७॥

शं च मे मयश् च मे प्रियं च मे ऽनुकामश् च मे कामश् च मे सौमनसश् च मे भगश् च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश् च मे वसीयश् च मे यशश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥८॥

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश् च मे रसश् च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश् च मे सपीतिश् च मे कृषिश् च मे वृष्टिश् च मे जैत्रं च म ऽ औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥९॥

रयिश् च मे रायश् च मे पुष्टं च मे पुष्टिश् च मे विभु च मे प्रभु च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे कुयवं च मे ऽक्षितं च मे ऽन्नं च मे ऽक्षुच् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१०॥

वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच् च मे सुगं च मे सुपथ्यं च म ऽ ऋद्धं च म ऽ ऋद्धिश् च मे क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश् च मे मतिश् च मे सुमतिश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥११॥

व्रीहयश् च मे यवाश् च मे माषाश् च मे तिलाश् च मे मुद्गाश् च मे खल्वाश् च मे प्रियङ्गवश् च मे ऽणवश् च मे श्यामाकाश् च मे नीवाराश् च मे गोधूमाश् च मे मसूराश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१२॥

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश् च मे पर्वताश् च मे सिकताश् च मे वनस्पतयश् च मे हिरण्यं च मे यश् च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१३॥

अग्निश् च म ऽ आपश् च मे वीरुधश् च म ऽ ओषधयश् च मे कृष्टपच्याश् च मे ऽकृष्टपच्याश् च मे ग्राम्याश् च मे पशव ऽ आरण्याश् च मे वित्तं च मे वित्तिश् च मे भूतं च मे भूतिश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१४॥

वसु च मे वसतिश् च मे कर्म च मे शक्तिश् च मे ऽर्थश् च म ऽ एमश् च म ऽ इत्या च मे गतिश् च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१५॥

इस यज्ञ से हमारे लिए अन्न-सम्पदा ऐश्वर्य, पुरूषार्थ, परायणता, प्रबन्ध क्षमता , बुद्धि की निर्णय क्षमता, कर्तव्यशक्ति स्वर, श्रवण क्षमता , ज्ञान सम्पदा, तेजस्विता और आत्मशक्ति प्राप्त हो ॥१॥

हमें इस यज्ञ के फल से प्राण, अपान, व्यान, मानस संकल्प,ब्रह्म, ज्ञान, वाणी-सामर्थ्य, मन, चक्षु, श्रोत्र, ज्ञानेन्द्रिय और बल की प्राप्ति हो ॥२॥

इस यज्ञ के फलस्वरूप हमें ओज, बल, आत्मज्ञान, शरीर-पुष्टि,कल्याण कवच, अंगों की दृढ़ता, अस्थि आदि की दृढ़ता, अंगुली आदि की दृढ़ता, आरोग्य, प्रवृद्धता और आयु की प्राप्ति हो ॥३॥

इस यज्ञ के फलस्वरूप हमें श्रेष्ठता, स्वामित्व, बाह्यकोप, आन्तरिककोप, अपरिमेयत्व, मधुर जल, बल, महिमा, वरिष्ठता,

दीर्घ जीवन, वंश परंपरा, ऐश्वर्य और विद्यादि गुण उत्कृष्टता को प्राप्त हो ॥४॥

यज्ञ फल के रूप में हमें सत्य, श्रद्धा, धन, स्थावर जंगमयुक्त जगत्, महता, क्रीडा, मोद, अपत्यादि, ऋचाएं और ऋचाओं के पाठ द्वारा शुभ भविष्य की प्राप्ति हो ॥५॥

हमें यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के फल रूप में स्वर्ग प्राप्ति, रोगाभाव, व्याधियों का अभाव, औषधि, दिर्घआयु, शत्रुओं का अभाव, अभय, आनंद, सुख शैय्या, श्रेष्ठ प्रभात और यज्ञ, दान आदि कर्मों से युक्त कल्याणकारी दिवस देवताओं की कृपा से प्राप्त हो ॥६॥

यज्ञ फल के रूप मे मुझे नियंत्रण-क्षमता, प्रजा-पालन-सामर्थ्य, धन-रक्षा-सामर्थ्य, धैर्य, सबकी अनुकुलता, सत्कार, शास्त्र-ज्ञान, विज्ञान-बल, अपत्यादि का सामर्थ्य, कृषि आदि के लिए उपयुक्त साधन, अनावृष्टि का अभाव, धन-धान्यादि की प्राप्ति हो ॥७॥

हमे इस लोक का सुख प्राप्त हो परलोक का सुख भी मिले, प्रसन्नता देने वाले पदार्थ हमारे अनुकूल हो, हम इन्द्रिय सम्बन्धी सब सुखों का भोग करें, हमारा मन स्वस्थ रहे हम सौभाग्यशाली रहकर धन प्राप्त करें, हमें श्रेष्ठ निवास वाला घर और यश यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त हो ॥८॥

यज्ञादि के फलस्वरूप हमें अन्न, ज्ञानमयी वाणी, दूध, रसयुक्त पेय, घृत, मधु आदि प्राप्त हो, हम अपने बंधुओं के साथ मिलकर भोजन करने वाले हो, वृष्टि हमारे लिए धान्य उत्पन्न करने वाली तथा हमारी कृषि सुविकसित और अनुकूल बनें, हमारे वृक्षों की बढोतरी भली प्रकार हो, और हम विजय के लिए उपयुक्त शक्ति सम्पन्न होकर शत्रुज्यी बने ॥९॥

यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के फल से हमारी संपदा हमारे ऐश्वर्य हर प्रकार से पुष्ट हो, शरीर आदि की भी सब प्रकार से पुष्टि हो, हमारी व्यापकता, प्रभुता, पुर्णता और धन-धान्य की प्रचुरता में पर्याप्त वृद्धि होती रहे, हमारे कुवय धान्य, क्षय रहित अन्न, पुष्टिकारक अन्न और हमारी क्षुधा में भी अभिवृद्धि होती रहे ॥१०॥

यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के फल से हमारे धन-द्रव्यादि में निरंतर अभिवृद्धि हो, पूर्व संचित धन और भावी प्राप्त धन में वृद्धि हो, धन प्राप्ति के कर्म सुगम और पथ अवरोधों से मुक्त हो, यज्ञीय सत्कर्म समृद्ध हो, हमारे ये कर्म श्रेष्ठ द्रव्य और सत् सामर्थ्य बढाने वाले हो, ये (यज्ञीय सत्परिणाम) हमारी मति को उच्च बनाने वाले व सबके लिए हितकारी हो ॥११॥

यज्ञादि कर्मों के फलस्वरूप हमारे लिए ब्रिहि धान्य, जौ, उरद, तिल, मूँग, चना, कांगनी, चावल, साँवा चावल, गेहूं और मसूर आदि धान्यों में वृद्धि हो ॥१२॥

यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के फल से हमारे पाषाण, उत्तम मिट्टी, छोटे बड़े पर्वत, रेत, वनस्पति, स्वर्ण, लौहा, ताम्र, रांग आदि में बढ़ोतरी होती रहे ॥१३॥

यज्ञ के फल से देवतागण हमारे लिए अग्नि को और आकाशीय जल को अनुकूल बनाये, गुल्म, तृण, वनस्पति, औषधीयाँ पूर्णरूप से विकसें यह यज्ञ ग्राम्य और जंगली पशुओं को पुष्ट करें,पूर्व प्राप्त और भावी प्राप्य धन, पुत्रादि सुख और ऐश्वर्य आदि में अधिवृद्धि हो ॥१४॥

यज्ञ के फल से देवतागण हमें गवादि धन, गृह-सम्पति, विविविध कर्म और यज्ञादि का बल, प्राप्तव्य धन, इच्छित पदार्थ प्राप्त

करावें, हमारी सभी कामनाएं देवताओं की कृपा से पूर्ण हो ॥१५॥

और सुनिए-

अयं नो ऽ अग्निर् वरिवस् कृणोत्व् अयं मृधः पुर ऽएतु प्रभिन्दन्। अयं वाजान् जयतु वाजसाताव् अयम् शत्रून् जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥ ~[यजुर्वेद अ० ५, मंत्र ३७]

यह अग्नि हम लोगों को श्रेष्ठ धन प्रदान करें यह अग्नि शत्रुओं का विनाश करती हुई हमारे समक्ष प्रकट हो, यह अग्नि अन्न की कामना करने वाले यजमानों को, शत्रुओं से प्राप्त धन प्रदान करती हुई विजयी हो, यह अग्नि शत्रुओं को प्रसन्नता पूर्वक जीते, तथा हमारे द्वारा समर्पित आहुतियों को ग्रहण करें।

सीद होतः स्व ऽ उ लोके चिकित्वान् सादया यज्ञम् सुकृतस्य योनौ। देवावीर् देवान् हविषा यजास्य् अग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः ॥३५॥

सम् सीदस्व महाम्२ ऽ असि शोचस्व देववीतमः। वि धूमम् ऽ अग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥३७॥

~[यजुर्वेद अ० ११, मंत्र ३५,३७]

हे देवताओं का आह्वान करने वाले अग्निदेव सब कर्मों के ज्ञाता, आप अपने प्रतिष्ठित स्थान को सुशोभित करें, और श्रेष्ठ कर्मरूपी यज्ञ को सम्पन्न करें, देवों की भांति तृप्त करने वाले हे अग्ने! आप याजकों द्वारा प्रदत्त आहुति से देवताओं को आनन्दित करते हुए, याजकों को धन-धान्य एवं दिर्घायुष्य प्रदान करें ॥३५॥

यज्ञीय गुणों से युक्त प्रशंसनीय हे अग्ने! आप देवताओं के स्नेह पापात्र और महान गुणों के प्रेरक है, यहाँ उपयुक्त स्थान पर पधारें और प्रज्वलित हो तथा घृत की आहूति द्वारा दर्शन-योग्य एवं तेजस्वी होते हुए सघन धूम्र को विसर्जित करें ॥३७॥

इसी प्रकार सामवेद आदि में भी अग्नि को देवताओं का दूत लिखा है और घृतादि श्रेष्ठ पदार्थों से आहुति देना लिखा है क्योंकि घृत देवताओं को प्रिय है जिसका प्रमाण पूर्व दे आए हैं अब श्रीमद्भगवद्गीता और मनुस्मृति से हवन के लाभ का कथन करते हैं सो सुनिये-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
~[श्रीमद्भगवद्गीता- ९/२०]

अर्थ- तीनों वेदों (ऋक्, यजु और साम) में विधान किए हुए सकाम कर्मों को करने वाले, सोम रस को पीने वाले, पापरहित पुरुष मुझको यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

~[मनुस्मृति- अ० २, श्लोक २८]

सब उत्तम विद्याओं को पढन-पढाने, व्रतों को करने, हवन करने आदि से यह शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।

दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्॥७५॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥७६॥

~[मनुस्मृति- अ० ३, श्लोक ७५-७६]

नित्य यज्ञ-हवन आदि करने से इस जगत के समस्त जड-चेतन का पालन तथा विकास होता है, क्योकि यजमान द्वारा अग्नि में डाली जाने वाली आहुति सूर्य को पहुँचती है, सूर्य ही वर्षा का कारण है, वर्षा से ही खेतों में अन्न होता है और इसी अन्न से प्रजा का पालन होता है ॥७५-७६॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥

~[मनुस्मृति : अ० २, श्लोक १०२]

प्रात:काल की संध्या से रात्रि के और सांयकाल की संध्या से दिन के पाप नष्ट होते हैं इसी प्रकार दोनों समय की गई संध्या से व्यक्ति के सभी पाप नष्ट होते हैं इसी प्रकार हवन से भी पाप नष्ट होते हैं क्योंकि वेद मंत्र पापक्षय कारक होते हैं और जिनकी विधि है वही मंत्र हवन में उच्चारण किए जाते हैं ॥

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ३५

❝षट्त्रिशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्।

तदिर्धकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ -यह मनुस्मृति [३/१] का श्लोक हैं॥

अर्थ-आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त अर्थात् एक-एक वेद के सांगोपांग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिल के छत्तीस और आठ मिल के चवालीस अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिल के छब्बीस वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे❞

समीक्षक-- यदि स्वामी मुर्खानंद जी के द्वारा किया यह अर्थ किसी विद्वान व्यक्ति के समझ में आ जाए तो मुझे अवश्य समझायें, क्योकि स्वामी मुर्खानंद जी द्वारा किया गया यह कल्पित अर्थ बुद्धिमान लोगों की समझ से परें है, स्वामी जी ने इसमें स्वयं ही कल्पना करकें मिथ्या अर्थ तैयार किया है, प्रथम तो कोई इनसे यह पूछे कि यह इतना लम्बा चौड़ा अभिप्राय कौन से अक्षरों से सिद्ध होता है, और जो यह आठ, छब्बीस और चवालीस जो अर्थ किया है यह अर्थ किन पदो से सिद्ध होता है, या फिर भंग के नशे में उल्टा सिधा जो भी मुहँ में आया सो बक दिया और जो मन किया सो लिख दिया, क्योकि इस श्लोक का तुमने जो अर्थ किया है उसका यह अर्थ तो कतई नहीं बनता, देखिए सही अर्थ इस प्रकार है-

षट्त्रिशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्।

तदिर्धकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥

(गुरौ) गुरूकुल में ब्रह्मचारी को, (षट्त्रिशदाब्दिकं) छत्तीस वर्ष तक निवास करकें, (त्रैवैदिकं व्रतम्) तीनों वेदों (ऋक्, यजु और साम) का पूर्ण अध्ययन, (चर्य्यं) करना चाहिए। छत्तीस वर्ष तक सम्भव न होने पर (तद् अर्धिकम्) उसके आधे अर्थात अट्ठारह वर्ष तक, (वा) या उतना भी सम्भव न होने पर, (पादिकं) उसके आधे अर्थात नौ वर्ष तक, (वा) या उतने काल तक जितने में, (ग्रहण अन्तिकम्) वेदों में निपुणता प्राप्त हो सके रहना चाहिए॥

अब बोलिए स्वामी भंगेडानंद जी क्या बोलते हैं? इस श्लोक से तो आपका अर्थ किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता, इससे ही आपकी बुद्धि का पता लगता है और मैं तो कहता हूँ कि आप में बुद्धि ही नहीं थी यदि होती तो इस प्रकार अपनी कल्पना से

मिथ्या अर्थ कर कम अक्ल, अक्ल से पैदल समाजीयों का आप चुतिया नही बनाते

धन्य है ऐसे दो कौड़ी के भाष्यकार और धन्य है ऐसे मिथ्या भाष्यों को मानने वाले कम अक्ल, अक्ल से पैदल समाजी!

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ४२

❝जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह-वह सत्य और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह सब असत्य है। जैसे-कोई कहै 'विना माता पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ' ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है।

जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह-वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है❞

समीक्षक-- क्यों स्वामी जी क्या आप भी मुहम्मद साहब की भांति अपने (छागस्य) बकरे पर बैठकर (जिसका आप दूध, घी खाते हैं, अपने यजुर्वेदभाष्य २१/४३ में स्वामी जी बकरे का दूध, घी खाना लिखते हैं, उसी की बात कर रहे हैं) ईश्वर के पास हो आए थे? जो ईश्वर ने आपको सारा सृष्टि क्रम उपदेश कर दिया, जिससे तुम्हें यह बात निर्भ्रान्त मालूम हो गई कि ईश्वर की सृष्टि का विषय बस इतना ही है- परन्तु वेदों में तो कुछ ऐसा लिखा है देखिए-

एतावान् अस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।

पादो ऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि॥

~[यजुर्वेद- अ० ३१, मंत्र ३]

यह त्रिकालात्मक विश्व उस ईश्वर की महिमा ही है, किन्तु उसकी महत्ता इससे भी अधिक है, यह सम्पूर्ण विश्व जीवों सहित जो कुछ भी है उसकी महिमा का एक भाग है, और शेष तीन भाग में प्रकाशमान मोक्ष स्वरूप आप है, और श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस प्रकार लिखा है कि (बुद्धेः परतस्तु सः) कि वह परमेश्वर बुद्धि से परे है जब वह बुद्धि से परे है तो भला उसके कार्य पूर्णतः कौन जान सकता है? परन्तु स्वामी जी तो शरीर रहते हुए ही सृष्टि का क्रम आदि सब उससे पूछ आए, अब स्वयं विचार कर देखें क्या कोई भी साधारण सा मनुष्य ईश्वर के सृष्टि क्रम को पूर्णतया जान सकता है? विशेषकर दयानंद जैसे, दो कौड़ी की बुद्धि नहीं जिनमें ऐसे महामूर्ख यदि ईश्वर के सृष्टि क्रम को जानने का दावा करें, तो फिर ईश्वर सर्वज्ञ कहाँ रहा? सर्वज्ञ सब विषयों का ज्ञाता तो दयानंद हो गया, फिर तो ईश्वर अब जो करें पर दयानंद की नजरों से न बच सकें, क्योकि दयानंद ने तो "ईश्वर का सृष्टि कर्म क्या है? ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव कैसे हैं? ईश्वर क्या-क्या कर सकता है? और क्या-क्या नहीं कर सकता सकता? उसकी सीमाएं क्या है? सब इस फटीचर सी पुस्तक में लिख मारा जैसे ईश्वर ने दयानंद को नही बल्कि दयानंद ने ईश्वर को उत्पन्न किया है, धन्य हे स्वामी धूर्तानंद जी! आपकी बुद्धि, इतना अभिमान अपने ज्ञान पर, की ईश्वर को भी सीमाओं में बांध दिया,

अब दयानंद के इस कल्पित सिद्धांत की धज्जियां उडाते है देखिए--

तस्माद् अश्वा S अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज् जाता S अजावयः॥

~[यजुर्वेद- अ० ३१, मंत्र ८]

उस परमेश्वर से ही अश्व और जो कोई दूसरे पशु ऊपर नीचे के दांत वाले हैं उत्पन्न हुए हैं उससे ही गौ, बैल, भेड़, बकरी आदि उत्पन्न हुए,

अब स्वामी जी बताए कि आप तो उत्पत्ति स्त्री पुरुष के योग से मानते हैं, फिर यह घोड़े, बैल, भेड़, बकरी आदि कैसे उत्पन्न हुए और सुनिए- आप कहते हैं कि उस परमात्मा ने अग्नि, वायु और आदित्य को उत्पन्न किया, अब जब आप स्त्री पुरुष के योग से ही उत्पत्ति मानते हैं तो फिर तो आपने निराकार ईश्वर की भी लूगाई बनाईं होगी, जिससे यह सब उत्पन्न हुए, क्योकि आप ही ऊपर लिखते हैं कि "जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह-वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है" फिर उसी के नीचे लिखते हैं कि "जैसे-कोई कहै 'विना माता पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ' ऐसा कथन (ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के विरुद्ध है) सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है,

अर्थात आपका मानना हैं कि स्त्री पुरुष के योग से उत्पत्ति ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल है इसलिए सत्य है, अर्थात आपने ईश्वर की भी लूगाई बना दी जिससे आदि में अग्नि, वायु, आदित्य और वो हजारों हजार मनुष्य उत्पन्न हुए जो आपने आठवें समुल्लास में लिखा है

चलों एक बार को यह भी मान लिया परन्तु जो ये घोड़े, बैल, गाय, भेड़, बकरी आदि पशु हैं, इनकी सृष्टि समझ में नहीं आईं जो कहो की ये भी निराकार परमात्मा ने उत्पन्न किए तो पशुओं के गुण, कर्म और स्वभाव ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव से भिन्न होने के कारण असत्य है, फिर वो ईश्वर की स्त्रियाँ कहाँ से आईं यह प्रश्न होगा,

इससे आपका यह कपोल कल्पित सृष्टि क्रम सब भ्रष्ट हुआ जाता है शौक है आपकी बुद्धि पर,

देखिए वो ईश्वर सब कुछ करता है पर उसे कोई जान नहीं सकता क्योंकि (परास्य शकशक्ति र्विविधे व श्रूयते) उसकी पराशक्ति अनेक प्रकार की सुनी जाती है, और सृष्टि मत तो दूर है आपको अपनी ही खबर नहीं है यदि खबर होती तो कहीं कुछ और कही कुछ इस प्रकार विरुद्धता से भरी यह सत्यानाश प्रकाश न लिखते, और आपका पहला वाला सत्यार्थ प्रकाश भी जो अशुद्ध हो गया उसके स्थान पर नयी पुस्तक न गढनी पड़ती, और आपने जो यहाँ सृष्टि क्रम का बहाना कर टट्टी की ओलट में शिकार खेला है वो विद्वान लोग अच्छी प्रकार समझते हैं कि जो बात समझ में ने आयीं लिखा दिया कि सृष्टि क्रम के विरुद्ध है, अरें कहीं तो वेदादि ग्रंथों से प्रमाण देकर लिख दिया होता कि ईश्वर का सृष्टि क्रम इतना ही है फिर उसी के अनुसार आपके मुहँ पर प्रमाण देकर मारते, फिलहाल तो इतना ही इस विषय पर आपसे आठवें समुल्लास में ही बात करेंगे सृष्टि विषय को लेकर आठवें समुल्लास में भी आपने खुब रायता फैलाया है सो उसका जबाव वही देंगे।

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ४४

❝सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः' कोई कहे कि 'माता पिता के विना सन्तानोत्पत्ति, किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र में पत्थर तराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे और वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह किया, इत्यादि सब असम्भव हैं। क्योंकि ये सब बातें

सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं। जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो वही सम्भव है”

समीक्षक-- स्वामी जी आप पैदाइशी धूर्त है यह तो मैं जानता था परन्तु अक्ल से पैदल और आँख से अंधे भी है यह नहीं जानता था, जहाँ तक मैं आपको समझता हूँ आपका मत ही आपकी बुद्धि है जो बात आपकी बुद्धि के अनुकूल वह सत्य और जो आपकी बुद्धि के प्रतिकूल हो वो सृष्टिक्रम के भी प्रतिकूल होगी, आप ये वेदानुकूल और सृष्टि क्रमानुसार नाम क्यों धरते है? सिधा-सिधा क्यों नहीं कहते की मेरी बुद्धि के अनुकूल होना चाहिए, आप इन बातों को नहीं मानते कोई नहीं, देखिए अब इन बातों का प्रमाण उन्हीं ग्रंथों से निकालकर आपके मुहँ पर मारते है जिन ग्रंथों का आपने सत्यार्थ प्रकाश में प्रमाण लिखा है

महाभारत के अश्वमेध पर्व का ६९ वाँ अध्याय खोलकर देखें परीक्षित जो कि मृत उत्पन्न हुआ था, श्रीकृष्ण ने उसे पुनर्जीवित किया, श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उंगली पर उठाया, हनुमान जी लक्ष्मण जी के लिए संजीवन बूटि वाला पहाड़ उठा लाए, और आपकी आँख है या बटन, दिमाग में भेजा है या टोटल गोबर ही भरा है, क्योकि समुद्र पर बाधाँ हुआ पुल (रामसेतु) आज भी मौजूद हैं आँखें हो तो देख आना 'लंकाकांड' में स्पष्ट लिखा है। (आप्तोपदेश: शब्द) शब्द प्रमाण आप मान ही चुके हैं सो वाल्मीकि जी पूर्ण आप्त थे और उन्होंने ही नल-नील को लिखा है कि इन्होंने पूल बांधा,

और आपने अपने एकादश समुल्लास के पृष्ठ २३८ पर स्वयं लिखा है कि “जब रामचन्द्र सीता जी को ले हनुमान् आदि के साथ लंका से चल आकाश मार्ग में विमान पर बैठ अयोध्या को आते थे तब सीता जी से कहा है कि--

अत्र पूर्वं महादेव प्रसादमकरोद्विभु ।

सेतुबन्ध इति विख्यातम्॥ -वाल्मीकि रामायण, लंका कां०
[युद्धकाण्ड सर्ग १२३, श्लोक २०-२१]

हे सीते! तेरे वियोग से हम व्याकुल होकर घूमते थे और इसी स्थान में चातुर्मास किया था और परमेश्वर की उपासना ध्यान भी करते थे, वही जो सर्वत्र विभु (व्यापक) देवों का देव महादेव परमात्मा है उस की कृपा से हम को सब सामग्री यहां प्राप्त हुई, और देख! यह सेतु हम ने बांध कर लंका में आके, उस रावण को मार, तुझ को ले आये।

अब बोलिए स्वामी धूर्तानंद जी ग्यारहवें समुल्लास में स्वयं ही समुद्र पर सेतु बांधा जाना स्वीकार करते हैं और फिर यहाँ उसे ही सृष्टि क्रम के विरुद्ध लिखते हैं ये आपका दौगलापन नही तो क्या है? अब आप ही बताए ये पत्थर समुद्र पर नहीं तो क्या आपकी इस सत्यानाश प्रकाश पर तैर रहे हैं? और सम्भव किसे कहते हैं जो कुछ भी हो जाए उसे सम्भव कहते हैं समर्थ पुरुषों से जो सम्भव है वही असमर्थों को असम्भव लगता है

और ईश्वर अवतार लेता ये देखिए श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण इस प्रकार कहते है कि--

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

~[श्रीमद्भगवद्गीता- अ० ४, श्लोक ६-८]

भावार्थ- मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ॥६॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ॥७॥

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ॥८॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

~[श्रीमद्भगवद्गीता- अ० ७, श्लोक २४]

भावार्थ- बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भाव को न जानते हुए मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जन्मकर व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं॥२४॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

~[श्रीमद्भगवद्गीता- अ० ९, श्लोक ११]

भावार्थ- मेरे परमभाव को (गीता अध्याय ७ श्लोक २४ में देखना चाहिए) न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ संपूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते हैं अर्थात्

अपनी योग माया से संसार के उद्धार के लिए मनुष्य रूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं ॥११॥

अब बोलिए स्वामी धूर्तानंद जी क्या बोलते हो, जिन ग्रंथों का अपनी पुस्तक में प्रमाण लिखा है उन्हीं को मिथ्या ठहराते हो, ऐसा करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आई।

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समु• पृष्ठ ५१

❝ आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना अष्टध्यायी महाभाष्य पढ़ना,,,,, यास्कमुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़ें,,,,,,,, तदनन्तर पिंगलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ,,,,,,

तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि,,,,,,,,,, छः शास्त्रें को पढ़ें-पढ़ावें परन्तु वेदान्त सूत्रें के पढ़ने के पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़ें ,,,,,,,,,,,,,,,

फिर पृष्ठ ५३ पर लिखते हैं कि" पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गोतममुनिकृत, न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृतसूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनिकृत भाष्य, व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य अथवा बौधायनमुनिकृत भाष्य वृत्ति सहित पढ़ें पढ़ावें। इत्यादि सूत्रें को कल्प अंग में भी गिनना चाहिये।

जैसे ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छः वेदों के अंग, मीमांसादि छः शास्त्र वेदों के उपांग; आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि मुनि के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस-उस को छोड़ देना क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है । ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतः प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है❞

समीक्षक-- वाह रे स्वामी धूर्तानंद! बड़ी गहरी चाल चली है तुमने, तुम्हारा यह लेख पढ़ पढ़कर ही तो समाजीयों के दिमाग में गोबर भर गया है। अब जरा आप तृतीया समुल्लास के पृष्ठ ५३ पर लिखे अपने इस लेख पर विचार करें जिसमें लिखा है कि "ऋषि प्रणीत ग्रंथों को इसलिए पढना चाहिए कि वे बड़े विद्वान, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे" जबकि ऋषि प्रणीत ग्रंथों में भी आप लिखते हैं कि जो बात वेदानुकूल होगी वही मानी जाएगी, तो ऐसे में उन ऋषियों की पूर्णविद्वत्ता कहाँ रही, और वो धर्मात्मा किस प्रकार हो सकते हैं जो वेद विरुद्ध कोई बात कहें, आपने तो पूर्ण विद्वान ऋषियों को भी नहीं छोड़ा, उनका भी अपमान कर दिया, सो आपके इस भड़वापंति को देखते हुए मनु जी के वाक्यानुसार हम आपको यह श्लोक भेंट करते हैं-

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

~[मनुस्मृति- अ० २, श्लोक ११]

जो वेद और आप्त पुरूषों के किए शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पंक्ति और देश से बाहर निकाल देना चाहिए।

अब कहिए आप भी इन्हीं विद्वान, सर्वशास्त्रवित्, धर्मात्माओं के ग्रंथों में वेद विरूद्धता ठहराते है, तो कहिए आप का क्या हाल करना चाहिए? जब आपको वेदानुकूल ही प्रमाण चाहिए, तो फिर क्यों व्यर्थ में और ग्रंथों में भटकते हो, क्योकि आपको तो वही बात प्रमाण होगी जो वेदों में होगी, फिर ओरों के मानने की आवश्यकता क्या है? सच तो यह है कि ऐसा करने से आपका काम नहीं चलने वाला, वेद तो सिर्फ बहाना है आप वेदानुकूल नहीं बल्कि अपनी बुद्धि के अनुकूल होने से सब कुछ मान लेते हो, आप आप्त पुरूषों के ग्रंथों में भी वेद विरुद्धता ठहराते हो तो बताओं भला तुम्हारी यह दो कौड़ी की फटीचर पुस्तक 'सत्यानाश प्रकाश' कौन से वेदानुकूल है? इसमें लिखें रांड, रांडस्नेही, भंगी, चमार, भांड, भड़ुवे, चूतड, गवर्गण्ड आदि अपशब्द कौन से वेदानुकूल है, अब आप बताए आपकी ये पुस्तक जो स्वार्थपरता, नास्तिकता, निंदा, अमर्यादित भाषा और वेदविरूद्ध अर्थों से पूर्ण हैं, यह त्यागने योग्य है या नहीं?

आपका यह पठन पाठन शिक्षा कौन से वेदानुकूल है, सन्यासी होकर चोंगा बूट जुता पहनना, हुक्का पिना, कुर्सी मेज इस्तेमाल करना, रूपया बटोरना, मांसभक्षियों के हाथ से भोजन लेकर भोजन करना, स्त्रीयों को गालियाँ देना आदि कौन से वेदानुकूल है?

और स्वामी धूर्तानंद जी हमें यह बताए कि जब आप वेदों का भाष्य करने बैठते हैं तो उसके अर्थ को ब्राह्मण, निघण्टू, महाभाष्य, और उपनिषदों से सिद्ध करते हैं कि इस शब्द का

निघण्टु में यह अर्थ है शतपथ में इस प्रकार लिखा है इस कारण इसका यह अर्थ होता है जब यह हाल है कि बिना ब्राह्मण, निघण्टु के आप वेद का अर्थ तक सिद्ध नहीं कर सकते, तो फिर वे ब्राह्मण, निघण्टु वेद के अर्थ सिद्ध ककरने से स्वतः सिद्ध और स्वतः प्रमाण क्यों नहीं?

क्योकि मंत्र वर्ण में तो यह लिखा ही नहीं की इसका अर्थ इस प्रकार करना यह विधि तो निघण्टु, ब्राह्मण आदि में ही कथन करी है कि इस मंत्र का अर्थ यह है और यह इसके प्रयोग करने की विधि है इससे इनका वेदवत् प्रमाण है इन ग्रंथों में अंश मात्र भी वेद विरुद्ध नहीं मिल सकता इसी कारण (मंत्र ब्राह्मणयो: वेदनामधेयम्) मंत्र और ब्राह्मण दोनों का नाम मिलाकर वेद कहा जाता है और तुम्हारे जैसा धूर्त इन्हीं में वेद विरुद्धता ठहराता है अब कहिए इन्हीं ग्रंथों से वेदों का अर्थ करने में तुम्हारी वेदानुकूलता कहाँ गई? औऔर जिन ग्रंथों में तुम्हें थोड़ा सा भी ऐसा कुछ मिल जाए जो आपकी बुद्धि के अनुकूल न हो उसे आप वेद विरुद्ध बोलकर त्यागना लिखते हो, जैसे सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ५३ पर लिखते हो कि "(विषसम्पृत्तात्रवत् त्याज्या:) जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोडने योग्य होता है, वैसे ये ग्रंथ है" और पृष्ठ ५४ पर लिखा है कि (असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति) असत्य से युक्त सत्य भी दूर से छोडना चाहिए ऐसे ही असत्य मिश्रित ग्रंथ भी त्यागने योग्य है क्योंकि जो सत्य है सो वेदादि सत्यशास्त्रों का और मिथ्या उनके घर का है वेद के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है और इन मिथ्या ग्रंथों से सत्य का ग्रहण करना चाहें तो असत्य भी उसके गले में मढ जाता है

जो यह हाल है तो आपके कथानुसार ब्राह्मण ग्रन्थों आदि में भी असत्य है तो विषवत् होने से उनको भी त्याग देना चाहिये फिर आप इनको मानते क्यों है? यही तो आपका दौगलापन सिद्ध हो जाता है कि जिस थाली में खाया उसी में छेद किया, यह और कुछ नहीं आपकी बुद्धि में भरे गोबर का नतीजा ही है जो आप ब्राह्मणादि ग्रंथों में असत्य और वेद विरुद्धता मानते हो, यदि आप इनमें भी असत्य और वेद विरुद्धता मानते हैं तो फिर इन्हीं ग्रंथों से प्रमाण देते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती, आप अपने पूर्व लिखें लेख को बड़ी जल्दी भूल जाते हो कि विष मिला अमृत भी विष ही होता है अब क्योकि आपने अपने सत्यानाश प्रकाश, भाष्यभूमिका और वेदभाष्यों में इन्हीं ग्रंथों का प्रयोग किया है इसलिए आपके कथानुसार ही आपका यह सत्यानाश प्रकाश और आपके वेदभाष्य आदि असत्य मिश्रित होने से त्याग देना चाहिये, अर्थात असत्य मिश्रित ग्रंथों को त्यागने का शुभारंभ आपके ग्रंथों से ही करना चाहिए, क्योकि जो-जो उनमें सत्य है सो-सो वेदादि सत्य शास्त्रें का है और मिथ्या आप (दयानंद) के घर का है, वेदादि सत्य शस्त्रें के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है, और जो कोई दयानंद के मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहै तो मिथ्या भी उस के गले लिपट जावे, (जैसे को तैसा)

॥पुराण प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ५३

❝ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति।

जो ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण लिख आये उन्हीं के इतिहास, पुराण; कल्प, गाथा और नाराशंसी पांच नाम हैं, श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं❞

समीक्षक-- स्वामी जी आपने तो मानों जैसे प्रण ले रखा है कि जब भी मुहँ खोलूंगा असत्य ही बोलूँगा, धूर्तता की भी कोई हद होती है अब आप पुराणों को भी उडाने की चेष्टा कर रहे हैं 'पुराण' शब्द ऐतरेय, शतपथादि के वाचक नहीं देखिए प्रमाण-

मध्वाहुतयो ह वा एता देवानाम् यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः स य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं

गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव

तद्देवांस्तर्पयति त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रे॥
~शतपथ {११/५/६/८}

अर्थ- शास्त्र देवताओ के मध्य आहुति है देव विद्या ब्रह्म विद्या आदिक विद्याएँ उत्तर प्रत्यूतर रूप ग्रन्थ इतिहास पुराण गाथा और नाराशंसी ये शास्त्र है जो इनका नित्यप्रति स्वध्याय करता है वह मानो देवताओ के लिए आहुति देता है।

स यथार्द्रेधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद्दग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस

इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि॥

~शतपथ ब्राह्मण {१४/५/४/१०}

अर्थ-- जिस प्रकार चारों ओर से आधान किए हुए गिले ईधन से उत्पन्न अग्नि से धूम्र निकलता है उसी प्रकार हे मैत्रेयी! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास , पुराण उपनिषद सुत्र, श्लोक, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, इष्ट (यज्ञ), हुत (यज्ञ किया हुआ) , पायित, इहलोक, परलोक और समस्त प्राणी उस महान सत्ता के निःश्वास ही है।

देखिए इसमें इतिहास पुराण आदि नाम पृथक-पृथक ग्रहण किये हैं और भी दिखाते हैं आपको-

स होवाच— ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥

~छान्दोग्य {७/१/२}

नारदजी बोलें, हे भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वण जानता हूँ (ईतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं) इतिहास, पुराण जो वेदों में पाँचवाँ वेद हैं वो भी जानता हूँ, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पादविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरूक्त, ब्रह्म सम्बंधी उपनिषदविद्या, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पदेवजनविद्या, देवजनविद्या, गन्धधरण, नृत्य, गीत, बाद्य इन सबको जानता हूँ, देखों छान्दोग्य के इस वाक्यानुसार कितनी विद्या सिद्ध हो गई और यहाँ भी पुराण पाँचवे वेद के रूप में पृथक ही ग्रहण किया है

अरेऽस्य महतो'भूत'स्य नि'श्वसितम्एत'द्य'द्दग्वेदो' यजुर्वेद' सामवेदो'ऽथर्वाङ्गि'र' सइतिहास'पुराण'विद्या' उपनिष'दः श्लो'काः सू'त्राण्यनुव्याख्या' नानिव्याख्या' ननिदत्त'म्हुत' माशित' पायित' मय'चलोक'प'रश्चलोक' स'र्वाणि च भूता'न्यस्यै' वै'ता'नि स'र्वाणि नि'श्वसितानि ॥ ~बृह० ऊ० {४/५/११}

अर्थ-- उस परब्रह्म नारायण के निश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास , पुराण उपनिषद सुत्र, श्लोक, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, इष्ट (यज्ञ), हुत (यज्ञ किया हुआ) , पायित, इहलोक, परलोक और समस्त भुत है॥

और सुनिए अब वेदों से पुराण के प्रमाण दिखाते हैं-

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।

एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः॥

~अथर्ववेद {१०/७/२६}

स्कम्भ से उत्पन्न पुराण को व्यवर्तित किया, वह स्कम्भ का अंग पुराण कहा जाता है।

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्॥ ११

इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशासिनां च प्रियं धाम भवति य एवम् वेद॥

~अथर्ववेद {१५/६/१२}

अर्थ-- इतिहास पुराण और गाथा नारांशंसी के पिर्य धाम होते है, एक व्रात्य विद्वान, 'इतिहास, पुराण, गाथा व नाराशंसी' द्वारा वेदों का वर्धन व्याख्यान करता हुआ वृद्धि की दिशा में आगे बढ़ता है

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ ~अथर्ववेद {११/९/२४}

ऋक् साम, छन्द, पुराण, यजु आदि द्युलोक और स्वर्गस्थ सभी देवता उच्छिष्ट यज्ञ में ही उत्पन्न हए, अर्थात् पुराणों का आविर्भाव ऋक्, साम, यजु, और छन्द के साथ ही हुआ था।

और देखिए-

एवमिमे सर्वे वेदा निर्मितास्सकल्पा सरहस्या: सब्राह्मणा सोपनिषत्का: सेतिहासा: सांव्यख्याता:सपुराणा:सस्वरा:ससंस्काराः सनिरुक्ता: सानुशासना सानुमार्जना: सवाकोवाक्या॥

~गोपथब्राह्मण {१/२/२०}

अर्थ-- कल्प रहस्य ब्राह्मण उपनिषद इतिहास पुराण अनवाख्यात स्वर संस्कार निरुक्त अनुशासन और वाकोवाक्य समस्त वेद परमेश्वर से निर्मित है।

अब क्या बोलते हो स्वामी दोगलानंद जी यदि ब्राह्मण ग्रन्थों के ही नाम पुराण होते तो गोपथ ब्राह्मण में इस प्रकार कल्प, ब्राह्मण, उपनिषद, इतिहास, और पुराणादि पृथक-पृथक कैसे लिखते? इससे भी ब्राह्मण से अतिरिक्त ही इतिहास, पुराण, जाना जाता है क्योंकि सेतिहासा: सपुराणा: ऐसे पृथक कहना ही इनमें भेद बताता है जब इतिहास सहित और पुराण सहित दो ऐसे शब्द कहे तो निसंदेह यह दोनों पृथक ही है अब यह तो साफ हो गया की इतिहास, पुराण आदि ब्राह्मण से अतिरिक्त ही कोई ग्रंथ है अब पुराण किसे कहते है, उसके पढने सुनने के क्या लाभ है अब मनुस्मृति, वाल्मीकि आदि से कथन करते हैं देखिए-

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्रे,धर्मशास्त्राणि चैव हि।

आख्यानमितिहासांश्च,पुराणान्यखिलानि च॥

~मनुस्मृति {३/२३२}

श्राद्ध के उपरान्त पितरों की प्रीति के लिये, वेद पारायण श्रवण कराये, धर्म शास्त्र आख्यान ,इतिहास, पुराणादि को भी सुनाये ।

एतच्छ्रुत्वारहः सूतो राजानमिदमब्रवीत।

श्रूयतां यत्पुरा वृतं पुराणेषु मया श्रुतम्॥

~वाल्मीकि रामायण

यह सुनकर सूत ने एकांत मे राजा से कहा सुनो महाराज, यह प्राचीन कथा है जो मैंने पुराणों में सुनी है इसके बाद रामजन्म का चरित्र जो भविष्य था सब राजा को सुनाया कि श्रीराम आपके यहाँ जन्म लेंगे ऋंगी ऋषि को बुलाइए और वैसा ही हुआ

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

~याज्ञ० स्मृति० {१/३}

अर्थ- पुराण न्याय मीमांशा धर्म शास्त्र और छः अङ्गों सहित वेद ये चौदह विद्या धर्म के स्थान है।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (१४/३/३/१३) में तो पुराणवाग्ङमय को वेद ही कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् (इतिहास पुराणं **पञ्चम वेदानांवेदम् (७/१/२,४)** में भी पुराण को वेद कहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् तथा महाभारत में कहा गया है कि **“इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थ मुपबर्हयेत्”** अर्थात् वेद का अर्थविस्तार पुराण के द्वारा करना चाहिये, इनसे यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में पुराण तथा इतिहास को समान स्तर पर रखा गया है।

अब पुराणों के लक्षण कथन करते हैं देखिए-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

१.सर्गः (जगतः उगमः)

२.प्रतिसर्गः (अवनतिः पुन्स्सृष्टिः)

३.वंशः (ऋषिदेवतादीनां जीवनम्)

४.मन्वन्तरम् (मानवजातेः उगमः, मनूनां राज्यभारः)

५.वंशानुचरितम् (सूर्यचन्द्रवंशीयराजानां चरित्रम्)

अर्थात (१) सर्ग – पंचमहाभूत, इंद्रियगण, बुद्धि आदि तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन,

(२) प्रतिसर्ग – ब्रह्मादिस्थावरांत संपूर्ण चराचर जगत् के निर्माण का वर्णन,

(३) वंश – सूर्यचंद्रादि वंशों का वर्णन,

(४) मन्वन्तर – मनु, मनुपुत्र, देव, सप्तर्षि, इंद्र और भगवान् के अवतारों का वर्णन,

(५) वंशानुचरित – प्रति वंश के प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन । ये पुराण के पाँच लक्षण हैं, जिसमें यह पाँच लक्षण हो वो पुराण कहलाता है

सृष्टि के रचनाकर्ता ब्रह्माजी ने सर्वप्रथम जिस प्राचीनतम धर्मग्रंथ की रचना की, उसे पुराण के नाम से जाना जाता है। इसका प्रमाण वेदों में भी देखिए-

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ ~अथर्ववेद {११/९/२४}

अर्थात् पुराणों का आविर्भाव ऋक्, साम, यजु, और छन्द के साथ ही हुआ था।

इसलिए पुराणों को नवीन बताने वालें वेद विरोधी, नास्तिक दयानंद और उसके नियोगी चमचों को अपनी औकात में रहकर ही बोलना चाहिए वे इस बात को कदापि न भूलें की जिस पुराण की महिमा का गुणगान वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत आदि ग्रंथों में किया गया है जिस पुराण को हमारे ऋषि मुनियों ने वेदों में पाँचवाँ वेद कहा है उसे नवीन बताकर विरोध करने वाले दयानंद और उसके नियोगी चमचें वेदादि ग्रंथों का ही अपमान करते हैं इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि पुराणों को नवीन बताकर उसका विरोध करने वाले नियोगी दयानंदीयों की बात सुनने के बजाय उनके कान के नीचे दो धर के मारे, बुद्धि अपने आप ठिकाने पर आ जाएगी, क्योकि जो विद्वान हैं उनके लिए तो वेद , ब्राह्मण और उपनिषदों से बड़ा कोई प्रमाण नहीं

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ५४,

❝(प्रश्न) तुम्हारा मत क्या है?

(उत्तर) हमारा मत वेद हैं, अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उस-उस का हम यथावत् करना, छोड़ना मानते हैं❞

समीक्षक-- तुम कहते हो कि तुम्हारा मत वेद हैं जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उस-उस का तुम यथावत् करना, छोड़ना मानते हो, तो अब यह बताए कि जो ये तुम्हारी लिखित सत्यानाश प्रकाश है क्या उसमें जो कुछ भी लिखा है वो

सब तुमने वेद से लिखें हैं? जो तुम्हारा मत वेद ही है तो फिर क्यों ब्राह्मण, उपनिषद, मनुस्मृति, वाल्मीकि, महाभारत, चरक, सुश्रुत आदि में घुसे चले आते हों सब प्रमाण वेद से ही क्यों नहीं दे दिए? और तुम कहते हो कि जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उस-उस का तुम यथावत् करना, छोड़ना मानते हो तो बताओ क्या तुम्हारे वेद में दूसरों की निंदा करना लिखा है? और तुम्हारी इस 'सत्यानाश प्रकाश' में जो ये रांड, रांडस्नेही, भंगी, चमार, भांड, भडुवे, चूतड, गवर्गण्ड आदि ना जाने कैसी-कैसी गालियाँ बकी है तुमने, क्या ये सब वेदों में करना लिखा है?

सन्यासी होकर चोंगा बूट जुता पहनना, हुक्का पिना, कुर्सी मेज इस्तेमाल करना, रूपया बटोरना, मांसभक्षियों के हाथ से भोजन लेकर भोजन करना, स्त्रीयों को गालियाँ देना आदि कौन से वेदानुकूल है?

इससे यह कहना कि तुम्हारा मत वेद हैं, उसमें जो-जो करने छोडने की शिक्षा की हैं वैसे-वैसे तुम करना छोडना मानते हो, तुम्हारा यह कथन सर्वथा मिथ्या सिद्ध होता है

॥शूद्र अधिकार प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ३५,

“शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।

और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उस को मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, परन्तु उस का उपनयन न करे”

समीक्षक-- प्रथम तो उन बातों को लिखते हैं जो दयानंद ने शूद्रों के विषय में मानी और लिखीं हैं देखिए—

शूद्र कौन?

१• ,,,,,(उक्षा) सींचनेहारे बैल पशु के तुल्य शूद्र। ~[दयानंदकृत यजुर्वेदभाष्य अध्याय १४, मंत्र ९],

२• ,,,,,(पद्भ्याय् शुद्रः) मूर्खपन आदि गुणों से युक्त होने से शुद्र। ~[दयानंदकृत यजुर्वेदभाष्य अध्याय ३१, मंत्र ११],

३• ,,,,,(पद्भ्याँ शूद्रो.) जैसे पग सबसे नीच अंग हैं, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है। ~[दयानंदकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ९२]

४• ,,,,,शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरूकुल में भेज दें। ~[सत्यार्थ प्रकाश द्वितीय समुल्लास पृष्ठ २८]

५• ,,,,,जिस को पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उस का पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ है। ~[सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ५५]

और अब लिखते हैं कि--

६• ,,,,,शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं
मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।

और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उस को मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, परन्तु उस का उपनयन न करे ~[सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ३५]

इतने स्थानों पर तो स्वामी जी ने यह माना कि शूद्र को यज्ञोपवीत नहीं देना चाहिए, और अब यह भी स्पष्ट कह दिया कि उसे मंत्र संहिता छोड़कर सब पढ़ावे, बस वेद न पढ़ावें क्योकि "जिस को

पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है, उस का पढ़ना पढ़ाना सब व्यर्थ है, अब प्रश्न यह उठता है कि जब शूद्र निर्बुद्धि और मूर्ख को ही कहते हैं जिसे पढने पढाने से कुछ भी न आवें, तो फिर दयानंद ने कौन से भंग के तरंग में शूद्रों को वेद पढने का अधिकार दे दिया। देखिए क्या लिखा है इस निर्बुद्धि दयानंद ने—

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ५५,

❝(प्रश्न) क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं हैं, जैसा यह निषेध है-

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः।

स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है।

सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है, तुम कुआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है, किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं, और सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आ वदानि) उपदेश करता हूं वैसे तुम भी किया करो।

परमेश्वर स्वयं कहता है कि हम ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य, (शूद्राय) शूद्र, और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है; कहिये! अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की? यदि वो पढ़ाना नहीं चाहता तो इनके वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता? वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण-

ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥ -अथर्व० अ० ३। प्र० २४। कां० ११। मं० १८

कुमारी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रें को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् और पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को प्राप्त होवे"

समीक्षक-- प्रथम तो दयानंद ने स्वयं प्रमाण के साथ यह लिखा कि "शूद्र मंत्रभाग (वेद) न पढ़े, और अब लिखते हैं कि पढ़े, प्रतीत होता है कि किसी शूद्र ने दयानंद को धर के ठोक दिया इसी कारण शूद्रों की ऐसी तरफदारी हो रही है क्योंकि इसी दयानंद ने अपने पूर्व लेख में तो शूद्रों को वेद पढने का अधिकार नहीं दिया और अब अधिकार दे दिया, यह दौगलापन नही तो क्या है?

तुम्हारी किताब तुम ही प्रश्न कर्ता और तुम ही उत्तर देने वाले इस लिए तुम ही कुएं में पडो और आर्य समाजीयों को तो संसाररूपी कुएं में गिराने के लिए तुम्हारा यह कपोल कल्पित मिथ्या लेख ही काफी है

जब शूद्र निर्बुद्धि और मुर्ख को ही कहते हैं जिसे पढने पढाने से कुछ न आवें उसका पढ़ना पढ़ाना सब व्यर्थ है तो भला उसे वेद पढ़ाना कैसा? और जब तुम जाति कर्मानुसार ही मानते हो तो भी

वेद पढ़ा शुद्र नहीं हो सकता वह तो उच्च वर्ण हो जाएगा, फिर भी मुर्ख वेद पढ़ा ही शूद्रसंज्ञक रहा इससे तुम्हारे वचन से भी शूद्र वेद पढ़ा नहीं हो सकता, मनु जी क्या कहते हैं अब वह सुनिए-

न शूद्रे पातकं किं चिन्न च संस्कारमर्हति।

नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्॥१॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।

मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥२॥

~[मनुस्मृति- अ० १०, श्लोक १२६,१२७]

अर्थ-- शूद्र का कोई पातक नहीं है और न ही उसके लिए किसी प्रकार की शुद्धि का कोई नियम है, और न ही वैदिक धर्मकार्यों में शामिल होने का उसे कोई अधिकार है, इसलिए उसके विषय में निषेध का कोई नियम नहीं है॥१॥

धर्म की इच्छावाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मंत्र से रहित होकर भी सत्पुरुषों का आचरण करते हुए दोषों को प्राप्त नहीं होते किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं॥२॥

अब तुम्हारे वेदभाष्य की धज्जियां उडाते है जिसका तुमने मिथ्या अर्थ करकें शूद्र और स्त्रियों को वेद पढने के अधिकार का मिथ्या कथन किया है दयानंद का यह अर्थ पुरी तरह से मिथ्या है परन्तु यजुर्वेद २६/२ के अर्थ से पहले हम यजुर्वेद २६/१ का अर्थ करते हैं जिससे दयानंद का यह कल्पित भाष्य अपने आप मिथ्या सिद्ध हो जाएगा देखिए-

अग्निश् च पृथिवी च संनते ते मे सं नमताम् अदः। वायुश् चाऽन्तरिक्षं च संनते ते मे सं नमताम् अदः। ऽ आदित्यश् च द्यौश् च संनते ते मे सं नमताम् अदः। ऽ आपश् च वरुणश् च संनते ते मे सं

नमताम् अदः। सप्त सँसदो ऽ अष्टमी भूतसाधनी। सकामाँ२ऽ अध्वनस् कुरु संज्ञानम् अस्तु मे ऽमुना॥ ~[यजुर्वेद- २६/१]

अग्नि और पृथ्वी परस्पर अनुकूल गुण वाले हैं वे दोनों इसे (स्नेह और कामना के पात्र को) हमारे अनुकूल बनाये, वायु और अन्तरिक्ष परस्पर मिले हुए हैं वे दोनों इसे हमारे अनुकूल बनाये, आदित्य और नभ परस्पर अनुकूलता से रहते हैं वे दोनों इसे हमारे अनुकूल बनाये, जल और वरूण परस्पर अनुकूलता से रहते हैं वे दोनों भी इसे हमारे अनुकूल बनाये, हे प्रभो! पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि यह सात संसद और आठवीं (भूतसाधनी) अर्थात सब भूतों को वश में करने वाली वाणी आपका आश्रय रूप है, हमारे मार्गों को कामनामय करों, और इष्ट देव से हमारा संयोग हो,

अब इसके बाद यह मंत्र है देखिए-

यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुर् इह भूयासम् अयं मे कामः सम् ऋध्यताम् उप मादो नमतु॥

~[यजुर्वेद- २६/२]

पूर्व मंत्र में स्थित 'भूतसाधनी' वाणी का अध्याहार होता है, तब इसका अर्थ यह होता है कि यज्ञ के अंत में यजमान अपने भृत्यों को कहता है (दक्षिणायै यथेमां भूतसाधनीं कल्याणी वाचं जनेभ्य: आवदानि तथा त्वं कुरू इति शेष:) भाव यह है कि (दक्षिणायै) दान के देने को जनों के अर्थ, (यथा) मैं, (इमाम्) इस, (वाचम्) 'इमां भूतसाधनीं कल्याणीं वाचं' अर्थात भूतों को वश में करने वाली कल्याणी वाणी को दीयतां भुज्यतां इत्यादि रूप से जैसे मैं कहता हूँ वैसे, (जनेभ्य) सब लोग करों, कौन लोग? (ब्रह्मराजन्याभ्याँ) ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्याय) वैश्य, (च) और,

(शूद्राय) शूद्र, (च) और, (स्वाय) अपने, (अरण) पराये के अर्थ, भाव यह है कि सबको प्रिय वचन पूर्वक दान देना ऐसा करने से मैं, (देवानाम्) विद्वानों का तथा, (दातुः) परमेश्वर का (प्रिय) प्रिय, (भूयासम्) होऊँ, इस संसार में (अयम्) यह, (मे) मेरा, (कामः) कार्य, (समृध्यताम्) धनादि लाभरूप समृद्धि को प्राप्त हो और, (मा) मुझे, (अपः) परलोक सुख, (नमतु) प्राप्त हो।

इस मंत्र में ऐसा कुछ भी नहीं लिखा जो दयानंद ने इसका मतलब निकाला है और कोई इस दयानंद से पूछें कि निराकार ईश्वर बोलने कबसे लगा? अब यदि एक बार को दयानंद का अर्थ ही सही माने तो फिर ईश्वर बोलता है इसलिए उसकी वाणी भी माननी होगी, जब वाणी है तो शरीर भी मानना होगा, इससे दयानंद का यह सिद्धांत की आदि सृष्टि में परमेश्वर ने अग्नि, वायु, सूर्य और अंगिरा के हृदय में वेद का प्रकाश किया दयानंद का यह सिद्धांत दयानंद के इस लेख से ही भ्रष्ट हो जाता है, दयानंद अपने ही लेख से स्वयं अपने सिद्धांत की धज्जियां उडा रहे हैं क्योंकि जब इस मंत्रानुसार ईश्वर अग्निादि को उपदेश कर सकते थे तो फिर उनके अन्तर्वेद का प्रादुर्भाव होना असंगत है,

और दयानंद का यह अर्थ इसलिए भी गलत है कि यदि दयानंद इसमें ब्राह्मणादि को जाति लेते हैं तो ये जो (स्वाय- अपने भृत्य वा स्त्रियादि) अर्थ किया है क्या वे भृत्य वा स्त्री चार वर्णों से पृथक है?

इसी प्रकार दयानंद ने इस मंत्र के अर्थ का अनर्थ करके कल्पित अर्थ तैयार किया है देखिए-

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति॥

~[अथर्ववेद- ११/७/१८]

(ब्रह्मचर्येण) 'ब्रह्मचर्य' अर्थात संयम साधना द्वारा, ही (कन्या) कन्या, (युवानम्) युवा, (पतिं) पति को, (विन्दते) प्राप्त करती है, (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से ही, (अनड्वान्) बैल तथा, (अश्वः) अश्व आदि पशु, भक्षणीय (घासं) घास की, (जिगीषति) अभिलाषा रखते हैं भाव यह है कि ब्रह्मचर्य के अभाव में उदरयन्त्र शीघ्र विकृत हो जाता है और खाने पीने की इच्छा भी जाती रहती है

न जाने दयानंद ने इस मंत्र में कौन सा Tricks लगाकर स्त्रीयों को वेद पढने का अधिकार दे दिया धन्य है स्वामी भंगेडानंद जी आपकी बुद्धि

अब यह मनु वचन सुनिए-

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।

स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥

~[मनुस्मृति- अ० २, श्लोक १०३]

अर्थात- जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) प्रातः वा सायं संध्या नहीं करता वह शूद्र की भांति समस्त द्विज कर्मो से बहिष्कृत किए जाने योग्य है॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

~[मनुस्मृति- अ० २, श्लोक १६८]

अर्थात- जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) वेद को छोड़ और विद्याओं में परिश्रम करता है वह जीते हुए ही अपने वंशसहित शूद्र्त्व को प्राप्त होता है॥

अब जरा विचार करें कि कहाँ तो वेद न पढने की वजह से शूद्र्त्व प्राप्त होता है और मनु जी स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं जो द्विज वेदादि ग्रंथों को न पढकर अपने द्विज धर्म का पालन नहीं करता, उसे शूद्र की भांति समस्त द्विज कर्मो से बहिष्कृत कर देना चाहिए, तो फिर शूद्र वेद कैसे पढ़ सकता है? क्योकि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी वेद न पढ़ें तो वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाते हैं तीन वर्ण तो बिना वेद पढे शूद्र हो जाते हैं अर्थात समस्त वैदिक कर्मों से बहिष्कृत करने योग्य हो जाते हैं, और आप उन्हीं अवैदिक शूद्रों को वेद पढ़ना लिखते हैं शौक हैं तुम्हारी बुद्धि पर, मालूम होता है आपके पूर्व लेखों से क्रोधित किसी शूद्र ने आपको धरके धो दिया इसी कारण शूद्रों की इतनी तरफदारी हो रही है नहीं तो तुम ही अपने पूर्व के लेखों में शूद्रों को निर्बुद्धि और मूर्ख बताकर उनके वेद पढने का निषेध करते हैं और लिखते हैं जिसका पढ़ना पढना सब व्यर्थ है ऐसे निर्बुद्धि, मुर्ख को शूद्र कहते हैं, इसलिए शूद्र को मंत्र भाग के अतिरिक्त सब पढावे पर मंत्र भाग न पढ़ावे और अब पढना लिखते हैं धन्य है आपकी बुद्धि,

और सुनिए शूद्रों को वेद में अनधिकार होने से ईश्वर में पक्षपात का दोष नहीं आ सकता क्योंकि उसके कर्म ही जब अनधिकार और शूद्रपने के थे इसलिए उसका कल्याण उसके शरीर के धर्म से ही है इससे कर्मानुसार सुख, दुख, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होने से अपने-अपने कार्य धर्म के सब पृथक-पृथक

अधिकारी हैं, और यदि ईश्वर पर पक्षपात का दोष लगाते हो तो ईश्वर धन-धान्य और संतान भी सबको बराबर देता,

सत्यार्थ प्रकाश तृतीया समुल्लास पृष्ठ ३९,

“अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।

गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः॥ -मनु० [२/१६२]

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें”

समीक्षक-- न जाने दयानंद ने इस श्लोक में ब्रह्मचारिणी कन्या यह अर्थ कौन पद से उध्दत किया है? हमारी तो समझ से बाहर है और उपनयन का सम्बन्ध भी शायद कन्या के साथ लगाया होगा, क्योकि बिना उपनयन वेद नहीं पढ़ाया जाता, दयानंद ने तो कन्या का उपनयन करना भी लिख दिया धन्य हे दयानंद तेरी बुद्धि, और यहाँ द्विज शब्द से केवल ब्रह्मचारी का ही ग्रहण होता है कन्या का नहीं,

॥इति चुतियार्थप्रकाश तृतीयासमुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत चतुर्थसमुल्लासस्य खंडनंप्रारभ्यते

॥समावर्तनविवाह प्रकरणम्॥

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ५८,

❝ असपिण्डा च या मातुरसगोत्र च या पितुः।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ -मनु० [३/५]

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो तो उस कन्या से विवाह करना उचित है। इसका यह प्रयोजन है कि-

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है वैसी प्रत्यक्ष में नहीं। जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो तो उसका मन उसी में लगा रहता है । जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिये।

निकट (में दोष) और दूर विवाह करने में गुण ये हैं-

(१) एक-जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीडा, लड़ाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव, बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और नंगे भी एक दूसरे को देखते हैं उन का परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) दूसरा-जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

(३) तीसरा-जैसे दूध् में मिश्री वा शुण्ठयादी औषधियो के योग होने से उत्तमता होती है वैसे ही भिन्न गोत्र मातृ पितृ कुल से पृथक् वर्तमान स्त्री पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

(४) चौथा-जैसे एक देश में रोगी हो वह दूसरे देश में वायु और खान पान के बदलने से रोग रहित होता है वैसे ही दूर देशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) पांचवे-निकट सम्बन्ध् करने में एक दूसरे के निकट होने में सुख दुःख का भान और विरोध् होना भी सम्भव है, दूर देशस्थों में नहीं और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है निकटस्थ विवाह में नहीं।

(६) छठे-दूर-दूर देश के वर्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध् होने में सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं।

(७) सातवें-कन्या के पितृकुल में दारिद्रय होने का भी सम्भव है क्योंकि जब-जब कन्या पितृकुल में आवेगी तब-तब इस को कुछ न कुछ देना ही होगा।

(८) आठवां-कोई निकट होने से एक दूसरे को अपने-अपने पितृकुल के सहाय का घमण्ड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा तब स्त्री झट ही पिता कुल में चली जायेगी, एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध् भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है, इत्यादि कारणों से

पिता के एकगोत्रा माता की छः पीढ़ी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं”

समीक्षक-- वाह जी वाह! बड़ा अच्छा तात्पर्य निकाला, गोत्र के अर्थ तुमने पास के कर दिए, तुम कहते हो कि दूर देश में विवाह करें क्योंकि दूर वस्तु में प्रिति होती है, प्रत्यक्ष में नहीं, तो यदि दूर हो और पितृकुल वा मातृकुल की लड़की हो उससे भी विवाह कर लें, बस पास की नहीं होनी चाहिए, तो दूर होने से तुम सम्बन्धी भाई बहन के विवाह में भी अनुमति दे दोगे, क्योकि तुम ही कहते हो कि “ जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो ” अर्थात दूर हो फिर चाहे पिता वा माता के कुल की ही क्यों न हो विवाह कर लें, शोक हे ऐसी बुद्धि पर,

तुम लिखते हो कि दूर की वस्तु में प्रिति होगी पास में न होगी, तो अब यह बताओं की जब वह दूर की स्त्री पास आवेगी, तो फिर वह दूर कहाँ रही और स्त्री पुरुष का संग होते ही प्रिति दूर हो जानी चाहिए पर ऐसा देखने में नहीं आता, उल्टा पास रहने में प्रिति अधिक बढ़ती नजर आती है और तो मनु के इस श्लोक का तुमने जो अर्थ किया है वह भी गलत ही किया है देखिए इसमें छ: नहीं बल्कि सात पीढ़ियों का त्याग करना लिखा है स्वामी जी यहाँ एक पीढ़ी खा गये, देखिए इसका अर्थ इस प्रकार है–

जो कन्या माता व पिता की सात पीढ़ियों में न हो, तथा पिता के गोत्र में न हो, ऐसी ही कन्या द्विज (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) के विवाह के योग है,

और जब तुम गोत्र के अर्थ पास से ही लेते हो, और जब दूर देश का ही अभिप्राय है तो फिर ये छ: पीढ़ियों का त्याग करना क्यों

लिखते हैं? इन्हें भी खा जाते, धर्मशास्त्र की मर्यादा तो तुमने वैसे भी मिटा दी, और सुनो माता का कुल तो ननसाल होता है और पितृकुल के लड़के लड़कियों का परस्पर भाई बहन का सम्बन्ध होता है इस कारण वहाँ विवाह वर्जित है, और अपने गोत्र में तो विवाह होता ही नहीं इसलिए पास और दूर का इससे कोई मतलब नहीं क्योंकि जिसका गोत्र एक है वह सब एक ऋषि के संतान वा शिष्य होने से भाई बहन है जो अपने सम्बन्धी है चाहे वे सहस्र कोश दूर ही क्यों न हो अपने ही कहलाते हैं और जिनसे कोई सम्बन्ध ही न हो वे घर के पास होकर भी दूर होते हैं, इस कारण तुम्हारे इस गपडचौथ का कोई मतलब नहीं बनता,

तुम लिखते हो कि " निकट और दूर के यह गुण है " शायद यह गलती से लिख दिया, क्योकि गुण तो तुमने केवल दूर के लिखें पास के तो केवल दोष ही लिखें इस कारण दोनों में तुम्हारा यह गुण शब्द घट नहीं सकता, अब एक नजर तुम्हारे निकट और दूर विवाह के गुणों पर डालते हैं-

(१) पहला- दयानंद का यह लेख पढ़कर विदित होता है कि उनका दिमागी संतुलन हिल गया है क्योंकि ऐसा देखना में नहीं आता कि जो बालपन में एक साथ खेले हो और उनका विवाह हुआ हो, ऐसा नियोग समाज में होता होगा और स्वामी भूलक्कडानंद जी को यह याद दिला दे कि जब तुमने पाँच वर्ष के बालक और बालिकाओं को गुरूकुल भेज दिया और पुरी शिक्षा हो जाने तक स्त्री न तो पुरूष के दर्शन कर सकती है और न पुरुष स्त्री का फिर भला उन्होंने एक दूसरे को नंगा कब देख लिया, शायद आपके गुरूकुल में यही होता होगा दिन में लकडे लड़कीयाँ अपने अपने गुरूकुल में पढते होगें और रात्रि में नंगे

होकर एक दूसरे के साथ गर्भाधान-गर्भाधान खेलते होगें वही स्वामी जी यहाँ लिखते हैं

(२) दूसरा- जब तुम दूर में कुल गोत्र मानते ही नहीं, गोत्र के अर्थ पास से लेते हो तो फिर इस प्रकार की बकचोदी क्यों करते हो, और जब एक गोत्र पितृ वा मातृकुल की लड़की लड़कों का परस्पर भाई बहन का सम्बन्ध होने से विवाह होता ही नहीं तो क्यों बेकार में अंड संड बकें जा रहे हो, तुम लिखते हो कि "धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती" परन्तु यह नहीं बताया कि धातुओं के अदल-बदल से किस प्रकार की उन्नति होती है, क्योकि धातुओं के अदल-बदल से तो रोग ही उत्पन्न होता है उन्नति कैसी? उससे तो हानि ही होती है जो उन्नति होती तो सब कुलों में बड़ी भारी उन्नति होती, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, और जो दुसरे कुल की धातु निकम्मी निकलीं फिर तो हानि ही हुई उन्नति कहा?

और जो तुम्हारा ही कथनानुसार बात करें तो यवनों, ईसाई आदि में तो कुल गोत्र कुछ नहीं देखते तो क्या उनकी उन्नति नहीं होती? इस कारण तुम्हारा यह कथन भम्र मात्र ही है एक गोत्र मातृकुल में विवाह क्यों नहीं होता है उसका कारण हम पहले भी लिख आए हैं

(३) तीसरा- कुल गोत्र तो तुम पहले ही धो कर पि गए गोत्र का अर्थ तो तुमने निकट से लिया और दूर में तुम गोत्र मानते नहीं, तो फिर क्यों व्यर्थ की महनत किये जा रहे हो, एक ही बात घुमा फिर कर कितनी तरह से बोल दिया परन्तु एक बार भी यह कहीं नहीं लिखा कि एक गोत्र में विवाह क्यों नहीं करना चाहिए? बस आपसे तो बकचोदी करवा लो, सुनो मातृकुल वा पितृकुल के लड़के लड़कियों का परस्पर भाई बहन का सम्बन्ध होता है

इस कारण वहाँ विवाह वर्जित है, और अपने गोत्र में तो विवाह होता ही नहीं क्योंकि जिसका गोत्र एक है वह सब एक ऋषि के संतान वा शिष्य होने से भाई बहन है इस कारण एक गोत्र मातृ व पितृ कुल में विवाह नहीं होता,

(४) चौथा- धन्य हे स्वामी जी आपकी बुद्धि क्या अंड संड बके जा रहे हो तुम स्वयं नहीं जानते, तुम्हारे मतानुसार एक देश में रोगी हो वह दूसरे देश में वायु और खान-पान के बदलने से रोग मुक्त होता है, तो सुनिये और जो रोगी उस देश में पहुँच जाए जहाँ की जलवायु शुद्ध न हो तो फिर तो रोगी मर ही जाएगा, क्योकि अक्सर देखा जाता है कि हुष्ट-पुष्ट मनुष्य भी जब कहीं दूर जाता है तो पानी में आए बदलाव से स्वास्थ्य में हानि रोग आदि से ग्रसित हो जाता है, और २०-२५ कोश तक तो वायु भी नहीं बदलती यदि ऐसा है तो तुमको लिखना चाहिए था कि इतनी दूरी पर विवाह करना चाहिए और जो वहाँ न हो तो रहो पुरे जीवन ब्रह्मचारी क्योकि तुम्हारे मत में विवाह वायु के अदल-बदल के अर्थ हैं फिर क्यों बेकार की बकचोदी कर समाजीयों का मुर्ख बनाते हो, जो विवाह शुद्ध वायु जल के अर्थ है तो वायु जल की शुद्धि तो हवन से भी हो जाती है तृतीया समुल्लास में तुमने ही लिखा है ना, फिर हवन करकें चाहे जहाँ कि वायु जल शुद्धि कर लो, इसके लिए दूर देश का रोना क्यों रोते हो?

(५) पांचवां- दयानंद लिखते हैं कि " निकट विवाह होने में सुख दुःख का भान और विरोध् होना भी सम्भव है " तो सुनिये तुम्हारा यह कथन भी मिथ्या ही है, क्या स्वामी जी यहाँ तार और फोन विद्या भूल गए, चाहे विवाह विश्व के किसी भी कोने में क्यों न कर दो, कुछ मिनटों में ही चाहे जहाँ सुख दुख की खबर पहुँच जाता है, सुख दुख का भान तो चाहे सहस्रों कोश दूर ही क्यों न

हो हो ही जाता है, परन्तु निकट विवाह होने का लाभ यह है कि सुख दुख में सहायता शीघ्र हो सकती है, और दूर होने पर खर्च भी पड़ता है और समय पर सहायता भी नहीं मिलती, और जहाँ तक विरोध की बात है तो क्या दूर देश के विवाह में विरोध नहीं होता है? बिल्कुल होता है, जो कुपात्र होगा तो पास दूर दोनों में विरोध करेगा, लेकिन जो दूर देश में विवाह होता है उसमें विरोध ज्यादा रहता है कन्या भी दूर घर होने से वर्षों माता-पिता के दर्शन से वंचित रहती है, दूर देश में कन्या को चाहे जितना दुख हो कोई पूछने वाला ही नहीं, निकट विवाह होने से अपने नगरवासियों तथा लड़की के पिता आदि के संकोच से अधिक दुख नहीं दे सकते,

(६) छठवाँ- दयानंद के मतानुसार " दूर देश में विवाह होने से पदार्थों की प्राप्ति सहजता से हो जाती है " दयानंद का यह कथन भी मिथ्या ही है क्या बिना मुल्य के कोई वस्तु प्राप्त हो सकती है? जिसका विवाह हुआ उसे भी बिना मूल्य दिये कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती, यदि एक दो बार मुफ्त में मिल भी गई तो बराबर कौन दे सकता है? और कन्या का पिता तो वैसे भी मुफ्त में कुछ मांग ही नहीं सकता, इसलिए दयानंद का यह सिद्धांत भ्रष्ट होता है इसका दूर पास से कुछ फर्क नहीं पड़ता,

(७) सातवाँ- दयानंद के मतानुसार " पितृकुल में कन्या आवेगी तो दरिद्र करेगी क्योकि जब-जब कन्या आवेगी तब-तब उसे कुछ न कुछ देना होगा " यह कथन भी भम्र मात्र है स्वामी जी में जीतनी बुद्धि है वह उतना ही सोच पाते हैं इसलिए मैं इसमें स्वामी जी को भी दोष नहीं दे सकता, क्योकि कन्या तो जहाँ जायेगी वही कुछ न कुछ देना होगा, और अपने सामर्थ्य अनुसार सभी कुछ न कुछ देते ही है अब कोई घर तो दे नहीं देगा, तुम्हारे

कहने का अर्थ तो ऐसा है कि कन्या ऐसी होनी चाहिए कि कोई पितृकुल को लूट भी ले तो उसका जी न दुखे, क्योकि जो ऐसी होगी तो ही उसमें पितृकुल को दरिद्र करने का सामर्थ्य होगा अन्यथा नहीं, और माता पिता निकट हो या फिर दूर अपने सामर्थ्य अनुसार सब ही अवस्था में देते ही रहते हैं,

(८) आठवाँ- दयानंद के मतानुसार " स्त्रीयों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है इसलिए पास होने से घमंड हो जाएगा, लड़ाई होगी, पिता के घर चली आयेगी इत्यादि " यह भी दयानंद ने अपनी बुद्धि अनुसार ही लिखा है, कन्या को छोडिये यह बताइए कि सहायता मिलने पर किसे घमंड नहीं होता? और जिसे सहायता मिलती रहती है उससे तो कोई लडता भी नहीं है, और परस्पर सहाय के रिश्तेदार क्यों लड़ेंगे? और जहाँ तक सहायता की बात है तो अपने आप को ही देख लिजिए, यदि तुम्हें सहायता ने मिलती तो यह सत्यार्थ प्रकाश भी न बना पाते, और किसी प्रकार बना भी लेते तो अंड संड जो मन में आता लिख देते जैसे पहले वाली सत्यार्थ प्रकाश में लिखा और बाद में कहा कि मुझे इन बातों का ज्ञान न होने के कारण भूल वश लिख दिया, और झगड़ालू लोगों का तो यह है कि वह पास हो या दूर हर जगह कलेश ही करते हैं और जब छोटी उम्र की स्त्री घर से निकलती है और पिता का घर १००-२०० किमी० दूर हो तो पूरे मार्ग में भ्रष्ट होती हुई घर पहुँचती है और दूरी अधिक होने के कारण उसके दुष्कर्मों पर किसी का ध्यान भी नहीं जाता और एक ही नगर में विवाह होने से व्याग्र चित हो यदि पिता के घर जाएं तो थोड़ी ही देर में पहुँचने के कारण दुष्कर्मों से बच सकती है और अधिक संकोच से अनिष्ट से बची रहती है और स्वभाव तो जिसका जो है वही रहता है वह बदलने वाला नहीं फिर चाहे

विवाह दूर हो या निकट, मेरे कहने का अर्थ यह नहीं कि दूर विवाह ही न करों, विवाह चाहे पास करो या दूर परन्तु पिता का गोत्र और माता की सात पीढ़ियों को छोड़कर, क्योकि मातृपितृ कुल सपिंड होने से धर्म शास्त्रों में वर्जित हैं इस कारण उनमें विवाह नहीं हो सकता,

और **“परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः”** इस श्रुति के अर्थ में तो दयानंद ने वही काम किया है जैसे कहावत है कि “ कहीं कि ईट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनवा जोड़ा ” कहाँ का प्रसंग कहाँ लिख दिया यह देवता प्रकरण की बात है देखिए इसका अर्थ इस प्रकार है-

“परोऽक्षकामा हि देवाः” (शत0ब्रा0 ६/१/१/२ और ७/४/१/१०), इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण ओर बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि-**“परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः”** (गो0ब्रा0 १/१/१ और १/२/२१)

अर्थात देवता परोक्षप्रिय और प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं भाव यह है कि “देवगण परोक्षरूप से की गयी प्रस्तुति के चाहक होते हैं व प्रत्यक्षरूपेण की गयी प्रस्तुति के अनिच्छुक रहते हैं“

और तुमने इसे विवाह सम्बन्ध में घुसेड़ मारा क्या यार दयानंद ऐसा करकें क्यों बेचारे निर्बुद्धि और मूर्ख समाजीयों का चुतिया काटते हो ? तुम्हारे चैले तुम पर आँख मूंद कर विश्वास करते हैं और तुम उन्हीं का चुतिया बनाते हो कुछ तो शर्म करों

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६०,

"सोलहवें वर्ष से लेकर चैबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से ले लेकर ४८ वें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है, इस में जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट; अठारह बीस वर्ष की स्त्री तथा तीस पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम; चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है, इससे विद्याभ्यास अधिक होता हो जाता है"

समीक्षक-- ऊपर लिखे दयानंद के इस लेख का सिद्धांत यह है कि २४ वर्ष की कन्या का ४८ वर्ष के बुढ्ढे से विवाह करायें, सबसे पहले तो विवाह की परिभाषा कहते हैं उसके पश्चात स्वामी जी के इस लेख का खंडन करेंगे,

सनातन धर्म में विवाह को सोलह संस्कारों में से एक संस्कार माना गया है, विवाह दो शब्दों से से मिलकर बना है वि + वाह जिसका शाब्दिक अर्थ है-विशेष रूप से उत्तरदायित्व का वहन करना, पाणिग्रहण संस्कार को ही सामान्य रूप से विवाह के नाम से जाना जाता है,

"**भार्यात्संपादक ग्रहणम्**" अर्थात जिसके भरण पोषण का भार सदैव के लिए सिर पर लिया जाए उसका जो भाव उसको भार्यात्व कहते हैं और संपादक अर्थात उक्त भाव का उत्पन्न करने वाला ऐसे जो ग्रहण अर्थात ज्ञान वा भार्या का भाव जिस ज्ञान से उत्पन्न होवे उसका नाम विवाह है, "**तस्य स्वीकाररूपं ज्ञानं विशेषस्य समवायविषय: तयोर्भेदात् वरकन्ययो: विवाहकर्तृत्वकर्मत्वेति**" अर्थात भार्या का स्वीकार रूप जो विशेष ज्ञान है, उसमे समवाय और विषय दो प्रकार के भेद होने से विवाह मे वर का कर्तृत्व और कन्या का कर्मत्व स्पष्ट प्रतीत होता है इससे विवाह शब्द के कहने से यह बात आती है कि वर

और कन्या के विशेष संयोग का भाव मन में उदय होता है विशेष संयोग कहने का भाव यह है कि पुरुष स्त्री का आत्मा मन शरीर के भरण पोषण रक्षा आदि का भार अपने ऊपर लेना स्वीकार करता है, इस प्रकार के संयोग को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के संयोग को विवाह नही कह सकते इस प्रकार के संयोग से अविच्छेद संबंध होता है, अब वह विवाह कितने समय में होना चाहिए सो उसका निर्णय किया जाता है

स्वामी जी के लेखानुसार चले तो स्वामी जी लिखते हैं कि २४ वर्ष की कन्या और ४८ वर्ष का वृद्ध पुरुष विवाह करें तो ही उत्तम है, स्वामी जी के मतानुसार १६ वर्ष की कन्या और २५ वर्ष के पुरूष का विवाह करना या करवाना बेकार है, लेकिन ऐसे अनगिनत प्रमाण हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि आर्य लोग भी थोड़ी ही अवस्था में विवाह करते थे जैसे भगवान राम का विवाह १५ वर्ष की उम्र में हुआ, अभिमन्यु का विवाह १४ वर्ष की उम्र में उत्तरा के साथ हुआ और १६ वर्ष की उम्र में महाभारत के युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए, और उस समय उनकी पत्नी उत्तरा गर्भवती थी जिससे राजा परीक्षित उत्पन्न हुए, यह वाल्मीकि रामायण और महाभारत से सिद्ध है उठाकर देख लिजिए, जो तुम्हारे कहें अनुसार २५, ३०, और ५८ वर्ष तक बैठे रहते तो पांडवों का तो वंश ही समाप्त हो गया होता,

इसलिए सही समय पर ही विवाह कर देना उचित है यदि विवाह थोड़ी ही अवस्था में हो जाए तो २०-२५ वर्ष में सन्तान इस योग्य हो जाता है कि पिता की ४५-५० वर्ष की क्षीण अवस्था तक सामर्थ हो पिता की सहायता के योग्य हो जाता है क्योंकि आजकल तो ७० से ७५ वर्ष की अवस्था में ही बहुतों की मृत्यु हो जाती है ऐसे में ४८ वर्ष की उम्र (जो कि क्षीण अवस्था होती है) में

विवाह किया तो दो तीन वर्ष उपरांत ही पूर्ण जराग्रस्त पुरुष और पूर्ण युवावस्था युक्त स्त्री होती है तो बस " वृद्धस्य तरूणी विषम् " बुढ्ढों के लिए तो कम उम्र की कन्या वैसे ही विष समान है उनको तो बहुत प्रसंग भाता ही नहीं, ऐसे में वो स्त्री किसी और नव युवा की खोज करके धर्मच्युत होती है, अब स्वयं को ही ले लिजिए यदि तुम्हारा विवाह ४८ वर्ष की उम्र में किसी २४ वर्ष की कन्या से हो जाता तो वो बेचारी आज सिर पटकती या नहीं, कहने का अर्थ यह है कि तुम्हारे इस कपोल कल्पित सिद्धांत से सिर्फ हानि ही होगी, और आज के समय में यह सिद्धांत चलने वाला नहीं, अपने लाडले शिष्यों को ही देख लो, यदि कोई किसी एक समाजी का नाम भी बता दें जिसने तुम्हारे इस लेखानुसार ४८ वर्ष की उम्र में विवाह किया हो, कहने का अर्थ यह है कि जब तुम्हारे लाडले शिष्य ही तुम्हारी बातों को महत्व नहीं देते तो फिर भला दुसरे बुद्धिमान लोग तुम्हारी इस गपडचौथ को क्यों मानेंगे, स्वामी जी ने अपने लाडले शिष्यों को ४८ वर्ष की उम्र में विवाह करने का आदेश दिया परन्तु बड़े दुख की बात है कि एक भी समाजी उनकी बात को महत्व नहीं देते,

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६०,

"प्रश्न- **अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।**

दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊध्वं रजस्वलाभ्॥१॥

ये श्लोक पाराशरी और शीघ्रबोध् में लिखे हैं, अर्थ यह है कि कन्या आठवें वर्ष गौरी, नवमे वर्ष रोहिणी, दशवें वर्ष कन्या और उस के आगे रजस्वला संज्ञा हो जाती है

जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है वैसे ही गौरी, रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है, यदि गोरी कन्या न हो किन्तु काली हो तो उस का नाम गौरी रखना व्यर्थ है और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वसुदेव की स्त्री थी उस को तुम पौराणिक लोग मातृसमान मानते हो, जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो तो फिर उन से विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है"

समीक्षक-- पराशर जी ने यह श्लोक मनुस्मृति के इस श्लोक से आशय लेकर बनाया है देखें--

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः॥

~[मनुस्मृति- अ० ९, श्लोक ९४]

इस श्लोक में मनु जी ८ से १२ वर्ष की कन्या का विवाह करने का नियम करते हैं यही मनु जी की विवाह करने में आज्ञा है क्योंकि १२ वर्ष तक बहुत सी कन्या ऋतुमती हो जाती है और शास्त्रों में ऋतुमती स्त्री का विवाह ने करने पर महादोष कथन किया है, इसी कारण पराशर जी ने मनुस्मृति के इन श्लोकों का आशय लेकर यह श्लोक लिखें परन्तु दयानंद ने पराशर जी के इस श्लोक का अर्थ तोड़ मरोड़ कर अर्थ का अनर्थ कर दिया है पराशर जी का मतलब यह नहीं है देखिए यह केवल संज्ञा मात्र बांधी है कि आठ वर्ष की बालिका गौरी संज्ञक, जो नव वर्ष की बालिका हो उसकी संज्ञा रोहिणी, दश वर्ष की बालिका कन्या संज्ञक और उसके आगे राजस्वला संज्ञा हो जाती है

और विवाह का अर्थ यह नहीं जैसा दयानंद ने दिखाने का प्रयास किया है विवाह का अर्थ केवल सन्तान उत्पत्ति से मानना यह

गधों का काम है विवाह का अर्थ केवल सन्तान उत्पत्ति नहीं होता विवाह की परिभाषा हम इससे पहले कर आए हैं पढ़ लेना,

अब दयानंद इतना बडा भी मूर्ख नही था कि इस श्लोक का आशय न समझ सकें लेकिन अपनी आदत से मजबूर दयानंद ने इस श्लोक के अर्थ को तोड़ मरोड़ कर इस प्रकार लिखा, कि
" गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वसुदेव की स्त्री थी उस को तुम पौराणिक लोग मातृसमान मानते हो, जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो तो फिर उन से विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है "

अब कोई इस धूर्त से यह पूछे कि क्या गौरी सदा आठ ही वर्ष की रहती है और रोहिणी नौ वर्ष की ही रहती है और जो नाम के अनुसार ही अर्थ करते हो तो फिर तुम्हें यह प्रश्न सबसे पहले अपने बाप से करना चाहिए था कि उसने यशोदा नाम की स्त्री से विवाह क्यों किया? क्योकि यशोदा तो श्रीकृष्ण की माता का नाम है जिसे हम सब मातृ समान मानते हैं और तुम्हारा बाप तो था ही पौराणिक फिर भी तुम्हारे बाप ने यशोदा नाम की स्त्री से विवाह किया, इस पुस्तक में बकचोदी करने से अच्छा अपने पिता से पूछ लिया होता, और यदि फिर भी नाम ही के अनुसार अर्थ लेते हो तो यदि कोई पौराणिक किसी यशोदाबाई नाम की स्त्री से विवाह कर लें तो इसका मतलब यह तो नहीं कि वह दयानंद का पिता हो गया क्योंकि यशोदाबाई तो तुम्हारी माता का नाम है कहने का अर्थ यह है कि जैसे यशोदाबाई नाम की स्त्री के साथ विवाह करने से कोई दयानंद का पिता नहीं बन जाता जैसे यह सम्भव नहीं उसी प्रकार गौरी और रोहिणी संज्ञक बालिका का अर्थ महादेव और वासुदेव की स्त्री से मानना ठीक नहीं है,

और जो तुमने यह बिना बात की बकचोदी की है कि " यदि गोरी कन्या न हो किन्तु काली हो तो उस का नाम गौरी रखना व्यर्थ है " जो नाम ही के अनुसार अर्थ लेते हो, तो फिर तो जिसका नाम चंपा, चमेली आदि हो तो नाम अनुसार ही कर्म होने चाहिए जैसे तुम्हारा नाम दयानंद है तो तुम्हें सदा आनंद में ही रहना चाहिए पर ऐसा दिखता नहीं जन्म से ही तुम दुखी आत्मा थे जबसे पैदा हुए हमेशा रोते ही रहे, मन कभी स्थिर नहीं रहा और तो और अंत समय में भी महीनों की दर्दनाक पीड़ा सहने के बाद मृत्यु को प्राप्त हुए, तुम्हारा नाम तो दयानंद था फिर ऐसा क्यों हुआ?

और सुनिए यदि नाम अनुसार ही अर्थ माने तो व्याकरण में जिन शब्दों की नदी, अग्नि आदि संज्ञा मानी है तो क्या वे शब्द पानी होकर बहते व अग्नि होकर जलते हैं इससे यह उच्चारण मात्र संज्ञा बांधी है इस प्रकार वह बालिका गौरी या रोहिणी नहीं हो जाती, जब कहें कि यह बालिका रोहिणी तो जान लेना की इसकी अवस्था नौ वर्ष की है गौरी कहें तोजान लेना चाहिए की आठ वर्ष की है इसी प्रकार कन्या कहने पर जान लेना चाहिए की वह दस वर्ष की है और उसके आगे राजस्वला और यहीं मनु जी की विवाह करने में आज्ञा है क्योंकि १२ वर्ष तक कन्या ऋतुमती हो जाती है इसी कारण मनु जी ८ से १२ वर्ष तक कन्या का विवाह कर देने की आज्ञा करते हैं और मनु जी के इन श्लोकों का आशय लेकर ही पराशर जी ने यह श्लोक लिखें हैं, क्योकि शास्त्रों में ऋतुमती स्त्री का विवाह ने करने पर महादोष कथन किया है, उसका कारण यह है कि ऋतुदान बिना विवाह के नहीं होना चाहिए, क्योकि ऋतुसमय में संयोग होने से कदाचित संतान उत्पत्ति हो जाती है इसी कारण ऋतु धर्म जिसे

होने लगा हो उसका विवाह नहीं करने से माता पिता पापभागी होते हैं

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६१,

“त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ -मनु० [९/१०]

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। तब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं”

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६२-६३,

“(प्रश्न) विवाह माता पिता के आधीन होना चाहिये वा लड़का लड़की के आधीन रहै?

(उत्तर) लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिये,

,,,,,,,,,जब तक इसी प्रकार सब ऋषि-मुनि राजा महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी, जब से यह ब्रह्मचर्य्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता पिता के आधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है”

समीक्षा-- वाह स्वामी वाह! क्या शिक्षा करी है अपने लाडले शिष्यों को, वर्णसंकर नस्ल तैयार करने को तुम्हारा यह लेख ही

काफी है, स्वामी जी ने मनुस्मृति के इस श्लोक के अर्थ का किस प्रकार अनर्थ किया है उसे देखिए स्वामी जी लिखते हैं कि

" कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे " यह तो स्वामी जी ने साफ-साफ स्त्री को व्यभिचारीणी बनाने की विधि लिखीं हैं यह क्या बात हुई कि माता पिता तो घर में चैन से बैठे और बेटी गली-गली, गाँव नगर पति ढूंढती फिरें, और अपने आप विवाह भी कर लें, शौक है ऐसी बुद्धि पर!

स्वामी जी ने इस श्लोक के अर्थ का भी उसी प्रकार अनर्थ किया है जैसे अन्य श्लोको के साथ किया है देखिए इसका सही अर्थ इस प्रकार है-

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥

अर्थात जिस कन्या के मातापितादि नहीं हो वह ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक (उदीक्षते) अपने कुटुम्बियों की प्रतीक्षा करें कि वह विवाह कर दें, जब यह समय भी बीत जाएं तो अपनी जाति के पुरूष जो अपने कुल गोत्र के सदृश हो उसे वरण करें,

यह आपद्धर्म है वर्ना नृप कुल छोड़कर स्त्री को स्वयं वरण करने का अधिकार नहीं है, परन्तु स्वामी जी ने तो कुल गोत्र, जाति, धर्म सबको ताक पर रखकर विवाह का अधिकार लड़का लड़की के आधिन कर दिया, कि माता पिता घर पर बैठे और लड़की गली नगर घुम घुमकर पति ढूंढें स्वामी जी का यह सिद्धांत पुरी तरह से धर्म शास्त्रों के विरुद्ध है विवाह का अधिकार लड़का लड़की के आधिन नहीं होना चाहिए, यदि कहो की युवावस्था में स्त्री रूचि अनुसार पति ढूंढ लेगी तो व्याभिचारिणी न होगी तो इसका

उत्तर यह है कि प्रायः स्त्री जाति पुरुषों में पति को अन्यान्यगुणों की अपेक्षा सुन्दरता युक्त होना अधिक चाहती है जैसे कि पुरुष सुन्दर स्त्री ढूंढते है और इसलिए लडका लड़की के आधिन विवाह होने में यह दोष है कि स्त्री रूप की प्यासी होती है जानें कौन सी जाति, धर्म के पुरूष को पसन्द करें, क्योकि " भिन्नरूचिहिर्लोक " सबके मन की रूचि भिन्न होती है तो ऊँच नीच संयोग होने से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है, इससे विवाह लड़का लड़की के आधिन नहीं होना चाहिए और सुनो यह जो स्वामी जी ने लिखा है कि " जब तक सब ऋषि-मुनि राजा महाराजा आर्य लोग स्वयंवर विवाह करते थे तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी, परन्तु जब से माता पिता के आधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है " यह कथन भी दयानंद का मिथ्या ही है, क्योकि स्वयंवर केवल क्षत्रियों राजा-महाराजाओं में हुआ करते थे जिसमें क्षत्रिय जाति के राजा-महाराजा एकत्र हुआ करते थे, क्षत्रियों के अलावा ब्राह्मण, वैश्य या शूद्रों में स्वयंवर नहीं होता था लेकिन स्वामी जी ने जाति वर्ण सब मेंट सब ही के लिए लिख दिया मानो वर्णसंकर की उन्नति का द्वार खोल दिया, और जो दयानंद ने यह लिखा कि जब तक आर्यावर्त में स्वयंवर विवाह होते थे तब तक आर्यावर्त की उन्नति हुई है, लेकिन स्वयंवर विवाह से हानि छोड़ देश की उन्नति हुई हो ऐसा तो कभी देखने में नहीं आया, इतिहास में देखें तो रमायण और महाभारत जैसे महायुद्ध का कारण स्वयंवर विवाह ही था और दोनों ही युद्धों में आर्यावर्त की भारी क्षति ही हुई है उन्नति कैसी?

और विवाह का अधिकार लड़का लड़की के आधिन करके तुमने कन्यादान की प्रथा ही मिटाने की सोच ली, मुझे नहीं

लगता तुम जैसा मन्द बुद्धि कन्यादान का अर्थ भी समझता होगा, जब कन्यादान शब्द विवाह में कहा जाता है तो बिना पिता की अनुमति के स्वयं कैसे पति वरण कर सकती है, जबकि दान तो दिया जाता है तो देने वाले को अधिकार है परन्तु दाता को पात्र-पात्र का विचार अवश्य कर लेना चाहिए, परन्तु तुमने तो कन्यादान की प्रथा ही मिटाने की ठान रखी है

और मनु जी भी स्त्री की स्वाधीनता नहीं अंगीकार करते हैं देखिए-

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।

पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।

तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥

-मनुस्मृति [अ० ५, श्लोक १४८,१५१]

स्त्री को बचपन में पिता के अधीन, युवा होने पर हाथ ग्रहण करने वाले पति के अधीन, तथा पति की मृत्यु हो जाने के पश्चात पुत्रों के अधीन रहना चाहिए, परन्तु स्वतंत्र कभी नहीं रहना चाहिए,

लड़की का यह धर्म है कि उसका पिता या पिता की आज्ञा से भाई जिस भी पुरूष से उसका विवाह करें, वह उसे पति रूप में स्वीकार कर जीवन भर उसकी सेवा करें, पति की मृत्यु हो जाने पर अपने धर्म का पालन करें, इत्यादि प्रमाणों के अनुसार विवाह का अधिकार पिता माता के अधीन ही होना चाहिए, स्त्री स्वयं पति वरण नहीं कर सकती और जो स्वयंवर है वह केवल राजा महाराजाओं में हुआ करते हैं

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६८,

“कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए क्योंकि युवावस्था में स्त्री पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है, परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहैं तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिस को ‘फोटोग्राफ’ कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें, जिस-जिस का रूप मिल जाय उस-उस के इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो उस को अध्यापक लोग मंगवा के देखें, जब दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश हों तब जिस-जिस के साथ जिस-जिस का विवाह होना योग्य समझें उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इस में जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हम को विदित कर देना, जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय तब उन दोनों का समावर्त्तन एक ही समय में होवे, जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहां, नहीं तो कन्या के माता पिता के घर में विवाह होना योग्य है, जब वे समक्ष हों तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता पिता आदि भद्रपुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रर्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें”

समीक्षक-- अब स्वामी जी की फोटो विवाह की लीला सुनिए, भला इसमें कौन सी श्रुति प्रमाण है कि कन्या की फोटो वर और

वर की फोटो कन्या के अध्यापक के पास जाए, जबकि वर और कन्या के पास फोटो गई तो वे सूरत के अलावा और कुछ देख ही नहीं सकते, और जीवन चरित्र कहाँ से आवें जबकि दोनों अध्यापक के पास पढ़ते हैं और उस समय जीवन चरित्र की आवश्यकता भी क्या है? क्योकि केवल विद्या अध्ययन के अलावा और उनके जीवन चरित्र में क्या हो सकता है, यही की ये ये विषय पढ़े है या फिर और कुछ? यदि और कुछ तो वो क्या हो? और उनमें कौन से चरित्र लिखें जाएं, आपने इस विषय में कुछ बताया ही नहीं, जो कहो कि जन्म से लेकर २५, ३० और ४८ वर्ष तक का पूरा जीवन चरित्र हो तो प्रश्न यह उठता है कि उसमें क्या लिखें? यही की जन्म से पाँच वर्ष की अवस्था तक खेला कूदा उसके अलावा गुरूकुल में जाकर पढ़ने लगा, इसके अलावा और क्या हो सकता है और उस जीवन चरित्र का लेखक और साक्षी कौन होगा, तुम या तुम्हारे नियोगी चैले? जो कहो की अध्यापक जीवन चरित्र लिखें तो यदि एक अध्यापक के पास ५० से १०० शिष्य भी हुए और वह उनका २५, ३० और ४८ वर्ष का जीवन चरित्र लिखने बैठ जाए तो विद्यार्थीयों को घण्टा पढ़ायेगा, या तो फिर वो जीवन चरित्र ही लिखेगा या फिर पढ़ा ही लेगा, और बिना लाभ २५, ३० या ४८ वर्ष का इतिहास लिखने कौन बैठे? एक दो हो तो लिख भी दे परन्तु जहाँ ५०-१०० विद्यार्थीयों का ४८ वर्ष तक का इतिहास लिखना हो वहाँ क्या पता? क्योकि जब विद्यार्थी अध्यापक के पास ही रहे हैं तो उनकी व्यवस्था वे ही ठीक प्रकार से जानते हैं और जब वह धन लेकर ही पुस्तक बनायेंगे तो यह भी संभव है कि अधिक धन देने वाले के अवगुणों को छिपाकर केवल गुण ही लिखें, क्योकि वे तो इस बात को जानते ही हैं कि यदि विद्यार्थीयों के अवगुण लिखेंगे तो उनका विवाह नहीं होने का, इसी प्रकार लड़की भी करेगी जो कुछ घर

से खर्च मिलेगा उसमें से कुछ जीवन चरित्र लिखने वाले को भेंट करेगी, जो कहो की सब ऐसे नहीं होते तो और सुनो, यदि उन्होंने लड़के लड़की के अवगुणों का जीवन चरित्र लिखा तो अब उनसे कौन विवाह करें वो किसकी जान को रोवें, विधवा पर तो आपने मेहरबान होकर उसके वास्ते नियोग और एकादश (ग्यारह) पति करने को लिख दिया परन्तु वे कुमारी क्या करें? वो पति करें या नहीं और करें तो कितने करें? यह कुछ नहीं लिखा तुमने क्योकि जो अवगुणयुक्त है उनसे विवाह कौन करें? और फोटो से पसंद करने के उपरांत यदि उसे कोई दूसरा उससे अधिक रूप गुण वाला मिला तो वो स्त्री किसी दूसरे के संग करने की इच्छा कर सकती है इससे तुम्हारा यह फोटो विवाह वाला फॅार्मूला यही भ्रष्ट हो जाता है

और यह गुरूकुल में जाने से पहले जन्म से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था तक का इतिहास किस काम आयेगा और उसमें लिखा क्या जाए? धूरी में लेटना, पड़े पड़े मूत्रादि कर देना, रोटी को ओटी, पानी को मम कहना क्या यह सब भी लिखा जाए, क्योकि यज्ञोपवीत के पश्चात गुरूकुल में विद्या अध्ययन के लिए गए विद्यार्थी का जीवन चरित्र सिवाय पढने के और हो भी क्या सकता है? और यदि जीवन चरित्र को ही प्रमाण मानते हो तो कोई स्वामी जी से यह पूछे कि तुम्हारा और तुम्हारे माता पिता का ४० वर्षों का जीवन चरित्र कहाँ है? यदि कोई दयानंदी यह बोलें की 'दयानंददिग्विजयार्क' दयानंद का जीवन चरित्र है तो वह तो किसी दयानंदी चैले ने दयानंद की मृत्यु के उपरांत रचा है इसलिए वह प्रमाण नहीं जो कहे कि दयानंद ने अपना आत्मचरित १८८० के 'थियोसोफिस्ट पत्र' में छपवाया तो भी बिना साक्षी स्वयं लिखित जीवन चरित्र प्रमाण नहीं क्योकि अपना

चरित्र कोई अपने आप लिखें तो वह अपने अवगुण नहीं लिखता, क्योकि जो अपने अवगुण भी लिखें तो सिवाय निंदा के कुछ प्राप्त न हो, सो यह संभव है कि अपना चरित्र लिखने वाला बडाई की इच्छा से बहुत कुछ असत्य भी लिखता है, इसलिए वो जीवन चरित्र प्रमाण नहीं,

और जैसा कि ईसाइयों में प्रचलित हैं कि लड़का लड़की अपनी मर्जी से पादरी के सामने विवाह कर लेते हैं उसी प्रकार स्वामी जी लिखते हैं कि " जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वही कर लेवें " स्वामी जी का आशय तो वही है परन्तु थोड़ा सा घुमा कर लिखा है अरे भाई सिधा-सिधा लिख देना था कि ईसाई बन जाओं, प्राचीन समय से आज तक तो पिता, माता, भाई सम्बन्धीयों के सम्मुख कन्या के घर पर ही विवाह होता आया है पर स्वामी जी ने यह नई प्रथा चला दी की लड़का लड़की अपनी इच्छा से अपने आप ही विवाह कर लेवें, और तो स्वामी जी ने यह भी खुब लिखा कि " जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाये उसके पश्चात ही अध्यापक उनके पिता माता को यह सूचना दे " धन्य है स्वामी जी आपकी बुद्धि, अरे भाई जब सारी प्राचीन प्रथा मिटा ही डाली तो इसकी भी क्या जरूरत है? सिधा जब उनके बच्चे वगैरह हो जाएं तो कन्या के घर सूचना भीजवा देते, जब माता पिता से विवाह का अधिकार ही छिन लिया तो फिर विवाह तय हो जाने के बाद माता पिता को सूचना देने का क्या मतलब बनता है? यही तो तुम्हारे भंग की तरंग है भंग के नशे में क्या लिख दिया? खुद को खबर नहीं,

और सुनिए जब कन्या के पास २५-३० लड़को की फोटो जाएगी तो निश्चय ही सबमें कोई न कोई अलग बात अंदाज सबमें कुछ

न कुछ तो विशेषता अवश्य होगी, अब पसंद किसे करें दबाव में किसी एक को तो स्वीकार करना ही होगा, परन्तु मन में तो और पुरूषों का भी कटाक्ष समाया रहेगा और यहीं व्यभिचार का लक्षण है, क्योकि सभी अपने से उत्तम को ही चाहते हैं स्वामी जी गुण कर्म मिलाने को लिखते हैं लेकिन कन्या की इच्छा विशेष में हुई और वे अध्यापक गुण कर्म मिलाने लगे और कन्या से बोलें इनमें से एक पसंद कर लो तो अब लाचारी में ही सही उसे उनमें से एक को स्वीकार करना ही होगा पर मन में तो और ही पुरुष रहा और ठीक यही दशा पुरुषों की भी है तो अब कहो वह पति का अचल प्रेम और आपस की सम्मति कहाँ रही?

और गुण कर्म घण्टा मिलावें कर्म तो सबका पढना ही हुआ फिर मिलावें क्या यही की जो जो विषय लड़के ने पढ़ा है वह लड़की ने पढ़ा है या नहीं, कदाचित यदि लड़की को झाड़ू पोछा करना आता हो तो लड़का भी झाड़ू पोछा करना जानता हो वर्ना कर्म कैसे मिलेगा? और गुण कौन से मिलावे यही की यदि किसी में तमोगुण हो तो दुसरा भी तमोगुणी होना चाहिए जो रात दिन घर में कलेश होता रहे, और यह क्या बात हुई कि गुण कर्म न मिले तो विवाह ही न करें, विधवा कि तो कामग्नि बुझाने को तुमने यह दया करी कि उसे एकादश (ग्यारह) पति करने को लिख दिया, ग्यारह पति करने में कोई दोष नहीं और कुमारी पर यह कोप की विवाह ही न करें भला उसकी संतान उत्पत्ति की इच्छा और कामबाधा को कौन पूर्ण करेगा? धन्य हे स्वामी जी आपकी बुद्धि, लगता है यह लेख लिखने से पूर्व भर लौटा भंग पिया था,

और स्वामी जी ने यहाँ वह गुप्त बात भी न लिखीं कि क्या पूछे, यही की नपुंसकादि रोग तो नहीं है या ये की विर्यस्थापन और विर्यआकर्षण की विधि आती है या नहीं, अब भला यह बात बिना

परीक्षण ज्ञात कैसे हो? और जो गुप्त बात है उसे अध्यापक कैसे देखें क्या वे भी किसी प्रकार उनसे निर्लज्जता युक्त भाषण करें, अरे भाई गुप्त बबात को खोलकर ही लिख देते की विवाह से पूर्व एक बार संयोग भी हो जाए तो सब भेद खुल जाएं, लेकिन अब कन्या की परीक्षा कैसे हो कि कहीं वह बांझ तो नहीं है क्योंकि बांझ हुई तो संतान कहाँ से होवे इसलिए या तो किसी अच्छे से डॉक्टर से जाँच करायें या फिर दो, चार महीने संयोग होता रहे जो गर्भ स्थित हो जाए तो विवाह कर लें अन्यथा छोड़ दें, क्यों स्वामी जी गुप्त बात से आपका यही अभिप्राय है न या फिर और कुछ,

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६९,

❝जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो तब वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्ध्यादि द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान् पुरुष और स्त्रियों का यथाथोग्य सत्कार करें, पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें उसी दिन 'संस्कारविधि' पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नता से सब के सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्तसेवन करें,

पुरुष वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है उसी के अनुसार दोनों करें,,,,,,,,जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहैं, डिगें नहीं, पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्यप्राप्ति समय अपान वायु को ऊपर खींचे, योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में

स्थित करे, पश्चात दोनों शुद्ध जल से स्नान करें यह बात रहस्य की है इतने में ही समग्र बातें समझ लेनी चाहिए विशेष लिखना उचित नहीं❞

समीक्षक- वाह स्वामी जी वाह! विवाह का समय क्या अद्भुत रखा है कि जिस दिन रजस्वला होकर शुद्ध हो उस दिन विवाह करें और तुम्हारी बनाईं संस्कार विधि के अनुसार विवाह करावें, यह बड़ी अनोखी बात कह दी तुमने, अब यह बताओ की जब तुम्हारी लिखीं संस्कार विधि नहीं थी तब काहें के अनुसार विवाह होता था, तुम्हारे माता पिता का विवाह कौन से ग्रंथ के अनुसार हुआ था या फिर तुम बिना विवाह के ही उत्पन्न हो गए, क्योकी आपसे पहले तो आपकी संस्कार विधि पुस्तक नही थी, क्योकि तुम तो यह आरोप लगाते हो कि ब्राह्मणों ने ग्रंथ कल्पना कर लिए, तो अब यह बताइये की पूर्व ऋषि मुनि विवाह क्रिया कौन से ग्रंथ अनुसार करते थे, क्योकि यह पुस्तक तो जब बनीं ही नहीं थी, और स्वामी जी ने इसमें बनाया ही क्या है? क्योकि वेद मंत्र तो पूर्वकाल से ही थे, बस तुमने उसमें भाषा लिख दी है और तृतीया समुल्लास के 'पठन पाठन प्रकरण' में तुमने सब भाषा ग्रंथ त्याज्य माना है इसलिए यह भी भाषा मिश्रित होने से त्यागने योग्य है क्योंकि कार्य तो मंत्रों द्वारा होता है भाषा से कुछ प्रयोजन नहीं, फिर तुमने उसमें ऐसा क्या बनाया है जो तुम्हारी संस्कार विधि से ही विवाह करावें, और जहाँ तुम्हारी यह संस्कार विधि पुस्तक नहीं है वहाँ के लड़के लड़की क्या करें विवाह ही न करें,

अब जरा स्वामी जी की संस्कार विधि की शिक्षा सुनिए, " पुरुष स्त्री के हृदय पर हाथ धर के और स्त्री पुरुष के हृदय पर हाथ धर के कहे तुम सदा मेरे मन में बहते रहो " जहाँ सभी सम्बन्धी वृद्ध बच्चे उपस्थित हो वहाँ स्त्रीयों की ऐसी ढीठता, और यह भी

देखिए कि मन में पति को बसा रही है और नियोग के समय अन्य ग्यारह परपुरूषों के साथ नग्न सोती है वाह रे तेरी संस्कार विधि, इसका नाम संस्कार विधि नहीं बल्कि व्यभिचार विधि रख देना चाहिए यह तुम्हारा ४८ वर्ष के बुढ्ढे के साथ २४ वर्षीय स्त्री का विवाह और एकादश पुरुषों के साथ नियोग यह दो लज्जा नाशक व्यभिचार के खंभ है,

आगे सुनिए, स्वामी जी लिखते हैं कि " विवाह सम्पन्न हो जाने पर दोनों स्त्री पुरुष अति प्रसन्नता के साथ सबके सामने एकान्त सेवन करें " अब जरा सोचिए जहाँ माता पिता, भाई सम्बन्धी और वृद्धजन उपस्थित हो वहाँ उन सबके सामने से दोनों स्त्री पुरुष लाजशील छोड़ दश ग्यारह बजे ही एकांत सेवन के लिए चले जाए, धन्य हे स्वामी जी आपकी बुद्धि, और सुनिए आगे लिखते हैं कि " पुरुष वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है उसी के अनुसार दोनों करें ,,,,,,,,जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहैं, डिगें नहीं, पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्यप्राप्ति समय अपान वायु को ऊपर खींचे, योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे " वाह रे वाह! सत्यार्थ प्रकाश के बनाने वाले लालभुजक्कड़ क्या कहना! तुझ को ऐसी अश्लील बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शर्म न आई, निपट अन्धा ही बन गया, यह ग्रंथ है या फिर कोई कामशास्त्र, पाठकगण जरा ध्यान दें जैसा कि स्वामी जी ने लिखा है कि पुरुष वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है उसी के अनुसार दोनों करें अब प्रश्न यह है कि स्त्री ने वीर्याकर्षण का

अभ्यास पहले से किया होगा तभी तो वह वीर्याकर्षण कर सकती है नहीं तो नहीं इसी प्रकार पुरुषों ने भी वीर्यस्थापन का अभ्यास पहले से ही किया होगा, तभी तो आता होगा, और आकर्षण बिना योग क्रिया के आ नहीं सकता, अब यह क्रिया कन्या और पुरूष को कौन सिखावें, क्या यह भी अध्यापक और अध्यापिकाओं के सर मढ़ोगे, क्योकि जब तक स्त्री और पुरुष का संयोग न हो तब तक उन्हें स्वयं आकर्षण का अभ्यास कैसे हो सकता है? इसी प्रकार पुरुषों को भी अभ्यास के लिए स्त्री की आवश्यकता होगी, न जाने यह विद्या स्वामी जी ने कहाँ से सीखी है जब यह विधि स्वामी जी को आती होगी तभी तो लिखीं हैं लगता है स्वामी जी ने इसका काफी अभ्यास किया है तभी इतने विश्वास के साथ लिखा है

कन्या के माता पिता भी बहुत प्रसन्न होते होंगे कि हमारी पुत्री वीर्याकर्षण कर रही है और जमाता वीर्यस्थापन कर रहे हैं,
" और पति स्त्री से कहें कि मैं अब वीर्यस्थापन करता हूँ और वह कहती जाये छोड़ो मैं वीर्याकर्षण करती हूँ " वाह रे वाह! सत्यार्थ प्रकाश के बनाने वाले लालभुजक्कड़ क्या कहने तेरे! यह रीति तो वैश्याओं तक को लज्जित करने वाली है, इस प्रकार का अश्लील लेख तो सेक्सी उपन्यासों में भी न मिलेगा, अपने लाडले शिष्यों के मनोरंजन के लिए अच्छा कामशास्त्र लिखा है, क्योकि बिना कहें तो विदुषी स्त्री जान नहीं सकती कि कब वीर्यपात होने वाला है तो अब जब पति कहेगा कि मैं छोड़ता हूँ तो वह स्त्री निर्लज्ज हो कहें कि छोड़ो मैं आकर्षण करने के लिए तैयार हूँ दूसरी ओर कन्या के माता पिता भी प्रसन्न होते होंगे कि पुत्री वीर्याकर्षण कर गर्भधारण कर रही है, भाड़ में जाए ऐसी रीति

जो वैश्याओं तक को लज्जित कर दे, इससे ही ज्ञात हो जाता है कि स्वामी जी ने कामशास्त्र में कितना अभ्यास किया है,

अब जहाँ तक मैंने पढ़ा है कि जब तक स्त्री का रज और पुरूष का वीर्य नहीं मिलता तब तक गर्भ की स्थिति नहीं होती, इसलिए जब तक रज वीर्य नहीं मिलते तब तक चाहे स्त्री अपान वायु को ऊपर खींचें, या फिर योनि को ऊपर संकोच कर आकर्षण करें तो भी गर्भ स्थित होना कठिन ही हैं

और यदि स्वामी जी की ही बात सत्य मानें तो सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि से पूर्व सृष्टि ही नहीं होनी चाहिए थी और यदि ऐसे ही होता तो तुम्हारा जन्म भी नहीं होता यदि गर्भ का तत्काल धारण करना स्त्रीयों के आधिन होता तो क्यों कोई स्त्री बांझ होती यह तुम्हारी बात रहस्य की तो नहीं किन्तु निर्लज्जता से भरी वर्ण व्यवस्था का सत्यानाश करने वाली है यह स्वामी जी के ही लेख का उत्तर है जितने दोष उसमें गुप्त रूप से लिखें थे उन्हें खोलकर समझा दिया है जिससे कि मनुष्य इस सभ्यतानाशक (आर्य समाज) अंधकूप में गिरने से बचें यह केवल दयानंद के लेख का उत्तर था इसलिए ध्यान रहे दयानंद के पंथ में आने के बाद ये ये अनर्थ करने पड़ेंगे इसका ध्यान करने के बाद ही इधर कदम रखना,

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६९-७०,

“गर्भ में दो संस्कार एक चौथे महीने पुंसवन और दूसरा आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन विधि के अनुकूल करे,

,,,,,,,,सन्तान के कान में पिता ‘वेदोऽसीति’ अर्थात् ‘तेरा नाम वेद है’ सुनाकर घी और सहत को लेके सोने की शलाका से जीभ पर

‘ओ३म्’ अक्षर लिख कर मधु और घृत को उसी शलाका से चटवावे, पश्चात् उसकी माता को दे देवे, जो दूध पीना चाहै तो उस की माता पिलावे जो उस की माता के दूध न हो तो किसी स्त्री की परीक्षा कर के उसका दूध पिलावे, पश्चात् दूसरे शुद्ध कोठरी वा जहां का वायु शुद्ध हो उसमें सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायंकाल किया करे और उसी में प्रसूता स्त्री अपने शरीर के पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन और योनिसंकोचादि भी करे, छठे दिन स्त्री बाहर निकले और सन्तान के दूध पीने के लिये कोई धायी रक्खे, वह सन्तान को दूध पिलाया करे और पालन भी करे, स्त्री दूध बन्ध करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिस से दूध स्रवित न हो,

पश्चात् नामकरणादि संस्कार ‘संस्कारविधि’ की रीति से यथाकाल करता जाय❞

समीक्षक-- भला यह चौथे आठवें महीने के संस्कार से क्या लाभ विचारा है स्वामी जी ने? प्राचीन लोगों में तो संस्कार से निर्मूल बुद्धि आरोग्यता शुभ कर्म युक्त सन्तान संस्कार करने से होता है ऐसा मानते हैं और स्वामी जी ने तो हवन में वेद मंत्र कंठ रहने का लाभ बताया है, फिर यहाँ संस्कार से क्या सिद्धि है? क्या जाने की वो शुद्र ही हो जाएं तो यह गर्भाधान के दो संस्कार मिथ्या ही जायेंगे और संस्कार की स्वामी जी ने आवश्यकता ही क्यों लिखीं जबकि वे पहले ही लिख आए हैं कि बिना यज्ञोपवीत के शुद्र को मंत्र भाग पढ़ावे तो फिर संस्कार की आवश्यकता क्या है? जब ४८ वर्ष उपरांत ब्रह्मचर्य हो चूकेगा तब वर्णों में योग्यता अनुसार कर दिया जाएगा,

और जैसा कि स्वामी जी ने आगे लिखा है “ बालक को स्वर्ण की शलाके से घी शहद चटाना जीभ पर ओम् लिखना बालक के

कान में तेरा नाम वेद हैं" ऐसा कहना इससे क्या प्रयोजन है? तथा स्वामी जी द्वारा रचित संस्कार विधि के अनुसार बालक से ऐसी बातें कहना जैसे कोई बड़ो से कहें " हे बालक मैं तुझे मधु धृत का भोजन देता हूँ, तुझे मैं वेद का दान देता हूँ, हे बालक भूगोल, अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक का ऐश्वर्य तुझमें मैं धारण करता हूँ" विचारने की बात है क्या यह स्वामी जी का तंत्र नहीं है अरे भाई आप ऐसे कहाँ के परमेश्वर के दरोगा है जो तीनों लोकों का ऐश्वर्य चाहे जिसे हाथ उठाया दे दिया और बालक क्या भूखे मरेंगे, और जिसे त्रिलोक का ऐश्वर्य मिल गया तो वह दरिद्र न होना चाहिए अब क्योंकि जब सबके संस्कार की यही विधि है तो कोई दरिद्र नहीं होना चाहिए, और बालक के कान में यह कहना कि तेरा नाम वेद हैं भला वो दस दिन का बालक क्या समझेगा कि वेद किसे कहते हैं? आठ दस वर्ष का बालक तो वेद मंत्र नहीं समझ पाता और यह दस दिन का बालक वेद तक समझता है, धन्य हे स्वामी जी आपकी बुद्धि, जो ये कहो कि यह कथन मात्र है तो जन्मते ही बालक को झूठ में क्यों फसाना?

आगे स्वामी जी लिखते हैं कि " इसके पश्चात् दूसरे शुद्ध कोठरी में जहां की वायु शुद्ध हो उसमें सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायंकाल होता हो उसी में प्रसूता स्त्री अपने शरीर के पुष्टि के अर्थ योनिसंकोचादि करे" वाह जी वाह! क्या कहने स्वामी जी के, योनिसंकोचन के लिए क्या जगह का चुनाव किया है? बहुत खुब, स्वामी जी को योनि संकोचन का बड़ा ध्यान रहता है परन्तु स्वामी जी ने यह नहीं बताया कि प्रसूता स्त्री योनिसंकोचन कब और किस प्रकार करें, प्रात: होम के समय या फिर सांय होम के समय करें या फिर दोनों संध्यावेला में, होम के समय योनिसंकोचन करें या फिर होम की समाप्ति पर योनि संकोचे

आपने कुछ बताया नहीं और ना ही यह बताया कि किस प्रकार योनिसंकोचन करें यदि कोई औषधि वगैरह लिख देते तो विषयी स्त्रियाँ आपसे बड़ी प्रसन्न होती परन्तु आपने कुछ बताया ही नहीं बस यह लिख दिया कि “जहाँ सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायंकाल होता हो उसी में प्रसूता स्त्री योनिसंकोचन करें” शोक है ऐसी बुद्धि पर जिस स्थान पर होमादि करें वही स्त्री योनिसंकोचन करें, क्या यही तुम्हारा धर्म यही तुम्हारी शर्म है,

आगे देखिए आगे लिखते हैं कि “ छः दिन तक माता दूध पिलावे उसके पश्चात प्रसूता स्त्री दूध बन्द करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करें कि जिससे दूध स्त्रावित न हो ” बहुत खुब! दूध रोकने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करें, कैसा लेप करें? और काहें का लेप करें? और काहें को लेप करें? गपोड़ानंद जी महाराज कुछ कारण तो लिख दिया होता, जिस अमृत तुल्य दूध का प्रकृति स्वतः निर्माण करती है उस दूध को रोकने का प्रयोजन क्या है? यदि प्रसूता स्त्री का दूध व्यर्थ ही होता तो फिर यह स्वतः बनता ही क्यों है? कुछ नहीं तो उस औषधि का नाम ही लिख देते जिसके लेप से दूध का स्त्राव रूक जाए इस पुस्तक का नाम सत्यार्थ प्रकाश नहीं बल्कि निर्लज्ज प्रकाश होना चाहिए था स्वामी जी इस पुस्तक तथा अपनी संस्कार विधि में ऐसे मिथ्या संस्कार लिखें हैं जो प्राचीन प्रथा के बिल्कुल विरुद्ध है,

✍ सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६४,

“येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः।

तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ ~मनु०

जिस मार्ग से इस के पिता, पितामह चले हों उस मार्ग में सन्तान भी चलें परन्तु (सताम्) जो सत्पुरुष पिता पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उन के मार्ग में कभी न चलें

,,,,,,,,, किसी का पिता दरिद्र हो उस का पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फ़ेंक देवे? क्या जिस का पिता अन्धा हो उस का पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे? जिस का पिता कुकर्मी हो क्या उस का पुत्र भी कुकर्म को ही करे ”

समीक्षक-- अर्थ का अनर्थ करना तो कोई स्वामी जी से सीखें, स्वामी जी अपनी आदत से मजबूर है स्वामी जी ने इस श्लोक का जैसा अर्थ किया है इसका अर्थ वैसा कतई नहीं है देखिए स्वामी जी लिखते हैं कि “ किसी का पिता दरिद्र हो उस का पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फ़ेंक देवे? क्या जिस का पिता अन्धा हो उस का पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे ” स्वामी जी की यह बात इस स्थान में प्रसंग के विरुद्ध है भला वर्णव्यवस्था से इस बात का क्या सम्बन्ध? और यह नेत्रहीन होना क्या कर्मानुसार हैं जो तुम लिखते हो कि “जिसका पिता अन्धा हो तो क्या पुत्र भी आँखें फोड़ लेवें” भला इस बात का इस श्लोक से क्या सम्बन्ध?

गलती स्वामी जी की नहीं है उनकी बुद्धि जहाँ तक काम करती हैं वह उतना ही लिखते हैं सो स्वामी जी औरों का तो आपने दुष्टआचरण बताया, अपने बड़ो को दरिद्र और नेत्रविकारी ठहराने से पूर्व धर्म और धर्म वालों पर आक्षेप किया सो आपके इस लेख से यह भी विदित होता है कि आपके पिता, पितामह दुष्ट आचरण वाले थे इसलिए आपने उस मार्ग को छोड़ दिया

जिस पर आपके पिता, पितामह चलते आए, अर्थात इस समय आपके आचरणों पर आपके शिष्यों को चलना चाहिए

देखिए इस श्लोक का अर्थ वैसा नहीं है जैसा आप दिखाने का प्रयत्न करते हैं इस श्लोक का आशय यह है कि " जिस पुण्य पथ पर व्यक्ति के पिता, पितामह, पूर्वज चलते रहे हैं वहीं श्रेष्ठ मत अर्थात सत्पुरुषों का अनुष्ठान किया हुआ है (क्योकि वे वेद के जानने वाले थे इस कारण संध्या, अग्निहोत्र, श्राद्धादि सिद्धांतों को निभ्रान्त करते थे) उसी पुण्य पथ पर पुत्र भी चलें " यह नहीं कि आपके पिता (अम्बाशंकर) तो सनातन धर्म का प्रतिपालन करें और बेटा मूर्ति पूजा श्राद्धादि का खंडन करता फिरें, पिता पतिव्रता धर्म का प्रचार करें और बेटा स्त्रीयों को एकादश पति करवाता फिरें, पिता विधवा से व्रत करावें और बेटा विधवा से नियोग करवाता फिरें, माता पिता तो पुत्र को अच्छे संस्कारों से पोषित करें और बेटा माता से पुत्र को अश्लील शिक्षा करने को कहें, इत्यादि इन्हीं आधुनिक मतों का निषेध करते हुए मनु जी ने यह श्लोक लिखा है कि जिस पुण्य पथ पर पिता, पितामह चले हो उसी पथ पर आप चलें

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ६५,

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या शूद्रो अजायत॥

यह यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वां मन्त्र है, इसका यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है।

दयानंद का उत्तर- इस मन्त्र का अर्थ जो तुम ने किया वह ठीक नहीं क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है, जब वह निराकार है तो उसके मुखादि अंग नहीं हो सकते, जो मुखादि अंग वाला हो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता जीवों के पुण्य पापों की व्यवस्था करने हारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता।

इसलिये इस का यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बाहू) बल वीर्य का नाम बाहु है वह जिस में अधिक हो सो (राजन्यः) क्षत्रिय (ऊरू) कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम है जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे आवे प्रवेश करे वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीच अंग के सदृश मूर्खतादि गुणवाला हो वह शूद्र है, जैसा मुख सब अंगों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है, जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अंग ही नहीं हैं तो मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है, और जो मुखादि अंगों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसे मुख का आकार गोलमोल है वैसे ही उन के शरीर का भी गोलमोल मुखाकृति के समान होना चाहिये, क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों के शरीर पग के समान आकार वाले होने चाहिये। ऐसा नहीं होता और जो कोई तुम से प्रश्न करेगा कि जो जो मुखादि से उत्पन्न हुए थे उन की ब्राह्मणादि संज्ञा हो परन्तु तुम्हारी नहीं; क्योंकि जैसे और सब लोग गर्भाशय

से उत्पन्न होते हैं वैसे तुम भी होते हो, तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो इसलिये तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हम ने अर्थ किया है वह सच्चा है❞

समीक्षक- दयानंद उन लोगों में से है जो बुद्धि के पीछे लठ लेकर दौड़ते है शायद स्वामी जी नहीं जानते कि यह पुरुष सुक्त का मंत्र है इसमें सृष्टि उत्पन्न होने का वर्णन है और स्वामी जी हे की गुण कर्म के गीत गा रहे हैं, धन्य हे स्वामी जी तुम्हारी बुद्धि,

यदि स्वामी जी इसके पूर्व का मंत्र लिख देते तो सब भेद खुल जाता देखिए इससे पूर्व ये मंत्र है कि-

यत् पुरुषं व्य् अदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।

मुखं किम् अस्य कौ बाहू का ऊरू पादा ऽ उच्येते॥

~यजुर्वेद {३१/१०}

(प्रश्न)- जिस परमेश्वर का यजन किया उसकी कितने प्रकारों से कल्पना हुई उसका मुख, बाहु, उरू, कौन हुए और कौन पाद कहे जाते हैं

इसके उत्तर में यह मंत्र है कि--

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या शूद्रो अजायत॥ ~यजुर्वेद {३१/११}

(अस्य) उस परमेश्वर के, (मुखम्) मुख से, (ब्राह्मण) ब्राह्मण, (बाहु कृतः) बाहु से, (राजन्यः) क्षत्रिय, (अस्य यत् उरू तत् वैश्यः) इसकी जो उरू है उससे वैश्य और (पद्भ्यां) चरणों से, (शूद्रः) शूद्र, (अजायत) उत्पन्न, (आसीत) हुआ,

इस प्रकार इसका सही अर्थ यह होता है इस मंत्र में कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लक्षण नहीं पूछता है किन्तु यह ईश्वर

के विषय प्रश्न है, अब यदि स्वामी जी इसका यह अर्थ करें कि जो सब देशों में उरू के बल से आवें जावें वह वैश्य है तो फिर स्वामी जी यह बताए कि वैश्यों के अतिरिक्त जितने भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र है वे सब परदेश क्या रेंग कर जाते हैं? और जो उरू के बल से आवें जावें वह वैश्य है तो फिर तो जितने भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र परदेश में आते जाते हैं सब ही वैश्य होने चाहिए, पर जो बस, ट्रेन और जहाज से परदेश को आवें जावें उनका क्या नाम है? यह नहीं बताया, धन्य हे तुम्हारी की बुद्धि यवन मलेच्छ सब ही परदेश जाने वालों को तुमने वैश्य बना दिया अब कोई इन स्वामी जी से यह पूछे कि वे सब अपने गांव नगर में काहें के बल से चलते हैं जो और कुछ बल हो तो फिर जाने दीजिए और यदि घरों में भी जाघों के बल से ही आना जाना हो तो सब जगत ही वैश्य हो गया, धन्य हो स्वामी भंगेडानंद जी ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र आपने तो सब मेट एक ही वर्ण बना दिया,

और सुनिए स्वामी जी आगे लिखते हैं कि " और (पद्भ्याम्) जो पग के सदृश मूर्खतादि गुणवाला हो वह शूद्र है " वाह स्वामी जी वाह! क्या बात है यह तो तुमने बड़ी ही विचित्र बात कह दी, क्या कहीं चरण भी मुर्ख होते हैं? चरणों के भी ज्ञानेन्द्रिय होती है? पैरों को मुर्ख कहना ठीक ऐसा है जैसे कि ईट और पत्थर से बात करना, धन्य हे स्वामी जी तुम्हारी बुद्धि, पाठकगण! स्वयं समझ सकते हैं पैरों को मुर्ख कहने वाले दयानंद के अन्दर कितनी बुद्धि रही होगी, और **(पद्भ्यां)** चरणों से यह पंचमी विभक्ति कहाँ खो गई और **(अजायत)** जिसके अर्थ उत्पन्न होने के है इस प्रकार यह अर्थ होता है कि चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए और यहीं बात मनुस्मृति, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रंथों में भी लिखीं हैं देखिए इससे

अगली श्रुति में भी उत्पन्न होने का वर्णन है इस मंत्र में भी स्पष्ट लिखा है कि -

चन्द्रमा मनसो जातश् चक्षोः सूर्यो ऽ अजायत।

मन से चन्द्रमा और नेत्रों से सूर्य उत्पन्न हुआ

यदि तुम्हारी चलती तो तुम इसका अर्थ भी बदलकर मन का नाम चन्द्रमा और नेत्रों का नाम सूर्य लिख देते,

जैसे कोई यह कहें कि अम्बाशंकर से दयानंद की उत्पत्ति हुई तो क्या स्वामी जी उसका अर्थ यह करेंगे कि " अर्थ का अनर्थ करने वाले, विधवा की कामाग्नि बुझाने के अर्थ उसे एकादश पति करने वाले, वर्णसंकर की रीति चलाने वाले ग्यारह पुरूषों के नियोग से उत्पन्न होने वाले को दयानंद कहते हैं "

और सुनिए स्वामी जी आगे लिखते हैं कि " जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अंग ही नहीं है तो मुखादि से उत्पन्न होना असंभव है " अब कोई स्वामी जी यह पूछे यदि ईश्वर निराकार है उसका कोई आकार नहीं है तो यह जो साकार सृष्टि है यह क्या स्वामी जी के घर से हुई है?

ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के पुरूष सुक्त में पहले ही मंत्र में परमेश्वर के साकार स्वरूप का वर्णन आया है क्या यह स्वामी जी को दिखाई नहीं दिया निपट अन्धे ही हो गए, देखिए पुरूष सुक्त का यह मंत्र इसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि-

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलमं॥ ~[ऋग्वेद १०:९०:१], [यजुर्वेद का ३१:१]

भावार्थ: वे प्रभु अन्नत सिरों, आँखों व पैरों वाले हैं, वे पुरे ब्राह्माण्ड को आवृत करके भी दशांगुल जगत् से परे रहते है

क्या तुम्हें वेद में यह मंत्र दिखाई नहीं पड़ते, और यदि तुम्हारे कथनानुसार ही बात करें तो फिर तो निराकार से निराकार सृष्टि उत्पन्न होनी चाहिए परन्तु उससे संसार मूर्तिमान उत्पन्न हुआ, देखिए यजुर्वेद में भी स्पष्ट लिखा है कि-

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऽ ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दाम् सि जज्ञिरे तस्माद् यजुस् तस्माद् अजायत॥

तस्माद् अश्वा ऽ अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज् जाता ऽ अजावयः॥

चन्द्रमा मनसो जातश् चक्षोः सूर्यो ऽ अजायत।

~{यजुर्वेद अध्याय ३१, मंत्र ७,८,१२}

उसी विराट पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदादि, उससे ही गाय, घोड़े, बैल आदि पशु, मन से चन्द्रमा नेत्रों से सूर्य आदि उत्पन्न हुए, अब बोलिए यदि वह निराकार है उसके कोई अंग नहीं है तो फिर निराकार से यह साकार कैसे उत्पन्न हो गए? जो यह कहो की वेद का अग्नि, वायु, सूर्य आदि के हृदय में प्रकाश हुआ तो यह प्रश्न होगा कि वह अग्नि, वायु, सूर्यादि कहाँ से आये, जो कहो की अपने आप उत्पन्न हो गए तो स्वयंभू होने से वे ही ईश्वर हो गए और जो यह कहो की ईश्वर ने उत्पन्न किए तो क्या ईश्वर मनुष्याकृति का है? तो फिर यह गाय, घोड़े, बैल, बकरी आदि कहाँ से उत्पन्न हो गए, क्या इनका भी किसी के हृदय में प्रकाश कर दिया था? और जिनके हृदय में किया वे कहाँ से आए, इसी

दो कौड़ी के ज्ञान के बल पर स्वामी जी स्वयं को तत्वज्ञानी समझते हैं ईश्वर की शक्ति की कुछ खबर नहीं, धन्य हे स्वामी जी तुम्हारी बुद्धि, इसी प्रकार इस श्रुति का आशय लेकर ही मनु जी ने भी यह श्लोक लिखा है देखिए--

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥

~मनुस्मृति {अध्याय १, श्लोक ३१}

लोकों की वृद्धि के अर्थ ईश्वर ने मुख, बाहु, उरू और पाद से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया " इस प्रकार स्वामी जी द्वारा किया अर्थ मिथ्या सिद्ध होता है और सुनिए आगे स्वामी जी मूर्खता के सारे रिकॉर्ड तोड़ते हुए लिखते हैं कि-

" जो मुखादि अंगों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती, जैसे मुख का आकार गोलमोल है वैसे ही उन के शरीर का भी गोलमोल मुखाकृति के समान होना चाहिये, क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों के शरीर पग के समान आकार वाले होने चाहिये " स्वामी जी को मुर्खानंद ऐसे ही नहीं बोला जाता स्वामी जी क्या अंड संड बके जा रहे हैं वे स्वयं नहीं जानते, स्वामी जी का यह लेख पढ़कर विदित होता है कि स्वामी जी में बुद्धि की बहुत कमी है, क्योंकि जो उत्पादन कारण के सदृश आकृति लेते हो तो जो योनि से उत्पन्न होते हैं उनका आकार योनि के समान होना चाहिए, इसी प्रकार निराकार से निराकार ही उत्पन्न होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, इसी से पता चल जाता है कि स्वामी जी में कितनी बुद्धि रही

होगी, पक्का यह गपोड़ा तो स्वामी जी ने गहरे भंग के नशे में धुत होकर ही लिखा है

॥नियोग प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८२,

❝(प्रश्न)-पुनर्विवाह में क्या दोष है?

(उत्तर)- (पहला) स्त्री पुरुष में प्रेम न्यून होना क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर दूसरे के साथ सम्बन्ध् कर ले,

(दूसरा) जब स्त्री वा पुरुष पति स्त्री मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहें तब प्रथम स्त्री के वा पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले जाना और उनके कुटुम्ब वालों का उन से झगड़ा करना,

(तीसरा) बहुत से भद्रकुल का नाम वा चिन्ह भी न रह कर उसके पदार्थ छिन्न भिन्न हो जाना,

(चौथा) पतिव्रत और स्त्रीव्रत्य धर्म नष्ट होना इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होने चाहिये

(देखिए फिर इसी के विरुद्ध पृष्ठ ८३ पर लिखा है)

,,,जो ब्रह्मचर्य न रख सके तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें❞

समीक्षक-- वाह रे! स्वामी नियोगानंद जी क्या दोष गिनवाये है? क्या यह सभी दोष तुम्हारे द्वारा ही लिखें लेखों से खंडित नहीं होते? देखिए-

(पहला) स्वामी जी के अनुसार पुनर्विवाह से स्त्री पुरुष में प्रेम न्यून होता है, तो अब स्वामी जी यह बताए कि जो तुमने स्त्री पुरुष के रहते ग्यारह अलग-अलग पुरुष और स्त्री से नियोग सम्बन्ध बनाना लिखा है क्या उससे उस स्त्री पुरुष के मध्य प्रेम न्यून नहीं होता? क्या एकादश परपुरूषों और स्त्रियों के साथ नियोग करने से पति पत्नी के बीच प्रेम बढ़ता है? कदापि नहीं, उल्टा इससे तो उनके बीच प्रेम और न्यून होगा, एक तरफ तो स्वामी जी पुनर्विवाह का विरोध करते हैं और दुसरी तरफ इस महाअधर्म व्यभिचार नियोग प्रथा को बढ़ावा देते हैं यह स्वामी जी का दोगलापन नहीं तो और क्या है?

(दूसरा) स्वामी जी द्वारा चलाए महाअधर्म व्यभिचार नियोग प्रथा के अनुसार जब स्त्री एकादश नियुक्त पुरुषों के साथ संभोग करेगी तो निश्चित ही स्त्री पुरुष के मध्य प्रेम न्यून हो जाएगा और यह भी संभव है कि स्त्री पति को छोड़ दूसरे नियुक्त पुरुष पर मोहित हो जाएं और नियुक्त पुरुष के साथ मिलकर पति के पदार्थों को उडा ले जाये, इससे पुनर्विवाह का तो पता नहीं परन्तु तुम्हारे द्वारा चलाए इस महाअधर्म व्यभिचार नियोग में यह दोष अवश्य है,

(तीसरा) तुम्हारे द्वारा चलाए इस महाअधर्म नियोग से बहुत से भद्रकुल का नाम वा चिन्ह मेटना संभव है,

(चौथा) पुनर्विवाह से पतिव्रत्य धर्म और स्त्रीव्रत्य धर्म नष्ट हो जाता है और ग्यारह अलग-अलग स्त्री पुरुष के साथ संभोग

करने उनके साथ नग्न होकर सोने से पतिव्रत्य धर्म और स्त्रीव्रत्य धर्म नष्ट नही होता, वाह रे! स्वामी नियोगानंद क्या कहने तुम्हारे, शोक है ऐसी बुद्धि पर, कि ग्यारह अलग-अलग स्त्री पुरुष के साथ संभोग करने से पतिव्रत्य धर्म और स्त्रीव्रत्य धर्म खंडित नहीं होता और पुनर्विवाह से खंडित हो जाता है, धन्य हे! स्वामी जी तुम्हारी बुद्धि,

यहाँ तक कि मनु जी ने स्वंय इस महाअधर्म नियोग को पशुधर्म बताते हुए इसकी निन्दा की है देखिए मनु जी लिखते हैं कि--

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।

दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥१५९॥

मृते भर्तरि साद्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।

स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥१६०॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।

सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते॥१६१॥

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।

निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥१६३॥

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।

शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥१६४॥

~मनुस्मृति [अध्याय ५, श्लोक १५९-१६४]

भावार्थ- यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु बिना किसी संतान को उत्पन्न किए हो जाए तब भी स्त्री को अपनी सद्गति के लिए किसी दूसरे पुरुष का संग नहीं करना चाहिए ॥१५९॥

सन्तान उत्पन्न नहीं करने वाले ब्रह्मचारीयों की तरह पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली स्त्री पुत्रवती नही होने पर भी स्वर्ग प्राप्त करती है ॥१६०॥

पुत्र पाने की इच्छा से जो स्त्री पतिव्रत धर्म को तोड़ कर दूसरे पुरुष के साथ संभोग करती है उसकी इस संसार में निंदा होती है तथा परलोक में बुरी गति मिलती है ॥१६१॥

अपने पति का त्याग कर जो स्त्री किसी अन्य पुरुष का संग करती है वह इस संसार में निंदा का पात्र बनती है और दो पुरुषों की अंकशायिनी बनने का कलंक लगवाती है ॥१६३॥

पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष से संभोग करने वाली स्त्री इस संसार में में निंदा का पात्र बनती है और मृत्यु के पश्चात गीदड़ की योनि में जन्म लेती है तथा कोढ़ जैसे अनेक असाध्य रोगों से पीड़ा पाती है ॥१६४॥

मनु जी के इन वचनों से यह सिद्ध हो जाता है कि दयानंद द्वारा चलाया गया महाअधर्म नियोग प्रथा पुरी तरह से धर्म शास्त्रों के विरुद्ध है और यदि तुम्हारे मतानुसार संतान के ही अर्थ नियोग है तो फिर यह बताइए कि जो स्त्री विधवा हो और बांझ भी हो तो वह संतान कैसे उत्पन्न कर सकती है? जो यह कहो की वह स्वजाति का बालक गोद ले लेवें, तो फिर इस महाअधर्म व्यभिचार नियोग की आवश्यकता क्या है? जिस किसी को पुत्र प्राप्ति की इच्छा होगी वह गोद ले लेवें और तो और गोद लिया पुत्र संस्कार युक्त होने से उससे शुद्ध ही है जबकि महाअधर्म नियोग से उत्पन्न पुत्र वैसा शुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उसमें परपुरूष के साथ भोग करना पड़ता है जिस कारण स्त्री का पतिव्रत्य धर्म नष्ट हो जाता है इस कारण पुत्र गोद ही क्यों न

लिया जाए? अब यदि पुत्र के अर्थ नियोग करते हो तो फिर कुछ लाभ नहीं हाँ यदि कामग्नि बुझाने के अर्थ यह वैश्या धर्म चलाया है तो दूसरी बात है

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८३,

❝(प्रश्न) पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है?

(उत्तर)-(पहला) जैसे विवाह करने में कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है और पिता से विशेष सम्बन्ध् नहीं रहता और विध्वा स्त्री उसी विवाहित पति के घर में रहती है।

(दूसरा) उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभागी होते हैं और विध्वा स्त्री के लड़के वीर्यदाता के न पुत्रा कहलाते न उस का गोत्रा होता और न उस का स्वत्व उन लड़कों पर रहता किन्तु मृतपति के पुत्र बजते, उसी का गोत्रा रहता और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी घर में रहते।

(तीसरा) विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना अवश्य है।और नियुत्तफ स्त्री-पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध् नहीं रहा।

(चौथा) विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध् मरणपर्यन्त रहता और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कार्य के पश्चात् छूट जाता है।

(पांचवां) विवाहित स्त्री-पुरुष आपस में गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते और नियुत्तफ स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर के काम किया करते हैं❞

समीक्षक-- न जाने स्वामी जी ने नियोग के यह पाचँ नियम कौन सी सहिंता से निकाले हैं? क्या यह स्वामी जी की मिथ्या कल्पना नहीं है? ध्यान देने वाली बात है कि इससे पूर्व जो स्वामी ने पुनर्विवाह के चार दोष गिनवाए है क्या वे चारों दोष इन पाँच नियमों से नही टूटते? देखिए-

(पहिला)- जब स्त्री पति के घर पर ही रहती है तो सास ससुर की लाज भी अधिक होती है जिस कारण वह पर-पुरुष से भाषणादि में भी संकोच करती है लेकिन हमारे स्वामी नियोगानंद जी तो समाजीयों को यह आदेश करते हैं कि वह पति के घर पर ही पर-पुरूष को बुलाकर (भोग का नंगा नाच) नियोग करें, और क्योकि स्त्रीयों में तो वैसे भी पुत्र प्राप्ति की बहुत इच्छा होती है ऐसे में पर-पुरुष के साथ नियोग करने से उनका पति से भी प्रेम न्यून हो जाएगा क्योंकि यह तो उनको विदित ही है कि यदि पति मर जायेगा तो स्वामी दयानंद जी के आज्ञानुसार किसी अन्य पुरुष के साथ संभोग कर पुत्र उत्पन्न कर लेगी, फिर पुत्रेष्टि व्रत कर्म आदि कुछ करने की आवश्यकता नहीं और लज्जा आदि सब खो बैठेगी, इसलिए स्वामी दयानंद द्वारा चलाया यह महाअधर्म नियोग स्त्रीयों को व्यभिचारी बनाने की विधि है इससे ज्यादा कुछ नहीं,

(दूसरा)- स्वामी जी की बुद्धि में ज्ञान कम गोबर ज्यादा भरा है देखिए वेदों में क्या लिखा हैं?--

अंगादंगात सम्भवसि हृदयादधि जायसे।

आत्मासि पुत्रा मा मृथाः स जीव शरदः शतम्॥ ~यह सामवेद वेफ ब्राह्मण का वचन है।

हे पुत्रा! तू अंग-अंग से उत्पन्न हुए वीर्य से और हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिये तू मेरा आत्मा है, मुझ से पूर्व मत मरे किन्तु सौ वर्ष तक जी, तो अब कोई इन नियोगानंद जी से यह पूछें की जब पुत्र पिता के अंग अंग से उत्पन्न होता है एवं उसी की आत्मा का अंश हुआ तो अब नियुक्त पुरूष से उत्पन्न संतान चाहे किसी के भी घर क्यों न रहे? उसमें नियुक्त पुरुष के लक्षण अवश्य आयेंगे, और वह पुत्र है भी उसी का, क्योकि आम बोने से आम ही होता है इसीलिए नियुक्त पुरुष से उत्पन्न हुई संतान का मृत पुरुष से कुछ भी संबंध नहीं रहा, और जब नियुक्त पुरुष से उत्पन्न पुत्र मृतक के धन का अधिकारी हुआ तो स्वामी का यह तर्क की (यदि पुनर्विवाह होगा तो धन दुसरो के हाथ लग जायेगा) मिथ्या ही हुआ क्योकि अब भी उसका धन दूसरे के हाथ ही लगा, अपना पुत्र तो तभी होगा जब अपने से उत्पन्न होगा, क्योकि नियुक्त पुरुष से उत्पन्न पुत्र उसके अंग अंग से उत्पन्न एवं उसी की आत्मा का अंश हुआ सो मृतक से उसका कुछ सम्बन्ध न रहा, अर्थात दयानंद का यह दूसरा कल्पित सिद्धान्त भी भ्रष्ट हुए जाता है।

(तीसरा)- विवाहित स्त्री पुरुष तो बस नाम के ही रहे, क्योकि ग्यारह परपुरुष, और स्त्रियों के साथ भोग करने से उनका पातिव्रत्य और पत्नीव्रत्य धर्म तो पहले ही खंडित हो चूका, वह तो वेश्या समान हो गई फिर घण्टा स्त्री पुरुष का सम्बन्ध रह गया, जैसा उसके लिए नियुक्त पुरुष वैसे उसका पति वैसे भी स्वामी जी ने ग्यारह पुरुषों तक नियोग की आज्ञा दे रखी है सो स्वामी जी के आज्ञानुसार वह जब चाहेंगी तब पति को त्याग किसी अन्य पुरुष का संग कर लेंगी, इसीलिए जैसे इस महाधर्म नियोग को करने वाले के लिए नियुक्त स्त्री-पुरुष से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता

सो वैसे ही अपने पति-पत्नी से भी कुछ लगाव नहीं रहता जो होता तो इस महाधर्म व्यभिचार नियोग की आव्यश्कता ही न रहती, यह तो बस स्वामी जी ने कामाग्नि बुझाने को एक वैश्याधर्म चला रखा है।

(चौथा)- परम पूज्नीय स्वामी नियोगानंद जी लिखते हे कि नियुक्त स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कार्यसिद्धि के बाद छूट जावे, अब ध्यान देने वाली बात हे की स्वामी जी प्रत्येक नियुक्त स्त्री पुरुष को दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा देते है, अर्थात जब स्त्री नयोग से नियुक्त पुरुषों और अपने लिए दश पुत्र तक उत्पन्न कर लेवें तब नियुक्त पुरुषों से सम्बन्ध छूट जावे, तो इसका उत्तर यह हे कि यदि विषयी स्त्री दो-दो वर्ष पर भी एक पुत्र उत्पन्न करती है तो वह लगभग २० वर्षों तक नियोग से पुत्र उत्पन्न करती रहेंगी, और यह भी सम्भव नहीं की वह हर बार पुत्र को ही जन्म दे, बल्कि देखा जाए तो पुत्रो की तुलना में पुत्रियों का जन्म अधिक होता है क्योंकि पुरुषों के वीर्य में दो प्रकार के गुणसूत्र होते है जिन्हें आधुनिक भाषा में X और Y कहते है जबकि स्त्रियों में केवल X पाया जाता है, होता यह है की जब पुरुष का X स्त्री के X से मिलता है तो पुत्री जन्म लेती है और जब पुरुष का Y स्त्री के X से मिलता है तो पुत्र जन्म लेता है, इसलिए यह सम्भव नहीं की स्त्री हर बार पुत्र को ही जन्म दे, फिर भी यदि एक बार को मान लिया जाए की वह हर बार पुत्र को ही जन्म देती है तो भी वह लगभग २० वर्षो तक नयुक्त पुरुषों के साथ भोग करती है, तो अब भला २० वर्षों तक जिस स्त्री का सम्बन्ध अलग-अलग पुरुषों से रहा हों वह तुरन्त कैसे छुट सकता है? जो स्त्री एक बार परपुरुष गामिनी हो चुकी हो

फिर क्या संतान के लालच से वह प्रिति छूट सकती है? भला २० वर्षों का अभ्यास तुरन्त कैसे छूट सकता है?

और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध मरणपर्यंत घण्टा रहा जब स्त्री २० वर्षों तक नियुक्त पुरुषों से नियोग कर संतान उत्पन्न करती रहेगी तो स्त्री का सम्बन्ध तो नियुक्त पुरुषों के साथ ही रहा, इस प्रकार स्वामी जी का चौथा नियम भी भ्रष्ट हुए जाता है।

(पाँचवां)- यह बात तो स्वामी जी ने विषयी पुरुषों के लाभ की लिख दी कि रात को नियुक्त स्त्री पुरुष एक बिस्तर पर और सवेरें अपने-अपने घर का कामकाज करें, सो इससे विषयी पुरुषों का बहुत धन बच जायेगा, क्योंकि वैश्या के यहाँ जाने से धन खर्च होता है, परन्तु तुम्हारे नियमानुसार विषयी पुरुष रात्रि को नियुक्त स्त्री के घर में प्रवेश कर गए और सवेरें चले आए, जब तक गर्भ न रहे यही कृत्य बार-बार दोहराते रहों,

अब जब स्त्री को संतानार्थ ग्यारह पुरुषों की आज्ञा है तो अच्छे वीर्य वाले पुरुष तो बहुत कम ही होंगे और बिना संभोग परीक्षा नहीं होती तो लीजिये अब सैकड़ो पति बनाने पड़े और जो कोई मनोहर मिल गया तो ससुर और पति की कमाई जीवनपर्यंत तुम्हे दुवाएं देते रहेंगें, शौक हे! ऐसी बुद्धि पर

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८३,

❝ (प्रश्न) विवाह और नियोग के नियम एक से हैं वा पृथक्-पृथक्?

(उत्तर) कुछ थोड़ा सा भेद है, जिस की स्त्री वा पुरुष मर जाता है उन्हीं का नियोग होता है,

"वही नियुक्त स्त्री दो तीन वर्ष पर्यन्त उन लड़कों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे, ऐसे एक विध्वा स्त्री दो अपने लिये और दो-दो अन्य चार नियुत्तफ पुरुषों के लिए दो-दो सन्तान कर सकती और एक मृतस्त्रीपुरुष भी दो अपने लिये और दो-दो अन्य अन्य चार विध्वाओं के लिये पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर दस-दस सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा वेद में है, जैसे-

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।

दशास्यां पु त्रानाधेहि पतिमेकाद शं कृधि ॥ -(ऋ० १०/८५/४५)

हे (मीढ्व इन्द्र) वीर्य सेचन में समर्थ ऐश्वर्ययुत्तफ पुरुष !तू इस विवाहित स्त्री वा विध्वा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर, इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान !हे स्त्री !तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ"

समीक्षक-- धन्य है! स्वामी जी कलयुग तो धिरे-धिरे आता था अपने उसे शीघ्र प्रवर्त करने का ढंग निकाला, आपके अनुसार एक स्त्री चार नियुक्त पुरुषों के अर्थ और दो अपने लिए पुत्र उत्पन्न कर लें, यह तो जैसे घर की खेती समझ ली की जब गये पुत्र हो गया, कन्या का कोई नाम ही नहीं बस पुत्र ही पुत्र होंगे, यदि यह ईश्वर की आज्ञा है तो ईश्वर सत्यसंकल्प है सबके पुत्र ही उत्पन्न होने चाहिए कन्या एक भी नहीं, बस सारा नियोग यही समाप्त हो जाता है, परन्तु यह देखने में नहीं आता तुम तो अपने मिथ्या भाष्यों से ईश्वर को भी झूठा बनाते हो, इसलिए इस श्रुति का अर्थ यह नहीं बनता जैसा तुमने किया है बहुत से लोग निसंतान भी होते हैं यह व्यभिचार प्रचार मूर्ख नियोग समाजीयों के साथ-साथ समस्त भारतवासियों को घोर अंधकार में डालने

वाला है, इसमें वेद मंत्रों को क्यों सानते हो? यदि इतनी ही ज्यादा खुजाई मच रही थी तो कोई अपनी ही मिथ्या संस्कृत बना लेते, तुम्हारे चैले तो उसे भी पत्थर की लकीर मान लेते, देखिए वेदों में ऐसी बातें कभी नहीं होती, यह मंत्र विवाहप्रकरण का है जो आशीर्वाद के अर्थ में है और इसका अर्थ इस प्रकार है--

"हे इन्द्र परमएश्वर्य युक्त देव (मीढः) सर्वसुखकारी पदार्थों की वृष्टि करने वाले इस स्त्री को भी पुत्रवती धनवती करों, और दश इसमें पुत्रों को धारण करो भाव यह है कि दश पुत्र पैदा करने के अदृष्ट इस स्त्री में स्थापित करों और ग्यारहवां पति को करों अर्थात जीवित पति और जीवित पुत्र इसको करों" इसका अर्थ यह है जो स्वामी नियोगानंद जी ने कुछ का कुछ लिख दिया है, और स्वामी जी ने यह न सोचा कि यदि एकादश पति पर्यन्त नियोग करने की ईश्वर की आज्ञा है, तो ईश्वर तो सत्यसंकल्प है तब तो सब स्त्रीयों के दश-दश पुत्र से कम नहीं होने चाहिए यदि दश से कम होंगे तो ईश्वर का संकल्प निष्फल होगा, इससे स्वामी जी का किया अर्थ अशुद्ध है।

अब विचारने की बात यह है कि इसमें नियोग प्रचारक कौन सा शब्द है? जिस मंत्र मे नियोग कि गंध तक नही है स्वामी नियोगानंद जी ने उसे भी नियोग से जोड दिया, दयानंद जी ने तो यह समझ लिया कि हमारे अनुयायी हमारे वाक्यों को पत्थर की लकीर मानते हैं और वेदभाष्य भी हमारा किया ही मानतें हैं इसलिए जो चाहे सो अंड संड बकवास किये जायें, इस हिसाब से तो तुम्हारे मत में किसी के दश से कम पुत्र नहीं होने चाहिए और जिनके दश से कम है वह तुम्हारे वाक्यानुसार कुछ चिंता करें, और दश संतान में समय कितना लगेगा यह भी तुमने न लिखा।

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ सम्मुलास पृष्ट ८४

❝ **(प्रश्न)** है तो ठीक, परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दिखता है

(उत्तर) नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष वा कोई नियम नहीं है और नियोग में विवाह के समान नियम हैं, जैसे दूसरे को विवाह में लड़की देने से लज्जा नहीं आती, वैसे ही नियोग में भी लज्जा नहीं करनी चाहिये,

(प्रश्न) हम को नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है,

(उत्तर) जो नियोग की बात में पाप मानते हो तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते? पाप तो नियोग के रोकने में है? क्योंकि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान् पूर्ण विद्वान् योगियों के, क्या विध्वा स्त्री और मृतकस्त्री पुरुष के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो? क्योंकि जब तक वे युवावस्था में हैं मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होने वालों को किसी राजव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से गुप्त-गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं,

और जो जितेन्द्रिय रह सके नियोग भी न करें तो ठीक है, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं उन का विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिये,

(प्रश्न) नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिये?

(उत्तर) जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग, जिस प्रकार विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है, वैसे नियोग में भी अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का

नियोग होना हो तब अपने कुटुम्ब में पुरुष स्त्रियों के सामने कहें की हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिये करते हैं, जब नियोग का नियम पूरा होगा तब हम संयोग न करेंगें।

(प्रश्न) नियोग अपने वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्णों के साथ भी?

(उत्तर) अपने वर्ण में वा अपने से उत्तमवर्णस्थ पुरुष के साथ अर्थात्

वैश्या स्त्री वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ; क्षत्रिया क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ; ब्राह्मणी ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है | इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का चाहिये, अपने से नीचे वर्ण का नहीं, स्त्राी और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोग से सन्तानोत्पत्ति करना ”

समीक्षक-- स्वयं ही प्रश्न करते है की यह कर्म वैश्या के सदृश दिखता है, और फिर स्वयं ही उत्तर देते है की नहीं, अखंड चुतियापा है! यदि यह कर्म वेश्या के सदृश न होता तो फिर स्वामी जी के मुख से ऐसी बात निकलती ही क्यों? जैसी बात होती है वैसी मुख से निकल ही जाती है,

और जो स्वामी जी ने यह लिखा है की “ वैश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष का नियम नहीं है और नियोग में विवाह के समान नियम है ” सो सुनिए नियोग में कोई नियम नहीं है ग्यारह पति बनाने तक की आज्ञा है बस नियम कैसा? देखिए जिस प्रकार विषयी पुरुष वैश्यालय में जाकर किसी भी दश, ग्यारह वैश्याओ में से किसी एक को पसंद कर उसका संग करते है, ठिक इसी प्रकार का नियम तुम्हारे द्वारा चलाये इस

महाधर्म नियोग में है, आपके आज्ञानुसार विषयी स्त्री-पुरुष किसी भी ग्यारह स्त्री-पुरुष तक के संग अपना मुँह काला करवा सकते है इसलिए यह कहना की नियोग में विवाह की भाँति नियम है यह बात पूरी तरह से गलत है नियोग में किसी भी प्रकार का कोई नियम नहीं है यदि है भी तो वही वेश्याओं वाले इसलिए विवाह और नियोग के नियम समान बताकर अपने एकादश नियोग से उत्पन्न होने का प्रमाण न दिजिये,

आगे स्वामी जी लिखते हैं कि "**जैसे विवाह में लज्जा नहीं वैसे ही नियोग में लज्जा नहीं करनी चाहिए**" धन्य हे! स्वामी जी, यहाँ आपकी आज्ञानुसार आपके अनुयायियों की स्त्रीयाँ गैरों के पलंग पर गैम बजवा रही है वैश्याओं की भांति ग्यारह-ग्यारह पति बनाने की आज्ञा करते हो, और कहते हो कि नियोग में लज्जा नही करनी चाहिए, यहाँ तो आपने लाज को भी तिलांजलि दे दी, इस पुस्तक का नाम सत्यार्थ प्रकाश नही बल्कि निर्लज्ज प्रकाश रख देना चाहिए, आपके द्वारा चलाया यह महाअर्धम नियोग स्त्रियों को व्यभिचारी बनाने की विधि से ज्यादा कुछ नहीं है,

और **"जबकि ईश्वर की सृष्टि क्रमानुकूल मनुष्य का स्वभाव कामचेष्टा से रूक नहीं सकता तो भला यौगि कैसे रोक सकते हैं?"** जो यौगि रोक लें तो ईश्वर का सृष्टि क्रम वृथा हो जाएगा और जो यौगियों ने सृष्टि क्रम उल्लंघन कर दिया तो वे ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल हुए, और जब यौगियों को सृष्टि क्रम नहीं व्याप्ता फिर तो वे सब ही कुछ सृष्टि क्रम के विरुद्ध कर सकते हैं इससे स्वामी जी बात परस्पर विरुद्ध होने से अप्रमाण है,

देखिए पिछे तो स्वामी जी ने नियोग से सन्तानोत्पत्ति का प्रयोजन बताया और अब लिखा कि **"जवान स्त्री-पुरुष विषय की चाहना होने से सन्तापित होते हैं, नियोग से उसे शांत कर लेंगे"** यह बात

स्वयं स्वामी जी पर बिति है नहीं तो "जाके पैर न फटै विवाई, सो क्या जाने पीर पराई, यह सूझती कैसे? फिर आगे लिखा कि जो जितेन्द्रिय रहे नियोग न करें तो ठीक है, यह क्या कह दिया आपने? पिछे तो लिख आए कि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री पुरूष का स्वभाव कामचेष्टा से रूक नही सकता सिवाय यौगियों के इस तरह की परस्पर विरूद्ध बात कोई महाचुतिया ही लिख सकता हैं विद्वान व्यक्ति नहीं, मानो जैसे मुहम्मद की भांति दयानंद जी भी रातों रात ईश्वर से मिल आये और ईश्वर ने सारा सृष्टि क्रम दयानंद को बता दिया है, यदि यही ईश्वर का सृष्टिक्रम है तो मनुष्य इसे कैसे रोक सकते हैं? और जो रोक लें तो वे सृष्टिक्रम के विरुद्ध ईश्वर के इच्छा के प्रतिकूल करते हैं इससे ईश्वर का सृष्टिक्रम वृथा हो जाता है धन्य हे! स्वामी जी आपकी बुद्धि, दयानंद जी तो सृष्टिक्रम को लेकर स्वयं भ्रमित है और चले है पंड़ित बनने,

फिर आगे लिखा है कि **“जो न रूक सके तो उनका नियोगविवाह करवा दो”** यह क्या अब तक तो विधवा विवाह का निषेध करते रहे और अब स्वयं ही विवाह की आज्ञा सुना दी जो कहो की विवाह कुमार कुमारी का कहा है सो यहाँ यह प्रसंग नहीं, और उनका तो होता ही लिखने की क्या आवश्यकता है? या वे भी जितेंद्रिय रहे फिर आपके मतानुसार ईश्वर की सृष्टि कैसे बढेगी? यदि यह पशुधर्म भारत में चलता तो यह देश रसातल को चला जाता,

“आप ही ऊंच नीच वर्ण में व्यभिचार होने से कुल में कलंक और वंशोच्छेद होना लिखते हैं और आप ही अपने से उच्च वर्ण का वीर्य नियोग में ग्रहण करना लिखते हैं” अखंड चुतियापा है आपका ऊंच नीच तो हो ही गया देखिए मनुस्मृति--

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।

आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥१०/५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों को अपनी समान जाति की कन्या से यथाशास्त्र विवाह व्यवहार करके उस उस स्त्री से जो संतान उत्पन्न होवे उसे उसी जाति का जानना चाहिए शेष वर्णसंकर जाने,

स्वामी जी ने यहाँ मनुस्मृति ने देखी इच्छा तो भारतवर्ष को वर्णसंकर बनाने की थी परन्तु यमराज ने पूर्ण नहीं होने दी,

पुनः लेख है **"जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग करें"** प्रसिद्ध करने को टीवी, अखबार आदि में इश्तहार दे दे, कार्ड वगैरह छपवाकर रिश्तेदारों में बंटवा दे, ढिंढोरा पिटवा दे मिठाई वगैरह बटवां दे कि मैं नियोग करूँगा अब मुझसे और नहीं रहा जाता, ठीक इसी प्रकार वह स्त्री भी करें कितनी निर्लज्जता भरी है ये बात क्या कहें?

फिर लिखा है कि **"नियोग और विवाह से ईश्वर की सृष्टि का प्रयोजन है"** यदि ईश्वर की यही इच्छा थी कि सृष्टि बढ़ें तो उसने अग्नि वायु आदि की भांति करोड़ों जीव एक साथ क्यों न उत्पन्न कर दिये, अथवा स्त्रीयों को विधवा क्यों किया? जो उनके पति रहते तो बेचारी इस महाअधर्म नियोग को करने से तो बच जाती, यदि कहो की यह सुख दुःख क्रमानुसार ही होता है, क्रमानुसार ही विधवा होती है, तो भी आप सृष्टि क्रम के विरुद्ध ही करते हैं, क्योकि ईश्वर जब क्रमानुसार सुख दुःख देता है, तो जो क्रमानुसार दुःख भोगने को विधवा हुई तुम उसका कर्मानुकूल दुःख मेटने का उपाय करके ईश्वर का नियम तोडने का पर्यन्त करते हो, और नियोग से सृष्टि नहीं बढ़ सकती उसकी सृष्टि

अनन्त है कौन पार पा सकता है? इस ब्रह्मांड में उसने अनगिनत लोक रच दिये है किसी के बढ़ाये घटायें से उसकी सृष्टि घट बढ़ नहीं सकती आप पुरुष का दुसरा विवाह नहीं बताते हैं सुनिये-

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याऽअब्दे दशमे तु मृतप्रजा।

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥

या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः।

सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हि चित्॥

~मनुस्मृति [अध्याय ९, श्लोक ८१-८२]

पत्नि यदि वन्ध्या हो तो आठ वर्ष उपरान्त, बार-बार मृत बच्चों को जन्म देती हो तो दश वर्ष उपरान्त, या केवल कन्याओं को ही जन्म देती हों तो ग्यारह वर्ष उपरान्त पति दुसरा विवाह करने का अधिकारी है और यदि पत्नि अप्रिय बोलने वाली है तो पति तत्काल दुसरा विवाह कर सकता है।

स्त्री के बहुत दिनों से रोगी होने पर किन्तु चरित्र की धनी तथा पति का हित चाहने वाली होने पर पति को चाहिए कि वह पत्नी की अनुमति लेकर ही दूसरा विवाह करें, उसका अवमान करना उचित नहीं है।

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८५,

“(प्रश्न) जैसे विवाह में वेदादि शास्त्रों का प्रमाण है, वैसे नियोग में प्रमाण है वा नहीं?

(उत्तर) इस विषय में बहुत प्रमाण हैं। देखो और सुनो-

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।

को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ -ऋ० मं० १० | सू० ४० | मं० २॥

हे (अश्विना) स्त्री पुरुषो !जैसे (देवरं विधवेव) देवर को विधवा और (योषा मर्यन्न) विवाहिता स्त्री अपने पति को (सध्स्थे) समान स्थान शय्या में एकत्रा होकर सन्तानोत्पत्ति को (आ कृणुते) सब प्रकार से उत्पन्न करती है, वैसे तुम दोनों स्त्री पुरुष (कुह स्विद्दोषा) कहां रात्रि और

(कुह वस्तः) कहां दिन में वसे थे? (कुहाभिपित्वम) कहां पदार्थों की प्राप्ति (करतः) की? और (कुहोषतुः) किस समय कहां वास करते थे? (को वां शयुत्रा) तुम्हारा शयनस्थान कहां है? तथा कौन वा किस देश के रहने वाले हो? इससे यह सिद्ध हुआ कि देश विदेश में स्त्री पुरुष संग ही में रहैं और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विध्वा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे।

(प्रश्न) यदि किसी का छोटा भाई ही न हो तो विध्वा नियोग किसके साथ करे?

(उत्तर) देवर के साथ, परन्तु देवर शब्द का अर्थ जैसा तुम समझे हो वैसा नहीं। देखो निरुक्त में-

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ।-निरू० अ० ३ | खण्ड १५ ॥

देवर उस को कहते हैं कि जो विध्वा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो जिस से नियोग करे उसी का नाम देवर है ”

समीक्षक-- धन्य हे! स्वामी जी बड़ा भारी जाल डाला है, इस मंत्र में तो नियोग का कुछ आशय ही नहीं निकलता, अर्थ का अनर्थ कर बस तुमने अपने अक्ल से पैदल समाजीयों का चुतिया काटा है और कुछ नहीं, भला यह कौन किससे पूछता है? क्या परदेशी लौग स्त्रीयों से पूछें कि तुम रात में कहाँ थी? कहाँ संतानोत्पत्ति

कर रही थी? या फिर ईश्वर स्त्री-पुरुषों से पूछता है कि तुम दोनों कहाँ थे? क्या ईश्वर अज्ञानी है? जो विधवा से रति करें वो देवर चाहे बड़ा हो या छोटा, शोक हे! ऐसी बुद्धि पर, नियोग करने को बड़ा भी जेष्ठ हो तो स्त्री का देवर हो जाये, थू है ऐसे समाज पर, इस मंत्र में अश्विना इस पद से स्त्री पुरुष ग्रहण करकें केवल जाल रचा है बस अर्थ का अनर्थ ही किया है इस मंत्र में अश्विनो यह शब्द देवता का वाचक है स्वामी जी ने इसमें कुछ प्रमाण न लिखा देखिए निरूक्त में यह लिखा है -

अथातोद्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ॥ ~निरूक्त {अ० १२, खं० १}

सर्व द्युस्थान देवताओं के मध्य अश्विनौ दो देवता यज्ञ में प्रथम आगमन करते हैं, यह निरूक्तकार का मत है इससे यह सिद्ध हुआ कि अश्विनौ देवता हैं और अब इस मंत्र का सही अर्थ करते हैं देखिए-

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।

को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ ~(ऋ०-१०/४०/२)

भावार्थ- हे (अश्विना)- अश्विनौ तुम दोनों, (दोषा)- रात्रि में, (कुह स्वित्)- कहाँ थे, और (वास्तौ:)- दिन में, (कुह) कहाँ थे, जिससे न रात्रि और न दिन में तुम्हारा दर्शन हमें मिला, (कुहाभिपित्वं)- स्नान भोजनादि की प्राप्ति कहाँ, (करत:) की, (कुह)- कहाँ, (ऊषतु)- निवास करा, सर्वथा तुम्हारी आगमन प्रवृत्ति नहीं जानी जाती, (क:)- कोई व्यक्ति ही, (वाम्)- आप दोनों को, (सधस्थे)- आत्मा और परमात्मा के सम्मिलित रूप से स्थित होने के स्थान हृदय में, (आकृणुते)- अभिमुख करता है, (इव)- जैसे, (विधवा)- पति के चले जाने के पश्चात स्त्री, (देवरम्) देवर पर आश्रित होती

है, और अपने सभी छोटे बड़े कार्य के लिए देवर की सहायता लेती है, और (न)- जैसे, (योषा)- पत्नी, (शयुत्रा)- शयन स्थान में, (मर्यम्)- पति को अभिमुख करती है, वैसे ही तुम्हें अपने श्रेष्ठ यज्ञ में आदर सहित कौन आहूत करता है

इस मंत्र में नियोग का कुछ भी आशय प्रतीत नहीं होता है यह मंत्र प्रात: काल अश्वनि कुमारों की स्तुति का है और (देवर: कास्मा०) इसके अर्थ भी गडबड लिखें हैं और यह निरूक्तकार का वाक्य भी नहीं है इसी कारण इसको उन्होंने कोष्ठ में बंद कर दिया है, और दुर्गाचार्य ने इस पर भाष्य भी नहीं किया इससे यह क्षेपक है क्योकी यास्क जी ने इसका अर्थ ऐसे लिखा है कि **" देवरो दीव्यतिकर्मा "** तथा **" भ्रातृभार्यया देवनार्थे व्रियत इति देवर इत्युच्चते "** इसका अर्थ यह कि भाई की स्त्री की शुश्रूषा करने से इसका नाम देवर है अब यदि वह वाक्य यास्कमुनि कृत होता तो फिर वह पुनः देवर शब्द का अर्थ क्यों करते? इससे यह सिद्ध होता है कि वह वाक्य प्रक्षिप्त ही है, बड़े आश्चर्य की बात है कि पुरे ग्रंथ में स्वामी जी को प्रक्षिप्तता ही सूक्षी, और यहाँ लिखीं हुई भी न सूझी, और फिर इस वाक्य में तो प्रश्न है, कि देवर को दूसरा वर क्यों कहते हैं? दयानंद ने इसका उत्तर न लिखकर अर्थ का अनर्थ करते हुए केवल लोगों को भ्रमित करने का प्रयास किया है और यदि एक बार को इसे मान भी लिया जाए तो भी स्वामी जी का अर्थ नहीं बन सकता, देखिए मनु मे इस प्रकार लिखा है कि--

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥

~मनुस्मृति [अ०-९, श्लोक-६९]

जिस कन्या का वाग्दान के उपरान्त पति मर जाए, उसे देवर अर्थात उसके छोटे भाई से व्याह दे, इसी कारण देवर को दूसरा वर कहते हैं परन्तु नियोग यहाँ भी सिद्ध नहीं होता, और (विधावनात्) पति की मृत्यु के उपरान्त स्त्री रोकी जाती है, कहीं आने जाने नहीं पाती इस कारण इसे विधवा कहते हैं, स्वामी जी उसे ऐसा स्वतंत्र करते हैं कि कुछ बूझिये मत, दयानंद ने सबको ही देवर बना दिया, जो कोई समाजी स्त्रीयों का गैम बजाए वही देवर शोक हे! ऐसी बुद्धि पर,

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८५-८६,

“उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ – ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८॥

(नारि) विध्वे तू (एतं गतासुम) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के (शेषे) बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो और (उदीष्र्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्यदिधिषोः) तुम विध्वा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध् के लिये नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरा होगा। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम् बभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे”

समीक्षक-- स्वामी जी का यह भाष्य पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी के सर में बुद्धि कम गोबर ज्यादा भरा है देखिए, इधर पति मरा पड़ा है, स्त्री जिसका वह पालक पोषक नाथ था,

उसके शोक में विलाप करती है, और स्वामी जी उसी समय उसको कहने लगे कि इसे छोड़ औरों को पति बना लें, शोक हे! ऐसी बुद्धि पर, स्वामी जी ने सिर्फ अपना स्वार्थ साधने के लिए वेद मंत्रों के अर्थ का अनर्थ किया है देखिए इसका सही अर्थ इस प्रकार है--

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥

हे (नारि)- स्त्री, तेरे पति मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं इसलिए, (उदीर्ष्व)- उठ और इस, (जीवलोकम् अभि)- जीवित संसार अपने पुत्रादि और घर-परिवार का तू ध्यान कर, इस प्रकार (गतासुम)- गत प्राण, (एतम्)- इस पति के, (उपशेष)- समीप बैठ शौक करने का क्या लाभ? (एहि)- उठ और अपने घर को गमन कर, (हस्तग्राभस्य)- अपने गर्भ में सन्तान को स्थापित करने वाले, (तव पत्युः)- अपने पति की,(इदं जनित्वम्)- इस सन्तान को, (अभि)- ध्यान करती हुई, (संबभूथ)- अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए यत्नशील हो।

अब विचारने की बात यह है इसमें नियोग प्रचारक कौन सा शब्द है? इस मंत्र में तो नियोग का कुछ भी आशय नहीं निकलता, और जबकि उसके पास बालक मौजूद हैं फिर भला उसे इस महाअधर्म व्यभिचार नियोग की क्या आवश्यकता है? अब बुद्धिमान स्वयं विचारें की स्वामी जी ने इसमें कितने मंत्रार्थ बदले हैं और अर्थ का अनर्थ कर लोगों को भ्रमित करने का प्रयास किया है।

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८६,

“अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।

प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥~अथर्व० [का० १४, अनु० २, मं० १८]

हे (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि) पति और देवर को दुःख न देने वली स्त्री तू (इह) इस गृहाश्रम में (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (शिवा) कल्याण करनेहारी (सुयमा) अच्छे प्रकार धर्म-नियम में चलने (सुवर्चाः) रूप और सर्वशास्त्रा विद्यायुक्त (प्रजावती) उत्तम पुत्र पौत्रादि से सहित (वीरसूः) शूरवीर पुत्रों को जनने (देवृकामा) देवर की कामना करने वाली (स्योना) और सुख देनेहारी पति वा देवर को (एधि) प्राप्त होके (इमम्) इस (गार्हपत्यम्) गृहस्थ सम्बंधी (अग्निम्) अग्निहोत्रा का (सपर्य) सेवन किया करें”

समीक्षक-- स्वामी जी यहाँ भी अर्थ का अनर्थ करने से न चूंके, देखिए इस मंत्र में **“देवृकामा”** इस पद से यह अर्थ सिद्ध नहीं होता कि वह देवर से भोग करना चाहती है, और जबकि पति है तो भला वह दुसरे पुरुष की इच्छा क्यों करेगी? और कामना विद्यमानता में नहीं होती, अविद्यमानता में होती है, यदि वह देवर को पति रूप में चाहती तो देवरि पतिकामा ऐसा प्रयोग हो सकता है, सो मंत्र में किया नहीं इससे नियोग सिद्ध नहीं होता, किन्तु यह ऐसे स्थान का प्रयोग है, जिस स्त्री के देवर नहीं वह चाहती है कि यदि मेरे ससुर के बालक हो तो मैं देवर वाली होऊं, ऐसी स्त्री को देवृकामा कहते हैं, जैसे भ्रातृ रहित कन्या में **“भ्रातृकामा”** यह प्रयोग बनता है कि मेरे भाई हो तो मैं बहन कहाऊं, ऐसे ही यह देवृकामा शब्द है इससे नियोग सिद्ध नहीं होता, अब इसका यथार्थ अर्थ सुनिए--

हे स्त्री तू, (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि)- पति और देवर को दुख न देने वाली, (एधि)- वृद्धि को प्राप्त हो, अर्थात देवर आदि कुटुम्बियों से विरुद्ध मत करना, (इह)- इस गृहाश्रम में, (पशुभ्य:)- पशुओं के लिये, (शिवा)- कल्याणकारी, (सुयमा)- अच्छे प्रकार धर्म नियम में चलने वाली, (सुवर्चा:)- रूप गुणयुक्त, (प्रजावती)- उत्तम पुत्र पौत्रादि सहित, (वीरसू:)- वीर पुत्रों को जन्म देने वाली, (देवृकामा)- देवर के होने की प्रार्थना करने वाली, (स्योना)- सुखिनी, (इमम्)- इस, (गार्हपत्यम्)- गृहस्थ सम्बन्धी, (अग्निम्)- अग्निहोत्र को, (सपर्य)- सेवन किया करें।

यह इसका अर्थ है स्वामी जी ने यह नहीं सोचा कि यह पुस्तक और भी कोई देखेगा तो क्या कहेगा? यह विवाह सम्बन्धी मंत्र नियोग में लगाये हैं, धन्य है तुम्हारी बुद्धि, और सुनिए,

तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम्॥~ अथर्व० {१४/२/२२}

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।

स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥~ अथर्व० {१४/२/२७}

हे स्त्री तू ससुर, पति और घर के कुटुम्बियों सभी के अर्थ सुख देने वाली हो।

अब यदि तुम्हारा किया अर्थ ही सही माने तो यहाँ पति, ससुर दोनों के लिए (स्योना) पद आया है अर्थात सुख देने वाली हो एवं सब ही कुटुम्बियों को सुख देने वाली लिखा है, तो क्या जो पति के संग व्यवहार करें, वही सबके साथ करें? यह कभी नहीं हो सकता पति को और प्रकार का सुख, और ससुरादि को सेवा आदि से सुख देती है, यह नहीं कि सुख देने से सबके संग भोग के ही अर्थ हो जाये, इससे स्वामी जी के किये सब अर्थ भ्रष्ट है

मिथ्या है, इसके बाद अब स्वामी जी मनुस्मृति पर आ गये देखिए स्वामी जी क्या लिखते हैं-

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८६,

“तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥~ मनु० {९/६९}

जो अक्षतयोनि स्त्री विध्वा हो जाय तो पति का निज छोटा भाई उस से विवाह कर सकता है”

समीक्षक-- स्वामी जी यहाँ भी अर्थ बनाने से न चूके, यदि श्लोक पुरा लिख देते तो सब भेद खुल जाता, यह आधा अधुरा श्लोक सिर्फ अपना स्वार्थ सिद्ध करने को लिखा है सो इससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता देखिए पुरा श्लोक इस प्रकार है

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ ~मनु० {९/६९}

जिस कन्या का वाग्दान करने के उपरांत पति मर जाये उसका उसके पति के छोटे भाई से विवाह कर दें यह इसका अर्थ है, ऐसा सभी करते हैं जिसकी सगाई हो जाए और वह पति मर जाए तो उसका विवाह और के संग कर देते हैं, स्वामी जी ने इसमें अक्षतयोनि और विवाह हुई स्त्री लिखा है यही महाकपट है।

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८६,

“(प्रश्न)एक स्त्री वा पुरुष कितने नियोग कर सकते हैं और विवाहित नियुक्त पतियों का नाम क्या होता है?

(उत्तर) सोमः प्रथमो विविदे गन्ध्र्वो विविद उत्तरः।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तु रीयस्ते मनुष्यजाः॥ ~ऋ० {१०/८५,/४०}

हे स्त्री! जो (ते) तेरा (प्रथमः) पहला विवाहित (पतिः) पति तुझ को (विविदे) प्राप्त होता है उस का नाम (सोमः) सुकुमारतादि गुणयुक्त होने से सोम जो दूसरा नियोग होने से (विविदे) प्राप्त होता वह, (गन्धर्वः) एक स्त्री से संभोग करने से गन्धर्व, जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है वह (अग्निः)- अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक और जो (ते) तेरे (तुरीयः) चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं वे (मनुष्यजाः) मनुष्य नाम से कहाते हैं, जैसा (इमां त्वमिन्द्र) इस मन्त्रा में ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती है, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है"

समीक्षक-- स्वामी जी ने तो ऐसी हठ ठानी है कि अर्थों का अनर्थ कर दिया है इस मंत्र का यह अर्थ नहीं जैसा कि स्वामी नियोगानंद जी ने किया है देखिए इसका सही अर्थ इस प्रकार है-

सबसे (प्रथमः)- पहले, (सोमः)- सोम, (विवदे)- इस कन्या को प्राप्त हो, {अर्थात कन्या के माता पिता सब से पहले तो ये देखें कि उसका पति 'सोम' है या नहीं, पति का स्वभाव सौम्य है या नहीं, तत्पश्चात इस कन्या को (गन्धर्वः)- 'गां वेदवायं धारयति' ज्ञान की वाणियों को धारण करने वाला हो, यह (उत्तरः)- अधिक उत्कृष्ट होता है, कि{ सौम्यता यदि पति का पहला गुण है तो ज्ञान की वाणियों को धारण करना उसका दुसरा गुण है, (तृतीयः)- तीसरा, (अग्निः)- प्रगतिशील मनोवृत्ति वाला हो {अर्थात तेरा पति वह है जो आगे बढ़ने की वृत्तिवाला हो }, (तुरीयः)-चौथा, (मनुष्यजाः)- वह मनुष्य की संतान हो, {अर्थात जिसमें मानवता

हो, जिसका स्वभाव दयालुता वाला हो क्रूरता वाला नहीं}, (ते)- तेरा, (पतिः)- पति है

भावार्थ- कन्या व उसके माता पिता उसके पति में निम्न विशेषताएं अवश्य देखें कि पहला तो वह सौम्य हो सौम्यता पति का पहला गुण है, दुसरा गन्धर्व ज्ञान की वाणियों को धारण करने वाला हो अर्थात ज्ञानी हो, तीसरा प्रगतिशील मनोवृत्ति वाला हो, चौथा वह मनुष्यजा मनुष्य की संतान हो अर्थात जिसमें मानवता हो जिसका स्वभाव दयालुता वाला हो क्रूरता वाला नहीं,

इस मंत्र में कहीं भी नियोग तो क्या नियोग कि गंध तक नहीं है परन्तु स्वामी नियोगानंद जी ने इसके अर्थ का ऐसा अनर्थ किया कि पूछें मत, अब बुद्धिमान लोग एक बार स्वयं स्वामी जी द्वारा किये भाष्य पर दृष्टि डालकर बताए कि दयानंदी लोग क्या उसी स्त्री से विवाह करते हैं जो प्रथम एक से विवाह और दो से नियोग कर चुकी है?

धन्य हे! यही तो धर्म और स्वामी जी की शर्म है और पूर्व के विरुद्ध यहाँ ही दूसरा विवाह निकाल दिया,

अब विचारने की बात है यदि स्वामी नियोगानंद जी का किया अर्थ माने तो, न जाने वह पहला विवाहित सोम संज्ञावाला पति अपने जीते जी अपनी पत्नी गन्धर्व संज्ञावाले नियोगी पति को क्यों देगा? और वह गन्धर्व नियोगी अपने जीते हुए अग्नि संज्ञावाले नियोगी पति को क्यों देगा? और चौथा ही पति मनुष्य क्यों कहाता है? क्या वे पिछले तीन किसी जानवर की सन्तान हैं?

और तीसरे को ही अग्नि कि संज्ञा क्यों? शायद वो हमेशा यह सोच कर जलता रहता हो कि पहले के समान सुकुमारतादि

गुण और में क्यों नहीं इत्यादि इत्यादि। इस कारण दयानंद के किये सब अर्थ भ्रष्ट है

इसके अतिरिक्त और भी मंत्र जैसे--

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।

दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥ ~ऋ० {१०/८५/४५}

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।

को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ ~ऋ० {१०/४०/२}

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ~ऋ० {१०/१८/८}

इत्यादि मंत्रों के अर्थ का अनर्थ करकें नियोग बनाया है अर्थात नियोग झूठ से सिद्ध किया है, जबकि इन सभी मंत्रों में कहीं भी नियोग की गन्ध तक नहीं है।

सिर्फ अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दयानंद ने वेद मंत्रों के साथ कैसा अनर्थ किया वह आप सबके सामने ही है

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८७,

❝(प्रश्न) एकादश शब्द से दश पुत्र और ग्यारहवें पति को क्यों न गिने?

(उत्तर) जो ऐसा अर्थ करोगे तो 'विध्वेव देवरम्' 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' 'अदेवृघ्नि'और 'गन्ध्वो विविद उत्तरः'इत्यादि

वेदप्रमाणों से विरुध्दार्थ होगा क्योंकि तुम्हारे अर्थ से दूसरा भी पति प्राप्त नहीं हो सकता"

समीक्षक- निश्चय ही हमारे क्या किसी प्राचीन आश्चर्य के मत में भी दुसरा पति नहीं माना गया है, वेद मंत्रों के अर्थ कर ही चुके हैं और **(पतिमेकादशम्)** यहाँ **एकादशम्** के अर्थ ग्यारहवां, और **पतिम्** पति को यह द्वितीय विभक्ति का एकवचन पड़ा हुआ है, ग्यारह पति तक करने का अर्थ तो स्वामी जी के कपोल भंडार से निकला है।

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८७,

"देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिाया सम्यग् नियुक्तया।

प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥१॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्य्या यवीयान्वाग्रजस्त्रियम्।

पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि॥२॥

औरसः क्षेत्राजश्चै०॥३॥ ~मनु०{अ० ८, श्लोक ५८-६०}

इत्यादि मनु जी ने लिखा है कि (सपिण्ड) अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विध्वा स्त्री का नियोग होना चाहिये, परन्तु जो वह मृतस्त्रीपुरुष वा विध्वा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है, और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे |जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी पुनः वे नियुक्त आपस में समागम

करें तो पतित हो जायें, अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है।

इसके पश्चात् समागम न करें और जो दोनों के लिये नियोग हुआ हो तो चौथे गर्भ तक अर्थात् पूर्वोक्त रीति से दस सन्तान तक हो सकते हैं, पश्चात् विषयासक्ति गिनी जाती है, इस से वे पतित गिने जाते हैं और जो विवाहित स्त्री पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें तो कामी और निन्दित होते हैं? अर्थात् विवाह वा नियोग सन्तानों ही के अर्थ किये जाते हैं पशुवत् कामक्रीडा के लिये नहीं”

समीक्षक-- ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी में बुद्धि की बहुत कमी है यदि उनमें थोड़ी बहुत भी बुद्धि होती तो वह इस बात को समझ पाते कि मनु जी इस महाअधर्म नियोग के घोर विरोधी थे, और जहाँ तक इन श्लोकों की बात है तो मनु जी ने यह श्लोक इसलिए लिखें है कि उस समय राजा वेन के राज में यह यह पशुधर्म नियोग चलन में था, यह पशुधर्म राजा वेन ने आरंभ किया और उसने नियोग के जो-जो नियम चलाए उसे मनु जी ने अपने ग्रंथ में लिखते हुए इस प्रकार इसकी निंदा की है सुनिए-

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।

यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥ -{९/५७}

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।

सृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥ -{९/३०}

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।

अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥ -{९/६४}

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्व चित्।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥ -{९/६५}

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥ -{९/६६}

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।

वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः॥ -{९.६७}

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥ -{९/६८} ~मनु०

छोटे भाई के लिए बड़े भाई की पत्नी गुरु पत्नी तुल्य, और बड़े भाई के लिए छोटे भाई की पत्नी पुत्रवधू जैसी होती है॥

यदि विवाहित स्त्री परपुरूष का संग करती है तो वह इस लोक में निन्दित होती है, और अनेक यौन सम्बन्धी रोगों से ग्रसित हो जाती है तथा मृत्यु के बाद गीदड़ी के रूप में जन्म लेती है॥

ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की विधवा स्त्री को परपुरूष का संग नहीं करना चाहिए, दूसरे पुरुष का संग करने से स्त्री सनातन एक पतिव्रत धर्म को नष्ट करती है और उससे उत्पन्न संतान धर्म का विनाश करने वाली होती है॥

जो वेद मंत्र विवाह के सम्बन्ध में कहें गये हैं, उनमें न तो नियोग का वर्णन है और न ही विधवा विवाह का॥

नियोग का प्रयोग राजा वेन के शासनकाल में अवश्य हुआ था लेकिन तब भी विद्वज्जनों ने इसे पशुधर्म बताते हुए मनुष्यों के लिए निषिद्ध बताया था॥

जो राजा वेन सम्पूर्ण धरती को भोगने वाला चक्रवर्ती सम्राट था, कामवासना के वशीभूत हो उसी राजा ने वर्णसंकर संतान उत्पन्न करने के दुष्चक्र(नियोग) का आरम्भ किया॥

उस राजा वेन के समय से यह रीति चली और जो उसकी मति मानने वाले लोग शास्त्र के न जानने वाले विधवा स्त्री को परपुरूष के साथ योजना करते हैं, उस विधि को साधु पुरुष निन्दा करते हैं॥

इससे सिद्ध होता है कि मनु जी नियोग के घोर विरोधी थे मनु जी ने इस महाअधर्म नियोग की तुलना पशुधर्म से करते हुए इसकी बहुत निन्दा की, जो विद्वान लोग हैं वे इस बात को भलीभाँति समझते हैं, स्वामी जी राजा वेन के ही अवतार मालूम पड़ते हैं, या राजा वेन के भी गुरु कहूं तो गलत नहीं होगा, क्योकि उसने तो केवल अपनी ही जाति में नियोग चलाया और एक ही संतान उत्पन्न करने को कहा, परन्तु तुम तो सब ही जाति में नियोग करना और ग्यारह तक पति बनाने की आज्ञा करते हो, यह पशुधर्म आपने चलाया जो राजा वेन से प्रारम्भ हुआ है इससे पता चलता है कि आप धर्म के नहीं अधर्म के फैलाने वाले हैं।

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८७,

“(प्रश्न) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी?

(उत्तर) जीते भी होता है।

अन्यमिपिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ~ऋ० {मं० ११/ सू० १०}

जब पति सन्तानोत्पति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे!सौभाग्य की इच्छा करने हारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर, तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहै, वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त

होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझ से छोड़ के किसी दूसरी विध्वा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिये, जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया"

समीक्षक-- यह तो बेशर्मी की हद ही हो गई, स्वामी जी ने तो जैसे ठान रखा है कि अर्थ का अनर्थ ही करना है यदि स्वामी जी इस मंत्र को पूरा लिखते तो कलई खुल जाती, सारा नियोग हवा में उड जाता, देखिए पुरा मंत्र यह है-

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभागे पतिं मत्॥

~ऋ० {१०/१०/१०}

यह ऋचा यम यमी संवाद की है यमी कहती है यम से कि हम दोनों समागम करें तो यम इस मंत्र से उत्तर देते हैं, कि हे यमी वे उत्तर युग आवेंगे जिन युगों में (जामयः) भगिनियां (अजामि कृणवन्) भगिनी से भिन्न सम्बन्धित कर्म को करेंगी भाव यह है कि कलियुगान्त में ही यह संकरता होगी,जिस काल में भगिनी से भिन्न स्त्री योग्य कर्मों को भगिनी करेंगी, किन्तु अभी तो संकर धर्म नहीं अपने-अपने धर्म में सब वर्ण वर्तमान है इसलिए हे सुभगे मेरे से अन्य योग्य पति की इच्छा कर,

अब बुद्धिमान यह विचारें कि इसमें कौन सी बात नियोग की है? इसमें स्वामी जी ने बड़ी बनावट कर मंत्र का आशय सम्पूर्णत: बदल दिया,

कुन्ती माद्री का भी दृष्टांत इसमें घट नहीं सकता, क्योकि पाण्डु को शाप था इस कारण पाण्डु की आज्ञा से कुन्ती और माद्री ने मंत्र बल से देवताओं का आह्वान किया, इन्द्र, वायु और धर्म से

तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो तत्काल ऋतुदान करते ही उत्पन्न हो गये, अश्वनीकुमारों से नकुल, सहदेव यह तत्काल ही उत्पन्न हो गये थे, यदि इस प्रकार मंत्राकर्षण से पति की आज्ञानुसार स्त्री में देवताओं के बुलाने की सामर्थ्य हो तो वह कर सकती है, इस देव सम्बन्धी कार्य का यहाँ दृष्टांत नहीं घट सकता,

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८७-८८,

“प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।

विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रीस्तु वत्सरान् ॥१॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजाः।

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥२॥ ~मनु० {९/७६,८१}

विवाहित स्त्री जो विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्ति के लिये गया हो तो छः और धनादि कामना के लिये गया हो तो तीन वर्ष तक बाट देख के, पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले, जब विवाहित पति आवे तब नियुक्त पति छूट जावे॥१॥

वैसे ही पुरुष के लिये भी नियम है कि वन्ध्या हो तो आठवें (विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ न रहै), सन्तान होकर मर जायें तो दशवें, जब-जब हो तब-तब कन्या ही होवे पुत्र न हों तो ग्यारहवें वर्ष तक और जो अप्रिय बोलने वाली हो तो सद्यः उस स्त्री को छोड़ के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे॥२॥

वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो तो स्त्री को उचित है, कि उस को छोड़ के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति

करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे, इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से स्वयंवर विवाह और नियोग से अपने-अपने कुल की उन्नति करे❞

समीक्षक-- यहाँ स्वामी जी ने यह लीला रची की पहला श्लोक तो ९ वें अध्याय का ७६ वां और दूसरा श्लोक ८१ वां लिखा है और इन दोनों का स्वामी जी ने एक ही प्रसंग लगा दिया, जबकि इनमें से एक में भी नियोग तो क्या नियोग की गंध तक नहीं है, देखिए इससे पहले यह श्लोक हैं--

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः।

अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि॥७४॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।

प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥७५॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।

विद्यार्थं षड्यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥७६॥

जब कोई पुरुष परदेश को जाये तो प्रथम स्त्री के खान पान का प्रबंध करता जाये, क्योकि बिना प्रबंध क्षुधा के कारण कुलीन स्त्री भी दूसरे पुरुष की इच्छा कर सकती हैं॥

खान पान की व्यवस्था करकें परदेश जाने के अनन्तर उस पुरुष की स्त्री नियम अर्थात पतिव्रत से रहकर अपना समय व्यतीत करें, और जब भोजन को न रहे या पुरुष पुरा बंदोबस्त करकें न गया हो तो पति के परदेश होने तक शिल्पकर्म जो निन्दित न हो अर्थात सूत कातना हस्त से काढना आदि कर्मों से गुजरा करें॥

यदि वह परदेश धर्म कार्य को गया हो तो आठ वर्ष, विद्या पढने गया हो तो छः वर्ष, धन यश को गया हो तो तीन वर्ष तक राह देखें, पश्चात पति के पास जहाँ हो वहाँ चली जावें॥

अब बुद्धिमान स्वयं विचारें की इसमें नियोग की बात कहा से आ गई और यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मनु जी ने नियोग की बात का समर्थन नहीं करते उन्होंने इसे पशुधर्म कहते हुए मनुष्यों के निन्दित बताया है पुनः प्रमाण देते हैं देखिए मनु जी लिखते हैं कि-

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्व चित्।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥ {९.६५}

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।

पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किं चिदप्रियम्॥ {५/१५६}

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।

न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥ {५/१५७}

आसीता मरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।

यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥ {५/१५८}

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।

दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥ {५/१५९}

मृते भर्तरि साढ्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।

स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ {५/१६०}

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।

सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते॥ {५/१६१}

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।

निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥ {५/१६३}

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।

श्रृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥ {५/१६४} ~मनुस्मृति

जो वेद मंत्र विवाह के संबंध में कहें गए हैं उसमें न तो नियोग का वर्णन है और न ही विधवा विवाह का॥

अगले जन्म में अच्छा पति पाने की इच्छा रखने वाली स्त्री को इस जन्म में विवाहित पति की जीवन-अवधि में अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर उसे बुरा लगने वाला कोई कार्य नहीं करना चाहिए॥१५६॥

स्त्री अपने पति की मृत्यु हो जाने के पश्चात फल-फूल और कन्द-मूल खाकर अपना शरीर चाहे सुखा ले पर भूल कर भी दूसरे पुरूष के संग की इच्छा न करें॥१५७॥

पतिव्रता स्त्री को पति के मृत्यु के बाद पुरा जीवन क्षमा, संयम, तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुजारना चाहिए, उसे सदाचारणी स्त्रीयों द्वारा आचरण योग्य उत्तम धर्म का पालन करने पर गर्व करना चाहिए॥१५८॥

यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु बिना किसी संतान को उत्पन्न किए हो जाए तब भी स्त्री को अपनी सद्गति के लिए दूसरे पुरुष का संग नहीं करना चाहिए,॥१५९॥

सन्तान उत्पन्न नही करने वाले ब्रह्मचारीयों की तरह पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य पालन करने वाली स्त्री पुत्रवती नही होने पर भी स्वर्ग प्राप्त करती है॥१६०॥

पुत्र प्राप्ति की इच्छा से जो स्त्री पतिव्रत धर्म को तोड़ कर दूसरे पुरुष के साथ संभोग करती है उसकी इस संसार में निंदा होती है तथा परलोक में बुरी गति मिलती है॥१६१॥

कम गुणों वाले अपने पति का त्याग कर जो स्त्री अधिक गुणों वाले अन्य पुरुष का संग करती हैं वह इस संसार में निंदा का पात्र बनती है और दो पुरूषों की अंकशायिनी बनने का कलंक लगवाती है॥१६३॥

पति के सिवाय दूसरे पुरुष से संभोग करने वाली विवाहित स्त्री इस संसार में निंदा का पात्र तो बनती ही है और मरने के बाद गीदड़ की योनि में जन्म लेती हैं, वह कोढ़ जैसे अनेक असाध्य रोगों से पीड़ा पाति है॥१६४॥

क्या स्वामी जी ने मनुस्मृति में यह श्लोक नहीं देखें? अवश्य देखें होंगे परन्तु लिखते कैसे इच्छा तो स्त्रीयों को व्यभिचारीणी बनाने की थी, भारतवर्ष को इस पशुधर्म की ओर धकेलने की थी, और सुनिए स्वामी जी ने दूसरा श्लोक यह लिखा है,
(वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे०) इसका अर्थ पूर्व ही कर चुके हैं, अब क्योकि स्वामी जी इसका अर्थ बिगाड़ने से भी न चूकें इसलिए पुनः इसका अर्थ लिखते हैं,

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजाः।

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥

पत्नि यदि वन्ध्या हो तो आठ वर्ष, बार-बार मृत बच्चों को जन्म देती हो तो दश वर्ष, या केवल कन्याओं को ही जन्म देती हों तो ग्यारह वर्ष उपरान्त पति दुसरा विवाह करने का अधिकारी है और यदि पत्नि अप्रिय बोलने वाली है तो पति तत्काल दुसरा विवाह कर सकता है।

यह इसका अर्थ है, स्वामी जी ने यह भी खुब लिखा कि “पति दुःखदायक हो तो स्त्री उसे छोड़ किसी दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे” धन्य हे! स्वामी जी आपकी बुद्धि, पहले तो लिखा कि पति आज्ञा दे तो नियोग करें, और अब लिखा कि स्त्री अपनी इच्छा से पति छोड़ दूसरे पुरुष से नियोग कर लें, जब वह दूसरे पुरुष से नियोग करेगी पति से लडेगी, तो वह उसे घर में ही क्यों रहने देगा, सास ससुर भी उसे घर में नही रहने देंगे, एक नहीं सैकड़ों नियोग करें, परन्तु जब वह पति के विरुद्ध करेगी वह तो काहें को उसे घर में घुसने देगा, ऐसी बिना सर पैर की बात तो कोई मुर्ख भी न करेगा जैसी स्वामी जी ने यहाँ लिखीं हैं जो स्त्री दुसरे से सन्तान उत्पन्न करें पति से छोड़ी हुई फिर उसके और से उत्पन्न हुए बालक कौन से शास्त्र से दायभागी होंगे, सिवाय तुम्हारे व्यभिचार प्रकाश के, और तो किसी ग्रंथ में स्वैरिणी स्त्रीयों के पुत्रों का दाय भाग नहीं मिल सकता।

सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ ८८,

“वीर्य और रज को अमूल्य समझें, जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को परस्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के संग में खोते हैं वे महामूर्ख होते हैं, क्योंकि किसान वा माली मूर्ख होकर भी अपने खेत वा वाटिका के विना अन्यत्र बीज नहीं बोते, ‘आत्मा वै जायते पुत्राः’ यह ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन है।

अंगादंगात्सम्भवसि हृदयादधि जायसे।

आत्मासि पुत्रा मा मृथाः स जीव शरदः शतम्॥

~ यह सामवेद के ब्राह्मण का वचन है।

हे पुत्रा! तू अंग-अंग से उत्पन्न हुए वीर्य से और हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिये तू मेरा आत्मा है, मुझ से पूर्व मत मरे किन्तु सौ वर्ष तक जी ”

समीक्षक-- स्वामी जी इस बात से तो स्वामी जी का ही पक्ष बिगाड़ता है, जबकि माली किसान भी बीज अपनी भूमि में बोते है तो वे पुरुष भी मुर्ख है जो अन्य स्त्री से नियोग करते और वृथा बीज खोते है, क्योकि एक ही बार जाने से गर्भ रह नहीं सकता, और जब आत्मा ही पुत्र है तो मृत पुरुष के वे बालक कहा नहीं सकते, अब एक और बात सुनिये किसी की बुद्धि कितनी ही भ्रष्ट क्यों न हों? कितना ही नशे में चूर क्यों न हों? फिर भी वह तुम्हारी भांति बिना सर पैर की बात नहीं कर सकता।

॥इति सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत चतुर्थसमुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९२,

“वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्॥ ~मनु०{६/३३}

इस प्रकार वनों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे।

(प्रश्न) गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके-संन्यासाश्रम करे उस को पाप होता है वा नहीं?

(उत्तर) होता है और नहीं भी होता, जो बाल्यावस्था में विरक्त हो कर विषयों में फंसे वह महापापी और जो न फंसे वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है”

समीक्षक-- अब दयानंद के लेख से ही दयानंद के सन्यासी होने की परीक्षा करते हैं, तुमने ७५ वर्ष से पूर्व ही सन्यास ले लिया, और विषय संग भी नहीं छोड़ा, तो फिर तुम्हें विषयों में फंसे रहने से पाप ही हुआ, तुमने लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रबंध किया, पलंग पर शयन होता, बड़े बड़े तकिये लगे रहते, तरह तरह के स्वादिष्ट भोजन होते, पैर धुलाने को कहार नौकर, चटनी, मुरब्बे, पुरी, हलवे के बिना भोजन अच्छा नहीं लगता था, दुशाले ओढ़े जाते, हुक्का पिया जाता था, पांव में विलायती बूंट, घड़ी आदि पहने जाते, स्वार्थ सिद्धि हेतु ईसाइयों के साथ उठना बैठना था, जहां

ठहरते कोठी बंगलों में ही ठहरते इत्यादि फिर तुम्हें इन संगों के करने से पाप ही हुआ

सत्यार्थ प्रकाश पंञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९३,

“नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

~कठ० (वल्ली २ मं० २४)

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिस का आत्मा योगी नहीं और जिस का मन शान्त नहीं है, वह संन्यास ले के भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता”

समीक्षक-- स्वामी जी तुम्हारे अंदर तो शान्ति नाम मात्र भी नहीं थी, जहाँ किसी ने तुम्हारे विरुद्ध कुछ कहा झट उसको उत्तर देने को कटिबद्ध गालियों की वर्षा करने लगे, अपनी इस सत्यार्थ प्रकाश को ही ले लों, द्वितीय, तृतीया और एकादश समुल्लास में गालियों की वर्षा कर रखी है, आत्मा भी तुम्हारी योगी नहीं थी क्योंकि जब चित्त की वृत्ति ही शान्त न हुई तो फिर आत्मा में योग कहाँ, मन भी तुम्हारा शान्त नहीं था कही कुछ लिखा तो कहीं कुछ हमेशा थुक कर चाटने वाला काम किया इस कारण तुम्हारा सन्यास लेना व्यर्थ ही हुआ

सत्यार्थ प्रकाश पंञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९३,

“अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।

जघंन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

~मुण्ड० (१ खण्ड २ मं० ८)

जो अविद्या के भीतर खेल रहे, अपने को धीर और पण्डित मानते हैं, वे नीच गति को जानेहारे मूढ़ जैसे अन्धे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं वैसे दुःखों को पाते हैं"

समीक्षक-- पंडिताभिमान भी स्वामी जी में थोड़ा नहीं है, देखिए तृतीया समुल्लास में ही विद्या के घमंड में आकर ब्रह्मा से लेकर जैमिनी तक के ग्रंथों में अशुद्धता बता दिया जिन आप्त पुरूषों के बारे में यह लिखा कि वे बड़े विद्वान, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे उन्हीं के ग्रंथों में वेद विरुद्धता ठहराते हो यहाँ तक कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वेद विरुद्धता ठहरा दिया सर्वशास्त्रवित् महात्मा लोग जो वेदार्थ को सम्यक् प्रकार से जानते थे तुमने उनका अर्थ भी विरुद्ध बताया, सो यह श्रुति तुम्हारे ऊपर ठीक बैठती है, तुम जैसे लोगों की यही दशा होनी चाहिए, और तुम तो हो भी अंधे के चैले सो उसके लक्षण आना तो स्वाभाविक है यह श्रुति तुम पर बराबर बैठती है

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९३,

"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

~मुण्ड० ३ । खण्ड २। मं० ६॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रें के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्ति सुख को प्राप्त हो; भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है तब वहां से छूट कर संसार में आते हैं। मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता"

समीक्षक-- न जाने यह कीड़ा तुम्हारी में कहां से घुस गया की मुक्ति के बाद जीव वापस लौट आता है भला वह मुक्ति कैसी जिसके बाद भी जीव जन्म-मरण के बंधन से मुक्त नहीं होता, यह तुम्हारे मन की गढ़ंत ही हैं क्योंकि इस श्रुति में ऐसा कहीं नहीं लिखा कि मुक्ति के बाद जीव वापस लौट आता है, देखिए इसका सही अर्थ इस प्रकार है,-

"विचार जन्य विज्ञान से जिन्होंने वेदांत के अर्थों को यथार्थ जाना है और वे यत्नशील सर्वस्वत्यागरूप सन्यास योग से शुद्ध चित्त है ऐसे साधक शरीर त्याग ब्रह्मलोक में परम अमृतत्व मुक्ति को प्राप्त होकें, जन्ममरण के बंधन से मुक्त होते हैं,

इसकी विशेष व्याखा नवम समुल्लास के मुक्ति प्रकरण में करेंगे

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९४,

“लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्चोत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति॥ ~शत० कां० १४॥

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ धन से भोग वा मान्य पुत्रदि के मोह से अलग हो के संन्यासी लोग भिक्षुक हो कर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं”

समीक्षक-- दयानंद केवल नाम के ही सन्यासी है यह बात इनके इस लेख से ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि स्वामी जी में तो यह इच्छाएं कूट-कूट कर भरी हुई हैं देखिए- लोकैषणा के अर्थ लोक में जन निन्दा करें वा स्तुति, और अप्रतिष्ठा करें तो भी जिसके चित्त में कुछ हर्ष, शोक न हो वही सन्यासी कहलाने योग्य है, लेकिन स्वामी जी की यदि कोई निंदा करता है तो उन्हें कितना दुख होता है तुरन्त उसकों उत्तर देने में कटिबद्ध हो

गालियों की वर्षा करने लगते हैं, वित्तैषणा का त्याग भी तुम्हारे अन्दर नहीं पाया जाता, धन की इच्छा यहाँ तक है कि उसकी पूर्ति नहीं होती, धन की प्राप्ति के लिए कैसे-कैसे प्रयत्न किए, भीख मांग-मांग कर अपना निजी यंत्रालय खोला, उसके बाद भी पुस्तकों के मुल्य दोगुने, तीनगुने रखें, तुम्हारी पुस्तक कोई और न छाप सकें इसलिए उसकी रजिस्ट्री करवाईं, पुस्तक विक्रय के व्यवहार से धन आने पर भी व्याकरण की पुस्तक छापने को फिर से धन की सहायता ली, उपदेश मंडली के नाम से एकलक्ष्य रूपया एकत्रित करने में ययथाशक्ति प्रयत्न किया गया, लोभ ने तुम्हारे मन में यहाँ तक निवास किया था कि धनवानों पूंजीपतियों से प्रितिसमेत घंटों वर्ता होती थी, ईसाई मिशनरी सभा और अंग्रेजी दफ्तरों के चक्कर काटा करते थे, निर्धनों की तो बूझ ही न थी, प्रतिष्ठा इतनी चाहते थे कि कोठी, बंगलें और महलों में ही ठहरते थे, पुत्र तो था ही नहीं परन्तु जो मुख्य सेवकादि है उनमें तुम प्रीती करते हो, और उनके सुख दुख में हर्ष, शोक प्रकट करते हो, क्योकि तुमने ही इसी के ऊपर पृष्ठ ९४, पर लिखा है कि जो देहधारी है वह दुख सुख की प्राप्ति से पृथक नहीं रहा सकता, तो लिजिए तुम तीनों एषणाओं से मुक्त नहीं, इसलिए सन्यासी भी नहीं हो, क्योकि तीनों एषणाओं को केवल वही जीत सकता है जो संसार के व्यवहार से कोई सम्बन्ध न रखता हो,

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९४,

“प्राजापत्यां निरूप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम्।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रवजेद् गृहात्॥

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उस में यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे"

समीक्षक-- दयानंद का यह अर्थ भी गलत ही है दयानंद ने यहाँ सर्व वेदस् का अर्थ यज्ञोपवीतादि से लिया है जबकि इसका अर्थ सर्वस्व से है यहाँ प्रजापत्य इष्टि की सर्व वेदस् दक्षिणा लिखीं हैं अब स्वयंवविचार कर देखें कि उक्त इष्टि की दक्षिणा सर्वस्व हो सकती है वा यज्ञोपवीतादिक जिसमें थोड़ी भी बुद्धि होगी वह सर्वस्व ही कहेगा, क्योकि वैराग्य के बिना सन्यास का ग्रहण वृथा है, और जिसने धनादि सर्वस्व पदार्थों का त्याग न किया उसमें वैराग्य कहाँ,

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९५,

"इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग-द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे"

समीक्षक- स्वामी जी में तो विद्या ज्ञान, वैराग्य, जितेन्द्रियता भी नहीं थी, विषय भोग की इच्छा पूर्ण थी, जो विद्या और ज्ञान यथार्थ होता तो परस्पर विरुद्ध शास्त्र प्रतिकूल युक्ति रहित लेख क्यों लिखते, वैराग्य के विरुद्ध धन आदि पदार्थों में राग क्यों होता ? विषय भोग की इच्छा न होती तो उत्तमोत्तम भोजन और वस्त्रों से क्या प्रयोजन था?

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९६,

❝सब भूतों से निर्वैर रहे❞

समीक्षक- आर्य समाज को छोड़कर तो तुम्हारा सबसे विरोध ही था, और प्राचीनाचार्यों के ललिए तुमने कैसे-कैसे दुर्वाक्यों का प्रयोग किया है, यहाँ तक कि आप्त पुरूषों के ग्रंथों का भी अपमान किया, अर्थात तुम सन्यासी नहीं थे,

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९५,

❝जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे❞

समीक्षक- स्वामी जी ने यह बात लिखने को तो लिख दी पर क्या कभी इसका पालन भी किया, कोई तुम पर क्रोध करें और तुम उस पर न करों यह असंभव है, यहाँ तक कि जो लोग तुम्हारी सेवा में लगे रहते थे उनका हृदय भी तुम्हारी क्रोधाग्नि से भस्म हो जाता, जो कोई तुम्हारे दोषों को दोष कहता उसका भी तिरस्कार होता था, सैकड़ों दृष्टांत तुम्हारी बनाई शास्त्रार्थों की पुस्तकों में विद्यमान है, गालियाँ तुम बेधड़क बकते थे, अपने इस सत्यार्थ प्रकाश में ही देख लिजिए, और बिना क्रोध कोई गालियाँ नहीं बकता इससे सिद्ध होता है कि आप केवल नाम के सन्यासी थे,

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९८,

❝सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी जो ब्रह्म और उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित और जिस से दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय संन्यास, वह उत्तम स्वभाव जिस में हो वह संन्यासी कहाता है❞

समीक्षक-- वाह जी वाह! क्या अर्थ किया है? दुष्ट कर्मों का त्याग करने का नाम सन्यास है फिर तो श्रेष्ठ आचरण वाले सब ही गृहस्थ पुरूष सन्यासी हो गये, ऐसे तो सब हैं श्रेष्ठ आचरण पुरूष घर बैठे सन्यासी बन जावें, इसलिए तुम्हारा यह सिद्धांत गलत है सुनिए जिसने सर्वस्व त्याग दिया अर्थात जो संसार के व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं रखता वह सन्यासी होता है

सत्यार्थ प्रकाश पञ्चम समुल्लास पृष्ठ ९९,

❝**विधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्॥ ~{मनु० ११/६}**

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन संन्यासियों को देवें❞

समीक्षक-- वाह रे धूर्तानंद वाह! धन का लोभ तेरे मन में इस प्रकार घर किया हुआ कि उसकी पूर्ति ही नहीं होती, लोगों से ज्यादा से ज्यादा द्रव्य हडपनें को यह छल कपट फैलाया की मनुस्मृति के नाम से मिथ्या श्लोक कल्पना कर लिया, सारी मनुस्मृति छान मारों पर यह श्लोक कहीं नहीं मिलने वाला, कई दयानंदी इसके उत्तर यह श्लोक देते हैं कि दयानंद ने इस श्लोक के आशय से यह श्लोक कल्पना किया है,

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्।

वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते॥

~मनुस्मृति [अ० ११, श्लोक ६]

प्रथम तो कोई इन स्वामी जी से यह पूछे की उसके बाप का राज चल रहा है जो जब चाहा मूहँ उठा के उल्टी सीधी संस्कृत गढ़ उसे मनुस्मृति का बता दिया, वो भी ऐसी बात कल्पना की जो शास्त्र विरुद्ध तो है ही साथ ही इस श्लोक से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखता, विद्वान जन स्वयं विचारें इसमें कहीं भी सन्यासी को द्रव्य देने का पद लिखा ही नहीं है, किन्तु वेदविद् ब्राह्मणों को जो वेदों का ज्ञाता है उसको धनादि का दान देना कथन किया है देखिए इसका अर्थ इस प्रकार है- " जो ब्राह्मण वेदों का ज्ञाता और कुटुंबी हो ऐसे ब्राह्मणों को यथाशक्ति दान दक्षिणा देना चाहिए, ऐसे ब्राह्मणों को दान देने से शरीर त्यागाने उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति होती है "

सन्यासी का यहाँ कोई प्रकरण नहीं, दयानंद ने तो ऐसी अद्भुत बात कह दी जो बात किसी धर्मशास्त्र में न लिखीं होगी, सन्यासी को तो चाहिए कि--

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

~मनुस्मृति [अ० ६, श्लोक ३५]

इन तीनों ऋणों (देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण) से उद्धार होकें, मन को मोक्ष में लगावें, इन तीनों ऋणों से मुक्त हुए बिना जो मोक्ष की इच्छा रखता है अर्थात सन्यासी होता है वह नरक में गिरता है, स्वामी जी ने इस श्लोक को न विचारा, और देखिए-

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।

भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥

~मनुस्मृति [अ० ६, श्लोक ५५]

सन्यासी को चाहिए कि एक समय भिक्षा मांगकर उसी से अपना पालन करें, उसे एक से ज्यादा बार भिक्षा मांगने की प्रवृत्ति से दूर रहना चाहिए, एक से अधिक बार भिक्षा मांगने के लोभ में फंसा सन्यासी विषयों में फंसने लगता है, ठीक स्वामी जी की भांति, और सुनिए,

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।

अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते॥

~मनुस्मृति [अ० ६, श्लोक ५८]

आदर सहित मिलने वाली स्वादिष्ट भिक्षा की सन्यासी को उपेक्षा करनी चाहिए, क्योकि उसके स्वाद में रस नहीं लेने पर भी सन्यासी को वह यजमान के स्नेह बंधन में जकड़ती है,

परन्तु स्वामी जी के तो प्रतिदिन विविध प्रकार के उत्तमोत्तम भोजन बनते थे, सन्यासी को पेड़ के नीचे भूमि पर ही सोना, बैठना, एक समय भोजन करना आदि लिखा है जिसने सर्वस्व त्याग कर दिया जो संसार के व्यवहार से कोई सम्बन्ध न रखता उसे सन्यासी कहते हैं, क्योकि बिना वैराग्य सन्यास नहीं होता और जिसने धनादि सर्वस्व पदार्थों का त्याग न किया उसमें वैराग्य कहाँ इसलिए जिसका धनादि से मोह भंग नहीं हुआ वह सन्यासी नहीं हो सकता, भला जिसने सर्वस्व त्याग कर दिया जिसे संसार के व्यवहार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं वह नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन का क्या करेगा? सन्यासी के लिए तो यह सब धूल समान ही है लेकिन स्वामी जी में इनमें से एक भी

लक्षण नहीं मिलता, इस कारण उनका सन्यास लेना व्यर्थ ही हुआ,

॥इति चुतियार्थप्रकाश पञ्चमसमुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत षष्ठसमुल्लासस्य खंडनंप्रारभ्यते

॥राजधर्म प्रकरण॥

इस समुल्लास में दयनांद ने राजधर्म की व्याख्या की है इसमें सब ही श्लोक मनुस्मृति से लिखें है जो प्राचीन समय से आज तक सब लोग मानते चले आए हैं इसमें कोई मत विषयक चर्चा नहीं है, परन्तु इसमें दयानंद ने कुछ बातें ऐसी लिखीं हैं जो धर्म विरूद्ध हैं और कुछ ऐसी भी लिखीं हैं जो यहाँ तो मानी है पर अन्यत्र नहीं मानी सो आपको दिखलाते है

सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समुल्लास पृष्ठ १०५,

“इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों”

,,,,,,,जो विशेष देखना चाहें वेद, मनुस्मृति, शुक्रनीति तथा विदुरप्रजागर और महाभारतादि में देखकर निश्चय करें प्रजा का व्यवहार मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय से करें”

समीक्षक-- क्यों स्वामी जी यहाँ वह प्रण छूट गया कि हम वेदानुसार ही मानेंगे, जब वेदानुसार ही मानते हो तो मनुस्मृति से लिखने की क्या आवश्यकता थी सब वेद से ही लिख दिये होते, इससे पता चलता है कि मनुष्यों का व्यवहार, राजधर्म आदि सब धर्मशास्त्रों से ही होता है इससे उसका यथावत मानना ही बनेगा, वेदानुसार का मानना बन नहीं सकता यदि वेदानुसार है तो बताओ यह राजधर्म कौन सी श्रुति से निकाला है यह साक्षी

पूछना, दंड विधान आदि कहां के है, इससे अपने विषय में धर्मशास्त्र ही स्वतः प्रमाण है

सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समुल्लास पृष्ठ १०८,

❝और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित, सात वा आठ मन्त्री करे॥१॥

,,,,,,,जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न हुआ हो उसे दूतपने में नियुक्त करें❞

समीक्षक-- यहाँ स्वामी जी ने जन्म से जाति होना स्वीकार किया है दयानंद के कथनानुसार यदि शूद्र सम्पूर्ण गुणों से युक्त भी हो तो वह दूत बनाने योग्य नहीं किन्तु जिसका कुल भी श्रेष्ठ हो ऐसे पुरुषों को ही मंत्री और दूत बनावें, अब क्योकि कुलीनता तो जन्म से ही होती हैं अन्यथा नहीं,

सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समुल्लास पृष्ठ १०९,

❝बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न सुन्दर लक्षणयुक्त अपने क्षत्रियकुल की कन्या जो अपने सदृश गुण कर्म में हो उससे विवाह करें❞

समीक्षक-- यहाँ भी दयानंद जाति ही उत्तम मानते हैं, स्वामी जी लिखते हैं कि जो क्षत्रिय कन्या बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न हुई हो, उससे विवाह करें, और जो नीच कुल की पढ़ी लिखीं गुणवान कन्या हो उससे विवाह करना नहीं लिखा, यहाँ भी जाति ही प्रधान मानी है,

सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समुल्लास पृष्ठ १११,

“जो उस की प्रतिष्ठा है जिस से इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था उस को उस का स्वामी ले लेता है

सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समुल्लास पृष्ठ ११७,

,,,,,,जो साक्षी सत्य बोलता है वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है”

समीक्षक-- यहाँ दयानंद जीव का पृथ्वी के अलावा अन्य लोकों में जाना स्वीकार करते हैं, अब जब तुमने लोकान्तर में जीव की गति मानीं फिर न जाने क्यों स्वर्ग लोक मानने से भयभीत होते हों शायद इस कारण क्योकि स्वर्ग लोक में तो केवल पुण्यात्मा प्रवेश करते हैं पक्षपाती वा अधर्मीयों का वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिए तुमने सोचा हमें तो वहाँ जाना ही नहीं सो लिख दिया कि स्वर्ग ही नहीं है

✍ **सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समुल्लास पृष्ठ १११,**

“रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।

सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥११॥

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस भृत्य वा अध्यक्ष ने रथ घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियां तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य और घी, तेल आदि के कुप्पे जीते हों वही उस-उस का ग्रहण करे”

समीक्षक-- वाह रे सत्यार्थ प्रकाश लिखने वाले जिहादी भंगेडानंद वाह! क्या यही है तुम्हारी बुद्धि, यही है तुम्हारा धर्म?

क्या लूटपाट के उद्देश्य से लडा गया युद्ध , शत्रुओं की धन संपदा और उनकी स्त्रियों का भोग करना धर्मानुकूल और वेद सम्मत है?

यदि मनुस्मृति तुम्हारी समझ से बाहर है तो फिर क्यों इसके अर्थ का अनर्थ करते हो? जहाँ आशय 'मादा पशु' से है तुमने वहाँ पशु अलग और स्त्री अलग कर दिया, स्त्री को लूटने वाली वस्तु बना दिया, वाह रे भंगेडानंद वाह! क्या यही है तुम्हारी बुद्धि?

क्या तुम्हारे अनुसार लूटपाट के उद्देश्य से लडा गया युद्ध, धन संपदा, पशुादि की भाँति स्त्रियों को लूटना आदि धर्मानुकूल है?

खेर इस प्रकार का निच कर्म तो स्वामी जी तुम जैसे मंद बुद्धि, धूर्त को ही शोभा देता है, आपके इस लेख और कुरान की सूरा अनफ़ाल की आयत ६९ में कोई ज्यादा अन्तर नही है,

رَّحِيمٌ غَفُورٌ ٱللَّهَ ۚ إِنَّ ٱللَّهَ وَٱتَّقُوا۟ ۚ طَيِّبًا حَلَٰلًا ثُمُ غَنِمْ مِمَّا كُلُوا۟ ۚ

(الأنفـــال - ٦٩)

और जो कुछ ग़नीमत(लूट) का माल तुमने प्राप्त किया है, उसे वैध-पवित्र समझकर खाओ और अल्लाह के आज्ञाकारी बनकर रहो, (सूरा- अनफ़ाल, आयत ६९)

और तुम भी कुछ इसी प्रकार की सोच रखते हों कि- "जो-जो लड़ाई में धन-धान्य, स्त्रियां आदि लूटें वही उस-उस का ग्रहण करे"

यहाँ तुम्हारा यह सिद्धांत तेल लेने चला गया कि जो वेदानुसार है वही हमें मान्य है इससे ही पता चलता है कि तुम कितने वैदिक और कितने जिहादी मानसिकता के हो, वेद तो सिर्फ बहाना है तुम्हारा मत तुम्हारी बुद्धि है

तुम तो इस्लाम से भी २ कदम आगे निकल गए, अपने चेलों को लडाई में जीती हुई स्त्रियों को लूट के माल कि तरह बांटने की शिक्षा करते हों शोक है ऐसी बुद्धि पर, स्वयं को वैदिक , वैदिक कहते नहीं थकनें वाले नियोग समाजीयों दयानंद के इस लेख के बारे में क्या कहना चाहोगे ?? पहले ग्यारह ग्यारह स्त्रीयों से भोग करना सिखाया और जब इतने से भी कामग्नि शान्त न हुई तो स्त्रीयों को लूटने की शिक्षा दे ड़ाली, तुम्हारे भगवान दयानंद तो मुहम्मद साहब से भी दो कदम आगे निकल गये, लड़ाई में स्त्रियाँ लूटने और बाटने की बात कर रहे हैं,

स्वामी जी की मानसिकता और इस्लाम की मानसिकता में कोई ज्यादा अंतर नहीं रहा, जो दयानंद लड़ाई में स्त्रियों को लूटने और बाटने की बात करता है वो इतना भी नहीं जानता कि इस प्रकार का निच कर्म धर्मानुकूल है या फिर वेद विरुद्ध, वो कितना बड़ा ज्ञानी होगा ये बताने की आवश्यकता नहीं है, खेर यह सब दयानंद की बुद्धि में भरे गोबर का नतीजा है

ये देखिए मनुस्मृति में क्या कहा गया है--

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।

सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥

अर्थात- राजा द्वारा युद्ध मे शत्रुओं के रथ, घोडे, हाथी, छत्र, धन-धान्य, मादा पशु तथा घी-तेल आदि जो कुछ भी जीता गया है, उचित है कि, वह सब राजा उसी प्राजा को वापस कर दे (जिस राज्य को उसने जीता है)

देखिए मनु जी क्या लिखते है-

जित्वा संपूजयेद्देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।

प्रदद्यात्परिहारार्थं ख्यापयेदभयानि च॥१॥

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।

स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥२॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्मान् यथोदितान्।

रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥३॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।

मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात्॥४॥

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।

यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥५॥

-मनुस्मृति [७/२०१-२०३, ७/२०७-२०८]

राजा द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद उसे देवताओं तथा धर्मात्मा ब्राह्मणों की पुजा कर, युद्ध से प्रजा के जिन लोगों की अन्न-धन एवं जल की हानि हुई हो, उसकी पूर्ति करनी चाहिए तथा प्रजा को अभय का विश्वास देना चाहिए॥१॥, विजयी राजा को चाहिए कि वह पराजित राजा तथा उसके मंत्रियों के मनोरथ को जानकर, पराजित हुए राजा या उसके वंश में जन्मे योग्य पुरूष को राजगद्दी पर बैठा दे । वह पराजित राज्य में जो नियम, कानून, निषेध आदि प्रचलित हों उन पर स्वीकृति की घोषणा करवा दें ॥२॥, विजेता राजा को चाहिए कि वह युद्ध में हारे हुए राजा के राज्य में जो धर्माचार प्रचलित हो उनकी मान्यता की घोषणा करवा दें । राजा अपने प्रमुख मंत्रियों के साथ पराजित राजा को राज्य पर अभिषिक्त कर उसे रत्न आदि भेंट में प्रदान कर॥३॥, विजेता राजा तथा उसके सहायकों को पराजित राजा से यात्रा का फल, मित्रता आदि बहुमूल्य उपहार प्राप्त करना चाहिए ॥४॥, क्योकि किसी से सोना अथवा भूमि लेकर राजा उतना शक्तिशाली नहीं बनता, जितना की मित्रता

प्राप्त कर बनता है। दुर्बल से दुर्बल राजा भी मित्रता से बलवान बन जाता है॥५॥

अर्थात राजा को क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए अपने प्राजा के हित में, दो राज्यों के मध्य शांति बनाए रखने के लिए उचित है कि वह शत्रु राजा को अपना मित्र बना लें, और ऐसे शत्रु को कभी न मारे जो वाहन से उतरकर खड़ा हो, नपुंशक हो, हाथ जोड़कर धरती पर बैठा हो, जो कहें कि मैं तुम्हारी शरण में हूँ, बिना शस्त्र धारण किए, लडने के अनिच्छुक, जो विपत्ति में हो, दुखी हो, घायल हो, भयभीत हो अथवा युद्ध छोड़ कर भाग रहा हो।

वीर क्षत्रिय राजा पराजित राजा की प्रजा के साथ भी उसी प्रकार व्यवहार करें जैसा वह अपनी प्रजा के साथ करता है, और प्रथम तो स्वामी जी से यह पूछना है की यहाँ तुम्हारा वो प्रण कहाँ चला गया जो तुमने तीसरे समुल्लास में लिया कि " जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उस-उस का हम यथावत् करना, छोड़ना मानते हैं, इसलिए वेद हम को मान्य है इसलिये हमारा मत वेद है " वेद में तो ऐसा करना कहीं नहीं लिखा, बल्कि यह नीच कर्म तो वेद विरुद्ध है, फिर तुमने यह वेद विरुद्ध लेख क्यों लिखा ? इससे सिद्ध होता है कि तुम्हारा मत वेद नहीं बल्कि तुम्हारी बुद्धि ही तुम्हारा मत है,

देखें पहले तो लोगों से धन ऐठने को मनु के नाम से फर्जी श्लोक बनाकर सन्यासी को स्वर्णादि धन देने को लिखा, और अब स्त्रीयों को लूटने की बात इससे ही पता चलता है कि दयानंद कितने बडे वैदिक है जो कर्म धर्मशास्त्रों मे महापाप बताया गया है उसे यह व्यक्ति धर्म का अंग बताता है

खेर ये सब बातें जिहादी दयानंद की समझ से बाहर है।

दयानंद बचपन से ही मुस्लिमों कि ही भांति कट्टरपंथी विचारधारा वाले थे, निराकार की उपासना, मुर्ति पुजा का विरोध, सनातन धर्म से अलग अपना अलग मत बनाना, सनातनी देवी देवताओं अपने माता पिता, पूर्वजों आदि का अपमान करने वाले,अपने बाप तक को धूर्त, पाखंडी, मुर्ख बोलने वाले, वेद विरोधी, धर्म विरोधी, ऋषि कृत ग्रंथों का अपमान करने वाले, ब्रह्मणादि ग्रंथों तक मे वेद विरूद्धता ठहराने वालें, नशेडी, गंजेडी, भंगेडी, ब्राह्मण सन्यासी होते हुए भी लाश की चिर फाड जैसा निच कर्म करने वाले, लूटपाट के समर्थक, भारतवर्ष की समस्त स्त्रियो का अपमान करने वाले, एक स्त्री के ग्यारह पति बताकर उनके पतिव्रत धर्म को खंडित करने वाले, स्त्रियों को लूटने बाटने की वस्तु समझने वालें, अपना मत दुसरों पर थोपने वाले, अपने मत से भिन्न सभी मतों का अपमान करने वाले आदि आदि, ऐसे धूर्त व्यक्ति से ऐसे ही लेख की उम्मीद की जा सकती है

सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समुल्लास पृष्ठ १११,

“लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वन्तु साहसम्।

भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रत्पूर्वं चतुर्गुणम्॥३॥

जो लोभ से झूठी साक्षी देवे उस से १५॥=)(पन्द्रह रुपये दश आने) दण्ड लेवे, जो मोह से झूठी साक्षी देवे उस से ३=) (तीन रुपये दो आने) दण्ड लेवे, जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उस से ६।) (सवा छः रुपये) दण्ड लेवे और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे उससे १२॥) (साढ़े बारह रुपये) दण्ड लेवे”

समीक्षक-- वाह रे स्वामी मुर्खानंद वाह! क्या दिमाग पाया है तुमने, मनु के समय में रूपये चला दिए, धन्य हे तुम्हारी दो कोड़ी की बुद्धि, प्रथम तो कोई इन मुर्खानंद महाशय जी से यह पूछे की इन्होंने यह पन्द्रह रूपये दस आने, तीन रूपये दो आने, सवा छ: रूपये, और ये साढ़े बारह रूपये का दण्ड किन पदों से निर्धारित किया, और कौन सी गणित विद्या लगाकर यह दण्ड की धनराशि निर्धारित की, या फिर ऐसे ही मूहँ में जो भी अंड संड आया सो बक दिया, और वर्तमान में इस १५, ३, ६ और १२ रूपयों की औकात क्या है? १५ रूपये में तो व्यक्ति के एक समय का भोजन भी न आवें, और झूठ बोलने के लिए इतना मजेदार दण्ड आज तक किसी ने नहीं सुनाया होगा, जब १५ रूपये, ३ रूपये, ६ रूपये और १२ रूपये में झूठ बोलने की पूर्ण आजादी मिल रही है तो फिर लोभ और मोह के वशीभूत हो सभी झूठ ही बोलने लगे? क्योकि वे जानते हैं कि यदि उनका झूठ पकड़ा भी जाता है तो वह १२ या १५ रूपये का साधारण सा दण्ड देकें छूट जावेंगे, लोगों में कुछ भय ही न रहेगा, स्वामी जी के इस कल्पित दण्ड विधान के चक्कर में झूठी गवाही देने से न जाने कितने निर्दोष मनुष्यों का जीवन ही समाप्त हो जाए, यह स्वामी जी झूठ रोकने को नहीं बल्कि झूठ की, अधर्म की उन्नति के अर्थ यह दण्ड की धनराशि कल्पना की है इसका अर्थ इस प्रकार है-

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।

भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्॥

लोभ के वश में झूठी गवाही देने वाले साक्षी को 'हजार पणों (पण अर्थात तत्कालीन स्वर्ण मुद्राएं)' का दण्ड देना चाहिए मोह के वशीभूत हो असत्य बोलने वाले साक्षी को प्रथम साहस अर्थात

ढ़ाई सौ पणों (स्वर्ण मुद्राओं) का, भय के वश मे आकर असत्य बोलने वाले साक्षी को दो मध्यम साहस अर्थात पांच सौ स्वर्ण मुद्राओं का दण्ड और मित्रता के कारण असत्य बोलने वाले साक्षी को प्रथम साहस का चारगुना अर्थात हजार स्वर्ण मुद्राओं का दण्ड देना चाहिए

और यहीं नियम उचित भी है इससे मनुष्यों के अंदर यह भय हमेशा बना रहेगा कि यदि वह झूठी गवाही देगा तो उसे बड़े भारी दण्ड का भागी बनना होगा, अब विद्वान लोग स्वयं विचारें हम सभी जानते हैं कि पुराने समयों में केवल चांदी या स्वर्ण की मुद्राएं चलती थी, सो ऐसे में दयानंद का १५रूपये, १२ रूपये जैसी साधारण धनराशि दण्ड के रूप में निर्धारित करना कहाँ की समझदारी है यह झूठ बोलने वाले साक्षी के लिए सजा लिखा है या फिर मजा ? अब यदि किसी साक्षी को झूठ बोलने को कोई हजारों, लाखों रूपये का लालच दे तो भला वह झूठ बोलने से पीछे क्यों हटेगा क्योकि वह यह बात अच्छी प्रकार जानता है यदि उसका झूठ पकड़ा भी गया तो अधिकतम १५ रूपये का साधारण सा दण्ड भरके वह बच जावेगा कम से कम दयानंद ने (सहस्र) इस पद का अर्थ तो ठीक लिख दिया होता सहस्र का अर्थ पन्द्रह रूपये दस आने न जाने दयानंद ने यह अर्थ किस शब्दकोश से निकाला, स्वामी जी इसी खूबी के कारण तो उनका एक नाम धूर्तानंद है शायद स्वामी जी ने यह १२ और १५ रूपये का दण्ड इसलिए रखा क्योंकि वे जानते हैं कि यदि इस धरती पर सबसे अधिक झूठ बोलने वाला कोई व्यक्ति है तो वे स्वयं है, और उनके बाद उनके चैले झूठ बोलने की परंपरा को चलावेगें इसलिए स्वामी जी ने सोच समझकर अपने चेलों के हित में यह

स्वकल्पित नियम बनाया इस कारण दयानंद का यह लेख अशुद्ध है

सत्यार्थ प्रकाश षष्ठ समुल्लास पृष्ठ १११,

“जो-जो नियम शास्त्रेक्त न पावें और उन के होने की आवश्यकता जानें तो उत्तमोत्तम नियम बांधें”

समीक्षक-- न जाने स्वामी जी अपनी बुद्धि कहाँ रखकर भूल गये, क्यों स्वामी जी तुम तो शास्त्रों में सब कुछ मानते हो? और जो है नहीं नया बनावोगें, इससे वह वेदों में न होने के कारण फिर भी वेद विरुद्ध ही होगा, और तुम स्वयं लिखते हो जो वेदों में या वेदानुसार नहीं वह तुम्हें मान्य नहीं, फिर जो नया बनाओगें तो उसका प्रमाण कैसे होगा? इससे ही पता चलता है कि जरुरत पड़ने पर तुमने क्या-क्या कल्पना किया होगा? और आगे भी करेंगे जैसे अब इस वैश्य धर्म नियोग को ही ले लो इसकी क्या जरूरत थी ?, इससे पता चलता है कि पहले आपने कामग्नि बुझाने को महाव्यभिचार वैश्य धर्म नियोग की कल्पना की, जब इससे भी कामग्नि शान्त न हुई तो जरूरत पड़ने पर स्त्रीयों को लूटने का नियम बांधा, लोगो से धन ऐठने को मनुस्मृति के नाम से फर्जी श्लोक गढ़ सन्यासियों को धनादि देने का नियम बांधा इसी प्रकार जरूरत पड़ने पर अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए और न जाने क्या-क्या कल्पना करोगें, विद्वान लोग तुम्हारे इस ड्रामे को अच्छी प्रकार समझते हैं

॥इति चुतियार्थप्रकाश षष्ठसमुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १३२,

❝त्रयसिंत्रशतिंत्रशता० इत्यादि वेदों में प्रमाण हैं इस की व्याख्या शतपथ में की है कि तेंतीस देव अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवास स्थान होने से आठ वसु, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रोदन कराने वाले होते हैं, संवत्सर के बारह महीने बारह आदित्य इसलिये हैं कि ये सब की आयु को लेते जाते हैं।

बिजली का नाम इन्द्र इस हेतु से है कि परम ऐश्वर्य का हेतु है, यज्ञ को प्रजापति कहने का कारण यह है कि जिस से वायु वृष्टि जल ओषधी की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है। ये तेंतीस पूर्वोक्त गुणों के योग से देव कहाते हैं, इन का स्वामी चौंतीसवां उपास्यदेव शतपथ के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है❞

समीक्षक-- देखें कहीं तो स्वामी जी के लिए विद्वान देवता हो जाते हैं, तो कहीं मिट्टी, पानी, लकड़ी देवता हो जाते हैं, इसी प्रकार कहीं इन्द्र ईश्वर हो जाते हैं तो कहीं इन्द्र बिजली बन जाते हैं,

देखिए प्रथम तो इस दयानंद ने द्वितीय समुल्लास में यह लेख किया हैं कि "जैसे यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक हैं, वे

ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते, क्या ये चेतन हैं जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें?"

और अब अपने ही विरुद्ध खंडन करते हुए सप्तम् समुल्लास में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र आदि को देवता मान लिया धन्य है स्वामी भंगेडानंद कहीं तो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र आदि को जड़ माना और कही देवता मान लिया यह स्वामी जी का दौगलापन नहीं तो क्या है?

और " त्रयसिंत्रशतिंत्रशता " जिसके अर्थ ३०३३ देवताओं के है, स्वामी जी ने ३३ ही किये हैं वह अर्थ तो बदला ही पर हिसाब में भी गड़बडी, क्या तुमको ३३ से आगे गिनती नहीं आती जो ३०३३ के ३३ ही रह गए, देखिए देवता तो अनेक है जिनके नाम जपने से पाप दूर होता है

सविता प्रथमे ऽहन्न् अग्निर् द्वितीये वायुस् तृतीय ऽ आदित्यश् चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चम ऽ ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिर् अष्टमे।

मित्रो नवमे वरुणो दशम ऽ इन्द्र ऽ एकादशे विश्वे देवा द्वादशे॥
~यजुर्वेद {३९/६}

प्रथम दिन सवितादेव के लिए, दुसरे दिन अग्नि, तीसरे दिन वायु, चौथे दिन आदित्य, पांचवे दिन चन्द्रमा के लिए, छठे दिन ऋतु के लिए, सातवें दिन मरूदगण के लिए, आठवें दिन बृहस्पति देव के लिए, नौवें दिन मित्र के लिए, दसवें दिन वरूण के लिए, ग्यारहवें दिन इन्द्रदेव के के लिए, बारहवें दिन विश्वदेवता के लिए, इन देवताओं के निमित्त बारह दिन तक प्रायश्चित के अर्थ आहुति दी जाती है, अब स्वामी जी बतावें इसमें यह देवता कहाँ से आ गये,

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।

ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥

~ऋग्वेद {१०/६३/४}

(नृचक्षस:)- कर्मनेता मनुष्यों को देखने वाले, (अनिमिषंत:)- सदा जागरणशील जिनके पलक नहीं लगते, (देवासु:)- वे देवता, (अर्हण)- लोक के परिचरणार्थ, (बृहत् अमृतत्वं)- अपरत्व धर्म को, (आनशु:)- प्राप्त हुए हैं, (ज्योतीरथा:) वे दीप्तिमान रथ वाले, (अहिमाया:)- अव्यव बुद्धि, (अनागसा:)- पापरहित देवता, (वर्ष्माणं) उच्छ्रित देश में, (स्वस्तये)- लोक के कल्याणार्थ, (वसते)- रहते हैं।

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।

तां आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्यां अदितिं स्वस्तये॥

~ऋग्वेद {१०/६३/५}

यज्ञों में आने वाले देवता अति बुद्धि युक्त और अपने तेज में प्रतिष्ठित रहने वाले हैं, उन स्वर्ग में निवास करने वाले देवताओं एवं उनकी माता अदिति के निमित्त श्रेष्ठ नमस्कार और स्तुतियाँ करते हैं और विविध प्रकार से उनकी सेवा करते हैं।

इससे विदित होता है कि देवता यज्ञ में आते हैं इससे बिजली आदि का कल्पित अर्थ जो स्वामी जी ने लिखा है सो मिथ्या हो गया।

॥ईश्वरविषय प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १३३,

❝(प्रश्न) परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं?

(उत्तर) है, न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से, दण्ड देने का प्रयोजन है

पुनः लेख है कि "जिस ने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उस को उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये, उसी का नाम न्याय है"

और"दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना❞

समीक्षक-- यहाँ तो स्वामी जी ने दया की खुब रेट पिटि है, ईश्वर क्या है मानों जैसे इनका चेला है, जो सारा सिद्धांत स्वामी जी से कथन कर दिया है, देखिए (नी प्रापणे) धातु से न्याय शब्द सिद्ध होता है, जिसके अर्थ यह है कि यथावत् न्याय करना, जो दण्ड के योग्य हो उसको दण्ड देना, और जो दया के योग्य हो उस पर दया करना, और (दय) धातु से दया शब्द सिद्ध होता है, जिसके अर्थ यह है कि किसी भक्त श्रेष्ठाचरणी पुरुष से यदि अज्ञात में कोई अपराध हो गया हो जाये तो उसको स्तुति करने पर क्षमा करना, क्योकि दया का प्रयोग अपराधी पर ही होता है, जबकि किसी का दुख देखकर उस पर करूणा आतीं है कि इसका दुख दूर करें, तो इसी का नाम दया है, ईश्वर अन्तर्यामि है वह सबके मन की बात जानता है, कि यह अपराध वेसुधी में बना है,

या जानकर यदि वह प्रार्थना करें कि आगे ऐसी भूल न करेगा, बस उसके ऊपर दया करता है, जैसा यजुर्वेद में लिखा है कि-

स नो बन्धुर् जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यत्र देवा ऽ अमृतम् आनशानास् तृतीये धामन्न् अध्य् ऐरयन्त॥

~यजुर्वेद {३२/१०}

(स:)- वह परमेश्वर, (न:)- हमारा, (बन्धु:)- विविध प्रकार की सहायता रक्षादि करने से बन्धु है, (स:)- वह, (जनिता)- हमारा उत्पन्नकर्ता, (विधाता)- विधाता मालिक पिता है, (स:)- वह, (विश्वा)- सब लोकों, (भुवनानि)- प्राणि और, (धामानि)- स्थानों, (वेद)- जानने वाला है, (देवा:) देवता, (यत्र)- जिस ईश्वर में, (अमृतम्)- मोक्ष प्रापक ज्ञान को, (आनशान:)- प्राप्त करते, (तृतीये धामन्)- ऐसा वह परमेश्वर स्वर्ग रूप तृतीया धाम है।

इस मंत्र में बन्धु जनिता आदि शब्दों। से ईश्वर में अपार दया जानी जाती है, बन्धुत्वपन यही है कि आपदा में सहायता करनी, जनिता पिता पुत्र के अपराधों को क्षमा कर देता है और दया करता है।

शं वातः शम् हिते घृणिः शं ते भवन्त्व् इष्टकाः।

शं ते भवन्त्व् अग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन्॥

~यजुर्वेद {३५/८}

ईश्वर दयादृष्टि से कहता है कि हे यजमान भक्त, वायु तेरे लिए सुखरूप हो, सूर्य किरणें तेरे लिए कल्याणकारी हो, मध्य में और दिशाओं में स्थापित इष्टिका तेरे लिए सुखकारी हो, पृथ्वी अग्नि तेरे लिए मंगलकारी हो वह तुझे तपित नहीं करें, अब विचारना चाहिए कि यह वाक्य दयारूप है वा नहीं, इस कारण न्याय दया

पृथक है, और ईश्वर में सर्वशक्तिमान होने से दोनों बातें बनती है।

॥निराकार साकार प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १३४,

❝(प्रश्न) ईश्वर साकार है वा निराकार?

(उत्तर) निराकार, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक नहीं हो सकता, जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण, कर्म, स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष, छेदन, भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता, इस से यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है, जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिये, क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उस को संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये, जो कोई यहां ऐसा कहै कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था❞

समीक्षक-- ऐसा विदित होता है कि स्वामी जी ने ईश्वर को मनुष्यवत् समझ लिया है, यदि वह साकार हो जाए तो व्यापक न रहे, उसका कोई बनाने वाला हो जाए जबकि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो वह आकार वाला होकर शक्ति वा ज्ञान से रहित नहीं हो सकता, जिस समय प्रलय होती है उस समय वह निराकार, जब उसमें सृष्टि रचना की इच्छा होती है तब उसको

सगुण वा साकार कहते हैं, यह न्याय दयालु आदि नाम साकार में ही घटते है, देखिए यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है कि--

उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोति॥ ~शतपथ ब्राह्मण {१४/१/२/१८}

वह परमेश्वर दो प्रकार का है परिमित अपरिमित, निरूक्त और अनिरूक्त इस कारण जो कर्म यजुर्वेद मंत्रों से करता है उसके द्वारा परमेश्वर के उस रूप का संस्कार करता है जो निरूक्त और परिमित नाम है और जो अध्यात्म मंत्र का ही मनन करता है उससे परमेश्वर के उस रूप का संस्कार करता है जो अनिरूक्त और अपरिमित नाम है इससे प्रत्यक्ष ईश्वर में निराकारता साकारता पाई जाती है

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद के पुरुष सुक्त में भी ईश्वर के साकार रूप का कथन है देखिए यह मंत्र इसमें स्पष्ट लिखा है कि-

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलमं॥~ [ऋग्वेद १०/९०/१], [यजुर्वेद का ३१/१]

भावार्थ: वे प्रभु अन्नत सिरों, आँखों व पैरों वाले हैं, वे पुरे ब्राह्माण्ड को आवृत करके भी दशांगुल जगत् से परे रहते है

इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर में साकारता और निराकारता दोनों पाई जाती है।

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १४८,

"जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है, अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ, सगुण और निर्गुण हैं, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिस में केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है, वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान बलादि गुणों से सहित होने से सगुण रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है"

समीक्षक-- इस लेख से तो स्वामी जी का ही पक्ष बिगाड़ता है, जब इस प्रकार निराकार शब्द का अर्थ माना तब तुम्हारे तात्पर्य वाला निराकार शब्द का अर्थ नहीं जो मूर्तिमान को न बोधन करें, किन्तु दिव्य अलौकिक मूर्तिमान का बोधक भी निराकार शब्द हो सकता है जैसा कि सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि दिव्य अलौकिक गुण वाले का भी निर्गुण शब्द बोधक है, वैसे ही निराकार शब्द जब साकार का भी बोधक हो गया, तो निर्गुण शब्द के दृष्टांत में कोई विरोध नहीं, निराकार का आकार है, सर्वथा आकार शून्य का नाम निराकार कहोगें तो सरसर्व गुण शून्य का नाम निर्गुण हुए से दयानंद का मत भंग हो जाएगा, क्योकि सत्यार्थ प्रकाश में सर्व गुण शून्य का नाम निर्गुण नहीं माना इससे निराकार शब्द भी साकार का बोधक हो गया।

जब इस प्रकार निराकार की अविरोधी साकारता सिद्ध हो गई तो, **"स पर्य् अगाच् छुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धम् अपापविद्धम्"** इस मंत्र में **(अकायम्)** इस पद का अच्छी प्रकार समन्वय हो गया भौतिक मलिन काया करकें वर्जित हैं और बृहदारण्यक उपनिषद में लिखा है कि--

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च०। ~बृहदारण्यक उपनिषद{२/३/१}

ईश्वर के दो रूप हैं एक मूर्तिमान और एक अमूर्तिमान (एकं रूपं बहुधा य: करोति)? और एक रूप को जो बहुत प्रकार का करता है इस मंत्र से तथा औरों से ही सर्वकारण बीजस्थापन्न परमात्मा में साकारता इस प्रकार से प्रकट है।

॥अवतार प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १४०,

❝(प्रश्न) ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं, क्योंकि 'अज एकपात्', 'सपर्य्यागाच्छुक्रमकायम्' ये यजुर्वेद के वचन हैं, इत्यादि वचनों से परमेश्वर जन्म नहीं लेता।

पुनः पृष्ठ १४१ पर लेख है कि "और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता, जैसे कोई अनन्त आकाश को कहै कि गर्भ में आया वा मूठी में धर लिया, ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है, इस से न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता, वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उस का आना जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता, जाना वा आना वहां हो सकता है जहां न हो, क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा,

इसलिये परमेश्वर का जाना-आना, जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता"

समीक्षक-- स्वामी जी यहाँ ईश्वर को अज अकाय बताकर ईश्वर के अवतार होने में संदेह करते हैं तो, जीवात्मा भी तो अज और व्यापक श्रवण करी जाती है, फिर तो उसका भी जन्म न होना चाहिए, देखिए--

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्

नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥१८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते॥१९॥

अणोरणीयान्महतो महीया-

नात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको

धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥२०॥ ~कठोपनिषद

(विपश्चित्) सर्व का दृष्टा जीवात्मा, (सर्वस्य दृष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वानुभवः) इत्यादि वाक्यों से, आत्मा जन्म मरण से रहित है, यह स्वयं न तो किसी के द्वारा उत्पन्न होता है और न इसके द्वारा (कश्चित्) कोई भी उत्पन्न होता है वह तो अजन्मा नित्य एकरस वृद्धिरहित है, शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता, यदि कोई हनन कर्ता पुरुष हनन कर्ता आत्मचिंतन करता है, और यदि कोई हत हुआ आत्मा को हत चिंतन करता है, तो वे

दोनों अज्ञानी है वे दोनों ही आत्मा के यथावत स्वरूप को नही जानते, क्योकि यह आत्मान हनन करता है न हनन होता है,

जो इस जीव की हृदय गुहा अर्थात पंचकोशरूप गुफा में (निहित) स्थित है, यह आत्मा अणु से भी अणुतर है अर्थात दुर्लक्ष्य है, इसे अणुतर कहा परन्तु बड़े आकाशादि से महीयान् महत्तर है (धातु: प्रसादात्) ईश्वर की प्रसन्नता से, (अकतु:) विषयभोग संकल्प रहित पुरुष आत्मा को देखता है, तो आत्मा की महिमा देख शोक रहित होता है, देखिए योग शास्त्र के भाष्य में व्यास जी कहते हैं कि--

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः {यो०पा०१ सू०२}

चितिशक्तिपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च व्यास भाष्यम् अर्थ- (चितिशक्ति) जीवचेतन अपरिणामी है (अप्रतिसंक्रमा) क्रिया रहित है (दर्शितविषया) सर्व विषयों का द्रष्टा है शुद्ध और अनन्त व्यापक है इस प्रकार व्यास तथा कणाद ऋषि के मत से जीवचेतन व्यापक है और जीव का जन्म वे मानते हैं इससे व्यापक का जन्म नहीं होता यह कथन कैसे होगा? क्योकि व्यापक का जन्म व्यासादिक मानते हैं, यदि यह कहो की "हम तो युक्ति ही मानते हैं जन्म मरण आना जाना परिछिन्न पदार्थ में बन सकता है, इस कारण जीवात्मा का स्वरूप व्यापक नहीं मानते" इसका उत्तर, तब तो यह विचार कर्तव्य है विभू पदार्थ से भिन्न अणुपरिमाणवान् वा मध्यपरिमाणवान् होता है, आत्मा अणुपरिमाण है वा मध्यपरिमाण है, यदि कहो अणुपरिमाणवान् है तो सारे शरीर में शीतल जल संयोग से शीतस्पर्श की प्रतीत नहीं होनी चाहिए, क्योकि आत्मा को तुमने अणुपरिमाणवान् माना है, सो एक देश

में स्थित होकर शीत का ज्ञान कर सकता है, आत्मारहित अंगों में शीतस्पर्श का भान कैसे होगा?

(प्रश्न) आत्मा यद्यपि एक देश में हैं, तथापि जैसे कस्तूरी की गंध सर्वत्र विस्तृत होती है वैसे ही आत्मा का ज्ञानगुण सर्वत्र विस्तृत है, इससे शीतस्पर्श की प्रतीति सर्वत्र हो सकती है, अथवा जैसे सूर्य प्रभाव वाला द्रव्य है वैसे ही आत्मा भी प्रभावत् द्रव्य है।

(उत्तर) यह नियम है कि गुण अपने आश्रय को त्याग कर अन्यत्र गमन नहीं कर सकता क्योंकि गुण में क्रिया नही होती, और कस्तूरी के दृष्टांत में भी कस्तूरी के सूक्ष्म अवयव विस्तृत होते हैं, इसी कारण कस्तूरी कपूरादि द्रव्य रक्षक उसको बन्द कर किसी डिब्बे आदि में रखते हैं और जो वह खुलें रखें जाये तो वे उड जाते हैं, और प्रभा गुण नहीं किन्तु विरल प्रकाश प्रभा है, और घनप्रकाश सूर्य है, ऐसे ही आत्मा को मानने से ज्ञानरूप ही सिद्ध होगा, सो ज्ञान एकरस है, कहीं सघन और कहीं विरल ऐसा कहना बनता नहीं, यदि अनेकरस मानोगे तो अनित्यत्व प्रसक्ति होगी, और सर्वथा अणुवादी के मत में क्रिया तो जरूर माननी होगी, तो

{अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः॥}

इत्यादि गीता के वचनों से विरोध होगा, और आत्मा विनाशी क्रियावत्वत् घटवत् इस अनुमान प्रमाण से विनाशित्व प्रसक्ति तो अवश्य होगी, और मध्यम परिमाण पक्ष में स्पष्ट ही जन्यत्व विनाशित्वादि दोष है, आत्मा जन्य: मध्यमपरिमाणवत्वात् आत्मा विनाशी मध्यमपरिमाणवत्वात् घटवत् इस कारण अनादि जीवात्मा को मानकर मध्यम परिमाण कैसे मानोगे, क्योकि

मध्यम परिमाण मानने से जन्यत्व की प्रसक्ति होगी, इससे बिना इच्छा से भी व्यासादि महात्माओं के वचनानुसार आत्मा को व्यापक और अज अवश्य मानना पड़ेगा, तो जन्मशंका ईश्वरत् जीव में भी बन सकती है, तो फिर जीव का जन्म कैसे हो सकता है, और जब जीव का जन्म मानते हो तो ईश्वर का अवतार भी मानना होगा, जैसा कि वेदादि शास्त्रों से प्रमाण है देखिए यजुर्वेद--

प्रजापतिश् चरति गर्भे ऽ अन्तर् अजायमानो बहुधा वि जायते।

तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास् तस्मिन् ह तस्थुर् भुवनानि विश्वा॥~ यजुर्वेद {३१/१९}

(प्रजापति)- परमेश्वर, (गर्भे अन्त:)- गर्भ में प्रविष्ट होकर, (अजायमान:)- अजन्मा होते हुए भी, (बहुधा)- अनेक कारण रूप {राम, कृष्णादि रूपों} को, (चरति)- प्राप्त होकर, (विजायते)- उत्पन्न होता है, (धीरा:)- ज्ञानी महात्माजन गुणप्रधान पुरुष, (तस्य)- उस परमात्मा के, (योनिम्)- जन्म कारण को, (परिपश्यन्ति)- ज्ञान से सब ओर से देखते है,{अज्ञानीयों को उसका जन्म नहीं विदित होता}, (यस्मिन्)- जिस परमेश्वर में, (हविश्वाभुवनानि)- सब ब्राह्मण, (तस्थु)- स्थित है।

इसके अलावा श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है कि--

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

~श्रीमद्भगवद्गीता {४/६}

भावार्थ-- मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता- ४/७)

भावार्थ-- हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ (श्रीमद्भगवद्गीता- ४/८)

भावार्थ-- साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता- ७/२४)

भावार्थ-- बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भाव को न जानते हुए मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा को मनुष्य की भाँति जन्मकर व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

~(श्रीमद्भगवद्गीता- ७/२५)

भावार्थ-- अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित

अविनाशी परमेश्वर को नहीं जानता अर्थात मुझको जन्मने-मरने वाला समझता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता- ९/११)

भावार्थ : मेरे परमभाव को न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ संपूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योग माया से संसार के उद्धार के लिए मनुष्य रूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (श्रीमद्भगवद्गीता- १०/२)

भावार्थ : मेरी उत्पत्ति को अर्थात् लीला से प्रकट होने को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ।

पुनः प्रमाण वाल्मीकि रामायण से देखिए--

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।

शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥१॥

तमब्रुवन्सुरास्सर्वे०

त्वान्नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया॥२॥

राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेः प्रभोः

विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम्॥३॥

तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम्।

अवध्यं दैवतैर्विष्णो! समरे जहि रावणम्॥४॥

~{वाल्मीकि रामायण बा० का० पन्द्रहवां सर्ग}

देवताओं की स्तुति सुनकर भगवान विष्णु यज्ञ स्थल में आये, शंख चक्र गदा पद्म धारण किये पीले वस्त्र साक्षात् जगदीश्वर,॥१॥ भगवान से सब देवता बोले हे भगवन् आपको लोकों के हित के वास्ते नियुक्त करते हैं,॥२॥ कि राजा दशरथ के यहाँ आप अपने अंश सहित चार प्रकार से विभाग कर जन्म लो,॥३॥ मनुष्य रूप धारण कर बढ़े हुए लोक-कंटक देवताओं से अबध्य महापापी रावण का नाश कीजिये॥४॥

उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर अवतार लेता है।

॥सर्वशक्तिमान प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १३४,

❝(प्रश्न) ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं?

(उत्तर) है, परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जानते हो वैसा नहीं, किन्तु सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किञ्चित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।

पुनः चार पंक्तियों बाद यह लेख है कि "जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है तो हम तुम से पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयम् अविद्वान्, चोरी, व्यभिचारादि पाप कर्म कर और दुःखी भी हो सकता है?

जैसे ये काम ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव से विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना कि वह सब कुछ कर सकता है, यह कभी नहीं घट सकता, इसीलिए सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जो हम ने कहा वही ठीक है"

समीक्षक-- स्वामी जी का लेख पढ़कर तो ऐसा विदित होता है कि जैसे ईश्वर ने स्वामी जी से कर्ज लिया होगा, और एक तमस्सुक (ऋणपत्र) लिख दिया होगा, जिसके जरिये सत्यार्थ प्रकाश बना लिया और सर्वशक्तिमान का अर्थ अपना ही ठीक रखा है, और ग्रंथों का अशुद्ध जबकि ईश्वर उत्पत्ति पालन प्रलय जीवों के काम आदि में किसी प्रकार की सहायता नहीं लेता, तो इसके व्यतिरिक्त तारागणादि की रचना में जरूर सहायता लेता होगा, यह स्वामी जी के ही लेख से खुल सकता है, जैसे कि वेदार्थ में स्वामी जी से ही सलाह ली होगी, तथा आपने भूमिका भी नई गढ़ी, क्या वेद का अर्थ करना आपको ही आता था, और आपने यह भी कोई ईश्वर पर बड़ी ही कृपा करी कि सर्वशक्तिमान नाम तो रहने दिया, परन्तु अर्थ ऐसा किया जैसे कोई बंधुए का नाम स्वतंत्र रख दें, वा स्वतंत्र का नाम बंधुआ रख दें, स्वामी जी तुमने तो अपने जान वेदभाष्य भूमिका में ईश्वर को बांध ही लिया है और सत्यार्थ प्रकाश रूपी तमस्सुक की धमकी देते हो, कि खबरदार अवतारन लेना नहीं, नहीं तो नालिश कर दी जायेगी, यह अवतार ही दूर करने के वास्ते आपने उसकी अनन्त सामर्थ्य में धब्बा लगाया है,

और यह तो अजब ही बात कही कि "जो चाहे सो करें तो अपने आप को मार डालें, चोरी करें" धन्य हे! सत्यार्थ प्रकाश लिखने वाले तेरी बुद्धि, इस निर्बोधानंद का क्या ठिकाना कब क्या लिख दें? चोरी करना आत्मघात करना यह दोनों काम करने को तो

निर्बल भी सामर्थ्य है, सब ही मर जाने चाहिए सो ऐसा नहीं होता, किन्तु जो अज्ञानी है वो ही किसी वस्तु की इच्छा होने से और उसके न मिलने से दुखी हो प्राण खो देते है, पर ज्ञानी नहीं, निर्धन चोरी करते हैं, ईश्वर तो पूर्णज्ञानी है फिर भला वह आत्मघात क्यों करेगा? उसकी इच्छा मात्र से सब जगत् उत्पन्न हो जाता है, फिर वह पूर्णज्ञानी कौन से कारण से मरें? और नित्य का नाश नहीं होता, क्या आत्मा का कोई भी नाश कर सकता है? जब ईश्वर अजर अमर है प्रकाश रूप है अकाय है तो अपने को कैसे मारें, आत्मा के लक्षण तो सुनिये--

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः॥

~{श्रीमद्भगवद्गीता २/२३,२४}

अर्थ-- इस आत्मा को न कोई शस्त्र छेदन कर सकता है, न अग्नि इसे जला सकती है, न पानी इसे गला सकता है, और न ही वायु इसे सुखा सकता है, क्योकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, और स्थिर रहने वाला और सनातन है, जब आत्मा ऐसा है जिसका स्वरूप कुछ जाना नहीं जाता फिर कैसे उसका नाश हो सकता है? क्या कोई ईश्वर को आपने अपनी भांति मुर्ख समझा है जो सर्वशक्तिमान होने से अपने आपको मार डाले, तो वह शब्द ही क्यों रखा अलग कर दिया होता? इसी विद्या पर वेदभाष्य की रचना करी थी, सर्वशक्तिमान के अर्थ है कि सब प्रकार की जिसमें ताकत हो, जो चाहे सो कर सके,

परन्तु आपसे कदाचित ईश्वर ने वार्ता करी हो, और बता दिया हो कि सर्वशक्तिमान का प्राचीन अर्थ अशुद्ध है, यह अर्थ ठीक है परन्तु स्वामी जी वेद तो यह कहते हैं--

न तं विदाथ य ऽ इमा जजानान्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव।

नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप ऽ उक्थशासश् चरन्ति॥

~यजुर्वेद {१७/३१}

हे मनुष्यों, (यः)- जो ईश्वर, (इमा)- इस भुवन और सब प्राणियों को, (जजाना)- उत्पन्न करता हुआ, तथा (युष्माकम्)- तुम्हारे सबके, (अन्तरं)- मध्य, (अन्यत्)- अन्तर्यामी रूप से स्थित, (वभूव)- हुआ, (तं)- उस ईश्वर को, (यूयं)- तुम, (नविदाथ)- नहीं जानते क्योकि, (नीहारेण)- अज्ञान के व्यापक अंधकार से घिरे, (च)- तथा, (जल्प्या)- केवल वार्ता या विवाद में लगे हुए मात्र प्राण-रक्षण व पोषण की चिंता से संतप्त लोग उस परमेश्वर के सम्बन्ध में व्यर्थ विवाद करते हुए विचरते है, उसका साक्षात्कार नहीं कर पाते।

अब देखिए जिसके जानने को वेद कहता है कि तुम नहीं जानते फिर दयानंद उसको और उसकी सर्वशक्ति को कैसे जान गये? जो योगियों को भी अगम्य है! और देखिये--

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि॥ ~यजुर्वेद {३१/३}

(अस्य)- इस परमेश्वर की, (महिमा)- ऐश्वर्य विभूति, (एतावान्)- इतनी ही नहीं, (च)- किन्तु, (पुरुषः)- वह परमात्मा, (अतः)- इस संसार से, (ज्यायान्)- अतिशय अधिक है जिस कारण, (विश्वा)- सब, (भूतानि)- पृथिव्यादि चराचर जगत्, (अस्य)- इस परमात्मा का, (पादः) चतुर्थांश अर्थात एक चौथाई है, और (त्रिपाद्)- शेष

तीन भाग में, (अमृतम्) नाशरहित, (दिवि) प्रकाशमान मोक्ष स्वरूप आप है।

इससे विदित होता है कि जो कुछ यह आकाश पाताल सम्पूर्ण तारामंडल सहित है यह सब तो मात्र उसकी महिमा का चौथाई है, जिसके पदार्थों का ही अब तक लाखों वर्षों में भेद नहीं जाना जा सका, इससे तीनगुनी महिमा उसके निज लोक में स्थित है, और देखिए श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस प्रकार कथन है कि **(बुद्धेः परतस्तु सः)** कि वह परमेश्वर बुद्धि से परे है जब वह बुद्धि से परे है तो भला उसके कार्य पूर्णतः कौन जान सकता है? फिर उस अनन्त परमात्मा की महिमा और सर्वशक्तिमानी दयानंद ने कैसे जान ली? और उस अनन्त ऐश्वर्य वाले परमात्मा का सृष्टि क्रम कैसे जाना? जो कह देते हो कि यह सृष्टि क्रम विरुद्ध है, देखिये वह सब कुछ कर सकता है यह सारा संसार और जो कुछ भी है यह सब उसकी महिमा से उत्पन्न हैं देखिये ऋग्वेद में इस प्रकार कथन है कि--

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

~ऋग्वेद {१०/१२९/१}

(तदानीं)- महाप्रलय काल में, (असत्)- अपरा माया, (न)- नहीं थी, (सत्)- जीव भी, (नो)- नहीं, (आसीत्)- था, (रजः)- रजोगुण भी, (न)- नहीं, (आसीत्) था, (यत्)- जो, (व्योम)- आकाश तमोगुण, (अपरः)- सतोगुण, (नो)- नहीं था, (कुहकस्य)- इन्द्रजाल रूप, (शर्मन्)- ब्रह्मांड के चारों ओर जो, (आवरीवः)- तत्व समूह का आवरण होता है, (तत्) (किं) (नकिमप्यासीत्)- वह भी नहीं

था, (गहनंगभीरं)- गहन गंभीर, (अंभः)- जल, (किं आसीत्)- क्या था? अर्थात नहीं था

स्वामी जी कान खोलकर सुनिये और अपने अनपढ़ चैलों को भी बताइये उस समय तुम्हारे नित्य माने पदार्थ भी नही थे, और सुनिये--

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ ~ऋग्वेद {१०/१२९/२}

(तर्हि)- उस समय, (मृत्यु)- मृत्यु, (न) नही, (आसीत्)- थी, और (अमृतं)- अमृतत्व अर्थात जीवन भी, (न)- नही, (आसीत्)- था, (रात्र्याः अह्नः)- रात और दिन का, (प्रकेतः)- ज्ञान, (न आसीत्)- नही था, सिर्फ (स्वधया)- अपनी परा शक्ति से, (एकं)- अभिन्न एक, (तत्)- ब्रह्म ही, (आसीत्)- था, (तस्मात् ह)- उस सर्वशक्तिमान से, (अन्यत्)- अन्य, (किंच)- और कुछ भी, (न)- नही, (आसीत्)- था।

अब विचारने की बात है कि एक ब्रह्म के अलावा जब कुछ भी नहीं था, और फिर सब कुछ उससे ही उत्पन्न हुआ, तो वह सर्वशक्तिमान क्यों नहीं? देखिये वह सब कुछ करता है स्वयं अवतार भी धारण करता है यथाहि--

य ऽ इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर् होता न्य् असीदत् पिता नः।

स ऽ आशिषा द्रविणम् इच्छमानः प्रथमच्छदवराँ ऽ आ विवेश॥ ~यजुर्वेद {१७/१७}

(यः)- जो, (ऋषि)- अतीन्द्रेयदृष्टा सर्वज्ञ, (इमाः)- इस, (होता)- संसार रूप होम का कर्ता, (नः)-हमारा, (पिता)- जनक उत्पन्न करने वाला परमात्मा, (विश्वा)- सब, (भुवनानि)- लोक लोकान्तरों

को, (जुह्वत)- प्रलयकाल में संहार करता हुआ, (न्यसीद)- अकेला ही स्थित हुआ, (स:)- वह परमेश्वर, (प्रथमच्छत)- प्रथम एक अद्वितीयरूप में प्रविष्ट होता, (आशिषा)- फिर अपने सामर्थ्य से सृष्टि रचना की इच्छा से, (द्रविणम्)- इस द्रव्यरूप जगत को, (इच्छमान:)-इच्छा करता हुआ, (अवरान्)- मायाविकार व्यष्टि समष्टि देहों में, (आविवेश)- अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हुआ।

अब समझ लीजिए कि वह क्या-क्या कर सकता है? वह सब कुछ करने को सामर्थ्य है इस श्रुति से उसकी सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है इससे सिद्ध होता कि वह सब लोक लोकान्तरों को उत्पन्न करने वाला सर्वशक्तिमान ईश्वर सब कुछ कर सकता है।

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १३९,

“अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं पुराणम्॥
~शवेताश्वतर उपनिषद {३/१९}

परमेश्वर के हाथ नहीं परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सब का रचन, ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सब से अधिक वेगवान्; चक्षु का गोलक नहीं परन्तु सब को यथावत् देखता; श्रोत्र नहीं तथापि सब की बातें सुनता, अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है और उस को अवधिसहित जाननेवाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सब से श्रेष्ठ सब में पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
~शवेताश्वतर उपनिषद {३/८}

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य और उस को करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उस के तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तमशक्ति अर्थात् जिस में अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उस में सुनी जाती है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता। इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उस में क्रिया भी है"

समीक्षक-- अब स्वामी धूर्तानंद जी की धूर्तता आप लोगों को कहाँ तक दिखायें स्वामी जी तो मन में ठान कर बैठे हैं कि अर्थ का अनर्थ ही करना है प्रथम तो यह देखिये कि ऊपर लिखी श्रुति में स्वामी जी ने कितने पाठभेद किये हैं **(स वेत्ति वेद्यं)** के स्थान पर **'विश्वं'** यह पद लिखा है, और **(महान्त)** के स्थान पर **'पुराण'** यह पद लिखा, और **(न च तस्यास्ति)** इसमें से अस्ति पद को त्यागकर स्वयं निर्मित कल्पित श्रुति का अर्थ कर लोगों को भ्रमित करने का प्रयास किया है, जिस कारण इस श्रुति का आशय ही बदल गया, देखिये सही श्रुति इस प्रकार है--

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥३/१९॥

अर्थ यह है कि वह हस्तपाद उपाधि सहित होकर वेगवान तथा ग्रहण करता है, परन्तु स्वरूप में हस्त पाद उपाधि रहित है, इसी रीति से चक्षुः कर्ण रहित होते हुए अर्थात आखँ और कान के बिना भी, चक्षुः कर्ण उपाधि सहित होकर देखता तथा सुनता है, अतएव आत्मा वेद्य वस्तु को जानने वाला है, उसका जानने वाला दूसरा नहीं स्वयं प्रकाश होने से उस महान पुरुष सर्व नामरूप प्रपंच से आगे होने वाले को वेद वचन कथन करते हैं,

भाव यह की जैसे आत्मा स्वरूप में हस्त पाद रहित होते हुए भी जन्म लेकर हस्त पाद सहित होकर वेगवान और ग्रहण करने वाला होता है, चक्षुः कर्ण रहित होते हुए अर्थात आखँ और कान के बिना भी देखता व सुनता है उसी प्रकार परमात्मा अपने कार्यों की सिद्धी हेतु साकार रूप धारण कर सृष्टि रचना करता तथा अवतार भी लेता है, और ईश्वर अवतार लेता है वेदादि शास्त्रों से यह हम पूर्व ही सिद्ध कर आये हैं।

अब एक दृष्टि जरा स्वामी जी के श्रुति अर्थ पर डालकर देखें, स्वामी जी ने यह जो लिखा है कि "परमेश्वर के हाथ नहीं परन्तु शक्तिरूप हाथ से सबका रचन ग्रहण करता है" तो यहाँ स्वामी जी से यह पूछना है कि शक्ति परमात्मा से भिन्न है वा अभिन्न? या फिर भिन्न अभिन्न से विलक्षण विचित्रता वाली अनिर्वचनीय है, जो भिन्न कहो तो अनादि ही मानना होगा, तो तुम्हारे मानें हुए तीन पदार्थ जो नित्य है, ईश्वर, जीव और प्रकृति **{अष्टम समुल्लास, पृष्ठ १५५}** में एक चौथा पदार्थ शक्ति भी होगी, जो सादि मानो तो सादिशक्ति रूप शरीर से ईश्वर शरीरी (साकार) हो जायेगा, इससे ईश्वर का शरीर सादि नहीं है यह कथन असंगत होगा, और जो शक्ति को ईश्वर से अभिन्न मानों तो शक्ति जड़ है, और जड़ चेतन का अभेद वास्तव में बाधित है, और जो भिन्न अभिन्न से विलक्षण मानते हो तो उससे भिन्न जड़ प्रकृति का मानना निष्फल है, क्योकि ऐसा अद्भुत शक्तिमान ईश्वर जड़ प्रकृति की सहायता नहीं चाहता वह अपनी सर्वशक्तिमता से सब करने में सक्षम है, इसी प्रकार दुसरी श्रुति कहती है उसे कार्य और कारण की कुछ आवश्यकता नहीं है वह अपनी इच्छा से जो चाहे सो कर सकता है।

॥ईश्वरीय स्तुति प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १३५,

❝क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति, प्रार्थना करनेवाले का पाप छुड़ा देगा?

(उत्तर) नहीं,

(प्रश्न) तो फिर स्तुति प्रार्थना क्यों करना?

(उत्तर) उनके करने का फल अन्य ही है, स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उस के गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।

पुन: पृष्ठ १३५ पर ,,,,और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

पुन: पृष्ठ १३७ पर ,,,,ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उस को स्वीकार करता है कि जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझ को सब से बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जायँ इत्यादि,

पुन: पृष्ठ १३७ पर ,,,,ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा-हे परमेश्वर! आप हम को रोटी बना कर खिलाइये, मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती बाड़ी भी कीजिये, इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं वे महामूर्ख हैं

पुनः पृष्ठ १४१ पर,,,,,(प्रश्न) ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं, क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उस का न्याय नष्ट हो जाये और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उन को पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये, जैसे राजा अपराधियों के अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें, क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उन को भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध करने से न डर कर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे"

समीक्षक-- यहाँ तो स्वामी जी सारी उपासना स्तुति की चटनी कर गये, स्वामी जी के मतानुसार अब ईश्वर की प्रार्थना भी मत करों क्योकि वह हमें उसका फल देता नहीं, पाप क्षमा करता नहीं फिर ईश्वर का अस्तित्व स्वीकारने से क्या लाभ? जब उसका नाम जपना भजन करना वृथा हुआ, तो बिना प्रयोजन तो मन्दबुद्धि पुरूष भी कोई काम नहीं करते फिर ईश्वर का नाम स्मरण भी निरर्थक है, तो सब कर्मों का फल भी निरर्थक होगा, लो कर्मकांड भी समाप्त कर दिया, जब ईश्वर ही जो सबसे श्रेष्ठ है स्तुति प्रार्थना से पाप दूर नहीं करता, तो फिर ऐसा कौन सा शुभकर्म है जिसके करने से मनुष्य दुख से छूटें? जबकि श्रेष्ठ कर्म करने से श्रेष्ठ फल और बुरा कर्म करने से अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है, तो उस पवित्रात्मा परमेश्वर का स्मरण उपासना ध्यान करने वाला पवित्र क्यों नहीं होगा? **(जो यह कहो कि उस के गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव को सुधारें)** तो जब उसका नाम कुछ गुण रखता है तभी तो मनुष्य उसके गुण कर्म

से अपने गुण कर्म सुधार सकते हैं नहीं तो किस प्रकार सुधार सकते हैं? यदि स्वयं ही सुधार सकता तो उसके नाम स्मरणादि की आवश्यकता क्या थी? जब उसके नाम से गुण कर्म स्वभाव सुधरते है तो पवित्र क्यों नहीं हो सकते? जो पाप दूर नही हो सकते तो गुण कर्म स्वभाव भी नहीं सुधर सकते और ईश्वर में कर्म ही क्या है? जिसके सदृश वह अपने गुण कर्म सुधारें, और गुण कर्म ही सुधारने है तो किसी भले व्यक्ति के चरित्र देख अपने कर्म सुधार सकता है, और जब ईश्वर को निराकार मानते हो तो उसके कर्म क्या होंगे, मनुष्य उसके किस कर्म को देखकर अपने गुण कर्म सुधारें, इससे तो आप भगवान श्री रामचंद्र को श्रेष्ठ पुरुष मानते हो उनके सब ही कर्म श्रेष्ठ थे, उन्हीं का नाम स्मरण कर मनुष्य अपने गुण कर्म और स्वभाव सुधार सकते हैं, और जब आप कहते हैं कि प्रार्थना करने से अंहकार दूर होगा, सहायता प्राप्त होगी तो क्या उसके पाप दूर न हुए, और जब ईश्वर ने सहायता करी तो फिर पाप कहां रहा? पाप तो दूर हो गया, बस ईश्वर ने सहायता की तो भक्तों के मनोरथ पूर्ण हो गये, और पाप से छूट सुख के भागी हुए, सुख जभी होता है जब पाप दूर होते हैं, इस सहायता करने से तो दयानंद का लेख ही उनके लेख का खंडन करता है, और उपासना से परब्रह्म से मेल होना भी आपने न जाने क्या सोचकर लिखा है? जो मेल हुआ तो फिर पृथक होना असंभव है, जो जल एक बार गंगा जल में पड़ गया हजार कोशिशों के बाद भी वह फिर से अलग नहीं हो सकता, मेल होने उपरांत फिर मुक्ति से नही लौट सकता है, और निराकार ईश्वर का साक्षात्कार किस प्रकार हो सकता है यह नहीं लिखा? ईश्वर के प्रत्यक्ष होने के आपने विशेष अर्थ नहीं खोलें, क्या वह इन्द्रियों के सामने हो जाता है? क्योकि जो आकार वाला होगा वही इन्द्रियों के सामने होगा, इससे तो यही

सिद्ध होता है कि ईश्वर साकार है, भला निराकार प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है? और जो तुमने यह लिखा है कि **(जो भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है)** यह तो हूतीयों की भांति बड़ा ही उल्टा लेख लिखा है तुमने, क्योकि ईश्वर की प्रार्थना तो सकाम इसी से करी जाती है कि यह काम हमारे सामर्थ्य से बाहर है इसलिए हे ईश्वर तू हमारी सहायता कर, जो अपना चरित्र सुधारने में असमर्थ है वा और किसी कार्य में वही तो प्रार्थना कर सहायता चाहते हैं कि ईश्वर हमारा चरित्र सुधारने में सहायता कर हमारा काम बने ऐसी कृपा करों, और जो जिस काम के करने में स्वयं समर्थ होता है वह कब दूसरे की सहायता चाहए है, जो अपना चरित्र सुधारने में स्वयं समर्थ है वह उसमें ईश्वर की सहायता क्यों चाहेगा, देखिए पहले तो लिखा कि अपने गुण कर्म सुधारने को ईश्वर की प्रार्थना करनी और अब लिखा कि अपने कर्म सुधारों बिन सुधारें स्तुति प्रार्थना करना व्यर्थ है यह परस्पर विरुद्ध लेख सिवाय स्वामी जी जैसे हूतियों के कौन बुद्धिमान मान सकता है? और **(ऐसी प्रार्थना कभी न करें कि जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश करों, मुझे सबसे अधिक करो इत्यादि)** तो क्या प्रार्थना में स्वामी जी के यंत्रालय की वृद्धि हो ऐसी इच्छा प्रकट करें, देखिए शतश: वेद मंत्र इसी आशय से पूर्ण है हे ईश्वर हमारे पाप दूर करें, हमारे शत्रुओं का नाश हो, हमें श्रेष्ठ आचरण वाला बनाओ, हमारी रक्षा करों इत्यादि क्या वेदों में यह मिथ्या प्रलाप है, नहीं तो कह दो कि किसने मिला दिया है, बस यही कसर रह गई है यदि तुम्हारी चलती तो केजरीवाल की भांति अपने प्रतिकूल मंत्रों पर जरूर हरताल फेरते, लेकिन फिर भी अर्थ बदलकर अनर्थ कर ही दिया, और यह क्या हूतियों की भांति लिखा है कि **(हे परमेश्वर! आप हम को**

रोटी बना कर खिलाइये, मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती बाड़ी भी कीजिये) ऐसा प्रतित होता है जैसे यह पुस्तक लिखते समय अपनी बुद्धि रखकर कहीं भूल गये हो, या पुस्तक लिखते लिखते भूख लग गई, या कूड़े कचरे के बीच बैठकर लिख रह थे, या फिर कपड़े मैले होने के कारण दुर्गंध आ रही थी जिससे परेशान होकर लिख दिया होगा कि हे परमेश्वर वस्त्र धो दीजिए, क्योकि ऐसी बालक बुद्धि वाली बात सिवाय तुम्हारे किसी और को नहीं सूझती, भला लिखने से पूर्व यह तो सोचा होता कि जिसके भौतिक शरीर नहीं वह कैसे ऐसा काम कर सकेगा? जो यह कहो की यह बात औरों के लिए कहीं है तो सिवाय आपके ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें हमने तो किसी के मुख से आज तक नहीं सुनी, भला अपने उत्पन्नकर्ता संकटमोचन से कोई भी मनुष्य ऐसा कह सकता है, साधारण मालिक के सामने तो जवाब नहीं दिया जाता और उस परमेश्वर से यह ढीठता, शायद ऐसी प्रार्थना तुमने ही की होगी, जब तुम्हारे वस्त्र मैले, सामने कूड़ा कचरा पड़ा होगा, कि ईश्वर हमारे यह दोनों काम कर दें, जब उसने नहीं किया तो क्रोधित होकर लिख दिया, कि उसकी प्रार्थना मत करों कुछ लाभ नहीं, मैंने करके देख लिया, फिर आगे लिखा है कि **(कि जो परमेश्वर के भरोसे बैठे रहते हैं वो मूर्ख हैं)** देखिये इस नास्तिकता को कि ईश्वर का भरोसा करना मूर्खता है, अब जब ईश्वर का भरोसा करना मूर्खता है तो जिसका भरोसा ही नहीं उसके गुण कर्म से क्या लाभ? और नास्तिकता क्या होती है? इसी को अनीश्वरवादी कहते हैं, सहस्रों ऋषि मुनि आरण्य में ईश्वर के भरोसे जप तप करते थे और आज भी करते हैं और वहीं परमात्मा उनकी रक्षा करता है, क्या स्वामी जी तुम्हारे भंडार से सीधा जाया करता था जो भोजन कर ऋषि मुनि तप किया करते थे, तुम्हें देना बुरा लगे था जो लिख दिया कि

ईश्वर के भरोसे रहना वृथा है, तुम लिखते हो कि वह भक्तों के भी पाप क्षमा नहीं करता यदि करें तो सब पाप करने लग जावें, तो सुनिये वह दुष्टों के पाप क्षमा नहीं करता, भक्तों के अवश्य करता है, क्योकि वह जानता है कि यह पाप उससे अनजाने में हुआ है और अब प्रतिज्ञा करता है कि आगे से नही होगा, और करेगा भी नहीं उसके पाप ईश्वर निश्चय क्षमा करेगा, वह प्रार्थना ही उसका प्रायश्चित है और जो दुष्ट हैं मन में पाप और ऊपर से बने भक्त वंचक उनका पाप कभी क्षमा नहीं होगा, जो भला व्यक्ति होता है उसके अनजाने अपराध को तो राजा भी क्षमा कर देता है, जो अन्त:करण से शुद्ध है और प्रेम से ईश्वर का स्मरण करते हैं उनके पाप भी क्षमा होते हैं, और दुष्टों को यथावत दंड देता है, इसी का नाम न्याय है, जो दुष्ट हैं उन्हें दंड और जो दया योग्य है उन पर दया करना यही न्याय है, देखिए शत्रु निवृत्ति अपनी उन्नति आदि की प्रार्थना भी वेदों में है,

ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः।

आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥४॥

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम्।

आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥७॥

~ऋग्वेद {म•१/ सु• २९/ मं• ४-७}

हे प्रभु! हमारे शत्रु सोते रहें और मित्र जागरणशील हो, हमारा अशुभ चिन्तन करने वाले शत्रुओं का नाश करें, हिंसको का नाश करें, हे ऐश्वर्यशाली इन्द्रदेव! हमे सहस्त्रो श्रेष्ठ गौएँ और घोड़े प्रदान करके संपन्न बनायें॥४-७॥

॥पाप क्षमा मांगना॥

त्वं नः पाह्यंहसो जातवेदो अघायतः।

रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे॥ ~ऋग्वेद {६/१६/३०}

हे अग्ने! स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा, हमको पाप से मुक्त करों, हे स्थितियों के स्वामी अग्निदेव, शत्रुओं से हमारी रक्षा करें।

रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः सुमख प्रीणानः।

प्रति ष्फुर वि रुज वीड्वंहो जहि रक्षो महि चिद्वावृधानम्॥

~ऋग्वेद {४/०३/१४}

हे परमेश्वर! आप हम सबके संरक्षक होकर प्रसन्नतापूर्वक रक्षण साधनों द्वारा हमारी रक्षा करें और हमें तेजस्वी बनाये, आप हमारे भूलवश हुए अपराधों (पापों) को विनिष्ट कर, बढ़ी हुई असुरी शक्तियों का नाश करें।

यद् ग्रामे यद् अरण्ये यत् सभायां यद् इन्द्रिये।

यद् एनश् चकृमा वयम् इदं तद् अव यजामहे स्वाहा॥

~यजुर्वेद {३/४५}

गांव में रहते हुए हमने (उपद्रव जन्य) जो पाप किया, वन में रहकर मृगया-रूप जो पाप किया, तथा सभास्थल पर (असत्य भाषण, श्रेष्ठ पुरुषों के तिरस्कार जन्य) जो पाप किया, और जिह्वा आदि इन्द्रियों द्वारा मिथ्याचरण रूप जो पाप हमसे बन गया है उन सभी पापों के नष्ट करने के लिए यह आहुति देता हूँ। और देखिये--

अग्ने नय सुपथा राये ऽ अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्य् अस्मज् जुहुराणम् एनो भूयिष्ठां ते नम ऽ उक्तिं विधेम॥

~यजुर्वेद {४०/१६}

इसके अर्थ सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ १३७ पर स्वयं स्वामी जी ने यह लिखा है कि "हे सुख के दाता स्वप्रकाशस्वरूप सब को

जाननेहारे परमात्मन्! आप हम को श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये और जो हम में कुटिल पापाचरणरूप मार्ग है उस से पृथक् कीजिये, इसीलिये हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति करते हैं कि हम को पवित्र करें"

यह स्वामी जी का अर्थ ही इस बात को सिद्ध करता है कि ईश्वर पाप दूर करता है अब यहाँ बुद्धिमान विचारें कि दयानंद के इस लेख से स्वयं उनका ही लेख खंडित होता है या नहीं, देखिये--

स नो बन्धुर् जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यत्र देवा ऽ अमृतम् आनशानास् तृतीये धामन्न् अध्य् ऐरयन्त॥
~यजुर्वेद {३२/१०}

(स:)- वह परमेश्वर, (न:)- हमारा, (बन्धु:)- विविध प्रकार की सहायता रक्षा ादि करने से बन्धु है, (स:)- वह, (जनिता)- हमारा उत्पन्नकर्ता, (विधाता)- विधाता मालिक पिता है, (स:)- वह, (विश्वा)- सब लोकों, (भुवनानि)- प्राणि और, (धामानि)- स्थानों, (वेद)- जानने वाला है, (देवा:) देवता, (यत्र)- जिस ईश्वर में, (अमृतम्)- मोक्ष प्रापक ज्ञान को, (आनशान:)- प्राप्त करते, (तृतीये धामन्)- ऐसा वह परमेश्वर स्वर्ग रूप तृतीया धाम है।

जब वह हमारा बन्धु उत्पन्नकर्ता पालनकर्ता है तो हम उस पर भरोसा क्यों न करें, और क्यों न वह हमको फल देगा, स्वामी जी लिखते हैं कि ईश्वर की स्तुति करना भांड का काम है और उसकी स्तुति करना उसका भरोसा करना व्यर्थ बताते हैं यह दयानंद की नास्तिकता नहीं तो क्या है? स्तुति करना भी कर्म है और जब ककर्म है तो अवश्य उसका कुछ फल होगा, स्तुति करना कभी व्यर्थ नहीं हो सकता, वेदों में शतश: प्रार्थना विद्यमान हैं।

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १४०,

❝परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है❞

समीक्षक-- यद्यपि यह हम पूर्व ही सिद्ध कर आये हैं कि ईश्वर जगत का उपादान कारण है परन्तु स्वामी जी ने इसे बार-बार लिखा है इसलिए एक बार फिर से वेदादि शास्त्रों से आपको दिखाते हैं जिससे यह विदित हो जायेगा कि परमेश्वर जगत् का उपादान कारण है प्रथम वेद से प्रमाण लिखते हैं देखिये--

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

~ऋग्वेद {१०/१२९/१}

(तदानीं)- महाप्रलय काल में, (असत्)- अपरा माया, (न)- नहीं थी, (सत्)- जीव भी, (नो)- नहीं, (आसीत्)- था, (रजः)- रजोगुण भी, (न)- नहीं, (आसीत्) था, (यत्)- जो, (व्योम)- आकाश तमोगुण, (अपरः)- सतोगुण, (नो)- नहीं था, (कुहकस्य)- इन्द्रजाल रूप, (शर्मन्)- ब्रह्मांड के चारों ओर जो, (आवरीवः)- तत्व समूह का आवरण होता है, (तत्) (किं) (नकिमप्यासीत्)- वह भी नहीं था, (गहनंगभीरं)- गहन गंभीर, (अंभः)- जल, (किं आसीत्)- क्या था? अर्थात नहीं था

स्वामी जी कान खोलकर सुनिये उस समय तुम्हारे नित्य माने पदार्थ भी नही थे, और सुनिये-

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

~ऋग्वेद {१०/१२९/२}

(तर्हि)- उस समय, (मृत्यु)- मृत्यु, (न) नही, (आसीत्)- थी, और (अमृतं)- अमृतत्व अर्थात जीवन भी, (न)- नही, (आसीत्)- था, (रात्र्या: अह्न:)- रात और दिन का, (प्रकेत:)- ज्ञान, (न आसीत्)- नही था, सिर्फ (स्वधया)- अपनी परा शक्ति से, (एकं)- अभिन्न एक, (तत्)- ब्रह्म ही, (आसीत्)- था, (तस्मात् ह)- उस सर्वशक्तिमान से, (अन्यत्)- अन्य, (किंच)- और कुछ भी, (न)- नही, (आसीत्)- था।

अब विचारने की बात है कि एक ब्रह्म के अलावा जब कुछ भी नहीं था, और फिर सब कुछ उससे ही उत्पन्न हुआ, तो परमेश्वर जगत् का उपादान कारण क्यों नहीं, और सुनिये--

य ऽ इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर् होता न्य् असीदत् पिता नः।

स ऽ आशिषा द्रविणम् इच्छमानः प्रथमच्छदवराँ ऽ आ विवेश॥

~यजुर्वेद {१७/१७}

(य:)- जो, (ऋषि)- अतीन्द्रेयदृष्टा सर्वज्ञ, (इमा:)- इस, (होता)- संसार रूप होम का कर्ता, (न:)-हमारा, (पिता)- जनक उत्पन्न करने वाला परमात्मा, (विश्वा)- सब, (भुवनानि)- लोक लोकान्तरों को, (जुह्वत)- प्रलयकाल में संहार करता हुआ, (न्यसीद)- अकेला ही स्थित हुआ, (स:)- वह परमेश्वर, (प्रथमच्छत)- प्रथम एक अद्वितीयरूप में प्रविष्ट होता, (आशिषा)- फिर अपने सामर्थ्य से सृष्टि रचना की इच्छा से, (द्रविणम्)- इस द्रव्यरूप जगत को, (इच्छमान:)-इच्छा करता हुआ, (अवरान्)- मायाविकार व्यष्टि समष्टि देहों में, (आविवेश)- अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हुआ।

अब क्योकि यह द्रव्यरूप जगत परमेश्वर से ही उत्पन्न हुआ इससे स्वामी जी का सिद्धांत भ्रष्ट हो जाता है और इस श्रुति से

यह सिद्ध हो जाता है कि परमेश्वर जगत् का उपादान कारण है, और सुनिये--

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।

स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥
~श्वेताश्वतर उपनिषद {६/९}

इस आत्मा का लोक में न तो कोई स्वामी है और न ही कोई शिक्षक है, न उसका कोई लिंग है वही कारण है वही ईश है उसका कोई उत्पन्न कर्ता वा अधिपति नहीं है अर्थात सब कुछ वही है और जो कुछ भी है उससे ही है, इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर जगत् का उपादान कारण है।

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १४८,

❝ अथोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति। द्वितीयाद्वै भयं भवति॥ ~बृहदारण्यक उपनिषद {१/४/२}

स्वामी जी इसका अर्थ करते हैं कि, जो जीव परमेश्वर का निषेध वा किसी एक देश, काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने वा उस की आज्ञा और गुण, कर्म, स्वभाव से विरुद्ध होवे अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे उस को भय प्राप्त होता है❞

समीक्षक-- अब क्योकि स्वामी जी ने कभी उपनिषद का पाठ ही नहीं किया तो उसके बारे में बात करना ही व्यर्थ है, जरा कोई स्वामी धूर्तानंद जी यह पूछे कि इस श्रुति में उन्होंने जीव परमेश्वर निषेध, देशकाल परिछिन्न गुण कर्म स्वभाव कहाँ से लिख दिया, स्वामी जी का यह कपोल कल्पित अर्थ किन पदों से सिद्ध होता है स्वामी जी के किये सभी अर्थ मिथ्या स्वामी जी के कपोल

भंडार से निकले हैं, इसका अर्थ यही है कि जो आत्मा से पृथक देखता है उसी को भय होता है जैसे स्वामी जी को मृत्यु का भय हुआ था जिस कारण उन्होंने मृत्यु से बचने उससे छूपने के लिए गृह त्याग किया जो उनके लिखें आत्मचरित से ही सिद्ध होता है।

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १४९,

“(प्रश्न) ईश्वर में इच्छा है वा नहीं।

(उत्तर) ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं, किन्तु ईक्षण अर्थात् सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है”

समीक्षक-- धन्य हे! स्वामी जी, जैसे गुरु वैसे चैले, ईश्वर में इच्छा क्यों नहीं यदि इच्छा नहीं होती तो यह सृष्टि कहाँ से आ गई यदि बिना इच्छा के अपने आप ही सब जगत की रचना हो गई तो ईश्वर की आवश्यकता क्या है? सर्वप्रथम अनीश्वरवादी बने, और अब तो बौद्ध मत ही में घुस गये धन्य हे आपकी बुद्धि! ईश्वर में इच्छा है देखिये प्रमाण--

य ऽ इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर् होता न्य् असीदत् पिता नः।

स ऽ आशिषा द्रविणम् इच्छमानः प्रथमच्छदवराँ ऽ आ विवेश॥

~यजुर्वेद {१७/१७}

(यः)- जो, (ऋषि)- अतीन्द्रेयदृष्टा सर्वज्ञ, (इमाः)- इस, (होता)- संसार रूप होम का कर्ता, (नः)-हमारा, (पिता)- जनक उत्पन्न करने वाला परमात्मा, (विश्वा)- सब, (भुवनानि)- लोक लोकान्तरों को, (जुह्वत)- प्रलयकाल में संहार करता हुआ, (न्यसीद)- अकेला

ही स्थित हुआ, (स:)- वह परमेश्वर, (प्रथमच्छत)- प्रथम एक अद्वितीयरूप में प्रविष्ट होता, (आशिषा)- फिर अपने सामर्थ्य से सृष्टि रचना की इच्छा से, (द्रविणम्)- इस द्रव्यरूप जगत को, (इच्छमान:)-इच्छा करता हुआ, (अवरान्)- मायाविकार व्यष्टि समष्टि देहों में, (आविवेश)- अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हुआ, और सुनिये-

इस मंत्र से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर में इच्छा है अगले समुल्लास में इस विषय पर और लिखेंगे।

॥वेदप्राप्ति प्रकरण॥

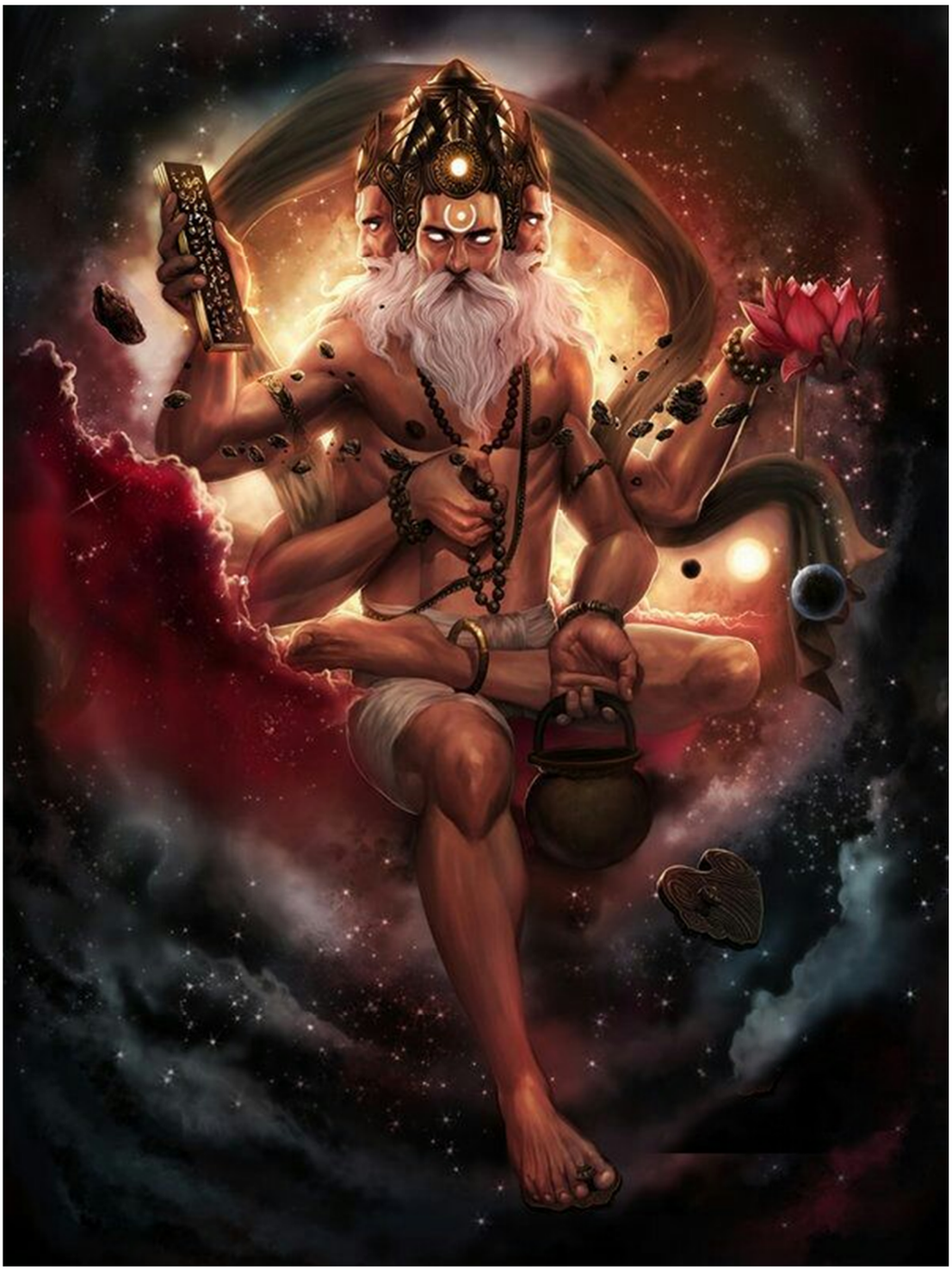

सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १४९,

“जीवों को अन्तर्यामीरूप से (वेदों) का प्रकाश किया है

पुनः पृष्ठ १५० पर प्रश्न सम्बन्ध से लिखा है कि, किन के आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया?

(उत्तर) अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥ ~शत० {११/४/२/३}

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया।

(प्रश्न) यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥ - यह उपनिषत् का वचन है {श्वे० उप० ६/१८}

इस वचन से ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है, फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में क्यों कहा?

(उत्तर) ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया, देखो! मनु में क्या लिखा है?

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ ~मनु० [१/२३]

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से ऋग् यजुः साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया।

(प्रश्न) उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं, इस से ईश्वर पक्षपाती होता है।

(उत्तर) वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे, अन्य उन के सदृश नहीं थे, इसलिये पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं में किया

(प्रश्न) किसी देश-भाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया?

(उत्तर) जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता, क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उन को सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने पढ़ाने की होती, इसलिये संस्कृत ही में प्रकाश किया, जो किसी देश भाषा नही और अन्य सब देशभाषाओं का कारण है, उसी में वेदों का प्रकाश किया

समीक्षक-- इस पुस्तक को लिखते समय स्वामी जी के मन में क्या चल रहा था कौन जाने? लेकिन इतना तो साफ की स्वामी धूर्तानंद जैसा धूर्त मैंने अपने जीवन में नहीं देखा, अपने नवीन कपोल मत की प्रसिद्धि हेतु स्वामी जी ने न केवल अर्थ का अनर्थ किया हैं बल्कि सब ही बातें सनातन धर्म से उल्टी लिखीं हैं जो ऐसा न लिखते तो उनकी ख्याति कैसे होती, इसलिए स्वामी जी ने ख्याति पाने को यह नया ढंग निकाला है कि सब काम वेद विरुद्ध ही करेंगे, जैसे हम कहें कि मुर्तिपूजन श्राद्ध अवतार पतिव्रत वेदमत है तो वे कहें यह सब झूठ है और नियोग (व्यभिचार) ठीक है, हम गौ की रक्षा करें तो वह अपने वेदभाष्य में उसे मारना लिखते हैं, हम कहें वेद ब्रह्मा पर आये तो वे कहें कि नहीं चार ऋषियों पर आयें, अब स्वामी जी की धूर्तता आप लोगों को कहाँ तक बताये, इसलिए आप स्वयं देख लीजिये स्वामी जी ने इस लेख में किस प्रकार अर्थ का अनर्थ कर लोगों को भ्रमित करने का कार्य किया है प्रथम स्वामी जी ने प्रश्न सम्बन्ध से यह लिखा,

(प्रश्नकर्ता)- "किन के आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया?

स्वामी जी इसका उत्तर लिखते हैं कि

"अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥ ~शत० {११/४/२/३}

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया"

इस श्रुति को देखने मात्र से ही विदित हो जाता है कि स्वामी जी ने शतपथ ब्राह्मण पढना तो छोडिये कभी देखा भी नहीं है, अथवा देखा हो तो भूल गये, क्योकि सत्यार्थ प्रकाश में लिखी यह श्रुति अशुद्ध है यह श्रुति स्वामी जी के कपोल भंडार से निकली है देखिए स्वामी जी ने इस श्रुति में कई एक पद बदलकर भारी मिलावट की है जैसे प्रथम अग्ने शब्द के आगे "वा" और ऋग्वेद के आगे"जायते" यह पद नहीं है और ना ही यह श्रुति शत० ब्रा० {११/४/२/३} की है बल्कि यह श्रुति इस प्रकार है सुनिये-

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥ ~शत० {११/५/८/३}

अब जबकि स्वामी जी की प्रमाण दी हुई श्रुति का पाठ ही अशुद्ध है तो उनके अर्थ निर्णय की क्या आशा है? देखिये इस श्रुति का अर्थ यह है कि अग्नि वायु और सूर्य इन तीन तपस्वीयों से तीनों वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद प्रकाश हुए, अर्थात वेद त्रविहित कर्मों का प्रचार हुआ, क्योकि इस श्रुति में (अजायत) यह पद आया है और वह (जनि) धातु से बनी है जो प्रादुर्भाव के अर्थ में प्रसिद्ध है और प्रादुर्भाव प्रकाश होने को कहते हैं, भाव यह है कि इन तीनों देवताओं ने जगत् में तीनों वेदों का प्रचार किया, जबकि स्वामी जी द्वारा इस श्रुति का किया अर्थ किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता, देखिए इस श्रुति में स्पष्ट लिखा है कि (अग्नेर्ऋग्वेदो) अग्नि से ऋग्वेद, (वायोर्यजुर्वेदः) वायु से यजुर्वेद, और (सूर्यात्सामवेदः) सूर्य से सामवेद का प्रकाश हुआ, अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि स्वामी जी ने इस श्रुति का जो यह अर्थ किया है कि "प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु,

आदित्य तथा अंगिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया" इसमें आदि सृष्टि में परमात्मा से अंगिरा में अथर्ववेद का प्रकाश होना जो स्वामी ने यह अर्थ किया है, यह अर्थ स्वामी ने किन पदों से लिया है क्योंकि इस श्रुति में तो ऐसा कोई पद ही नहीं है जिससे स्वामी जी द्वारा किया यह अर्थ सिद्ध होता हो, और यहाँ यह भी विचारणीय है कि स्वामी जी अपने इस लेख में अग्नि वायु और सूर्य को ऋषि लिखा है, जबकि वेदादि शास्त्रों में कहीं भी इस नाम के ऋषि सुनने में नहीं आते किन्तु इस नाम के देवता अवश्य सुनने में आते हैं देखिए--

अग्निर्देवता। वातो देवता। सूर्यो देवता। चन्द्रमा देवतेत्यादि।
~यजुर्वेद {१४/२०}

इससे स्वामी जी का किया अर्थ अशुद्ध है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि आरम्भ में तीन ही वेद थे, जिसमें ऋग्वेद पद्यात्मक, यजुर्वेद गद्यात्मक और सामवेद गीतात्मक है, जबकि अथर्ववेद में गद्य, पद्य और गायन तीनों प्रकार के मंत्र देखने में आते हैं, वह इस कारण क्योकि आरम्भ में तीन ही वेद थे, और समय व्यतीत होने के साथ ब्रह्म देव की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न अंगिरा ऋषि ने इन वेदों से अभिचार और अनुष्ठान वाले मंत्रों को अलग कर चतुर्थ वेद की रचना की जिसे अथर्ववेद के नाम से जाना गया, वह इसलिए क्योंकि मुंड़कोपनिषद के अनुसार ब्रह्मा जी ने यह वेद विद्या प्रथम अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को पढ़ाई और अथर्व ने अंगी ऋषि को पढ़ाई, अंगी ने सत्यवाह को और सत्यवाह ने अंगिरा ऋषि को पढ़ाई, अब क्योकि ब्रह्मा के पुत्र अथर्व ऋषि से यह वेद विद्या शिष्य परम्परा से अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई इस कारण उन्हीं के नाम पर इसका नाम अथर्ववेद पड़ा, इसे आगे प्रमाण सहित सिद्ध करेंगे, अब यहाँ विचारणीय यह है कि जब

आरम्भ में तीन ही वेद थे, जो इस श्रुति से सिद्ध होता है तो फिर अंगिरा ऋषि जो कि ब्रह्मा जी के चौथी पीढ़ी में उत्पन्न हुए, तो फिर स्वामी जी यहाँ आदि सृष्टि में अथर्ववेद और अंगिरा की बात कहाँ से कर बैठे? जबकि अथर्ववेद की रचना तो काफी बाद में हुई, उससे पुर्व ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद यह तीन वेद ही थे, देखिए वेदादि शास्त्रों से आपको प्रमाण दिखाते हैं, सुनिए मनुस्मृति में इस प्रकार कथन है कि--

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ ~मनुस्मृति {१/२३}

उस (ब्रह्म)- परमात्मा ने, (यज्ञसिध्यर्थम्)- यज्ञ सिद्धि हेतु, (त्र्यं सनातनम्)- तीनो सनातन वेदों, (ऋग्यजु:साम्)- ऋगवेद, यजुर्वेद और सामवेद का ज्ञान प्रकाश, (लक्षणम्)- समान गुण वाले, (अग्निवायुरविभ्यस्तु)- अग्नि, वायु, और सूर्य को, (दुदोह)- दिया

भावार्थ- इसके पश्चात उस परमात्मा ने यज्ञों की सिद्ध हेतु तीनो सनातन वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ज्ञान प्रकाश समान गुण वाले अग्नि वायु और सूर्य को दिया।

षट्त्रिशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्।

तदिर्धकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ ~मनुस्मृति {३/१}

(गुरौ)- गुरूकुल में ब्रह्मचारी को, (षट्त्रिशदाब्दिकं)- छत्तीस वर्ष तक निवास करकें, (त्रैवैदिकं व्रतम्)- तीनों वेदों {ऋक्, यजुः और साम} का पूर्ण अध्ययन, (चर्य्यं)- करना चाहिए, छत्तीस वर्ष तक सम्भव न होने पर (तद् अर्धिकम्)- उसके आधे अर्थात अट्ठारह वर्ष तक, (वा)- या उतना भी सम्भव न होने पर, (पादिकं)- उसके आधे अर्थात नौ वर्ष तक, (वा)- या उतने काल तक जितने में, (ग्रहण अन्तिकम्)- वेदों में निपुणता प्राप्त हो सके रहना

चाहिए, देखिए क्योकि अंगिरा ऋषि, मनु जी से उत्पन्न दश ऋषियों में से थे, इसलिए मनु जी द्वारा लिखी यह श्रुति प्रमाण है कि आरम्भ में अंगिरा के उत्पन्न होने से पूर्व तीन ही वेद थे, इस श्रुति में **(त्रैवैदिकं)** यह पद इस बात का सूचक है, और सुनिये

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः

वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ ~श्रीमद्भगवद्गीता {९/१७}

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकं अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
~श्रीमद्भगवद्गीता {९/२०}

इस सम्पूर्ण जगत का धाता अर्थात बनाने वाला एवं कर्मों के फल को देने वाला, माता, पिता, पितामह, जानने योग्य पवित्र ॐकार तथा ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।

(त्रैविद्या)- तीनों वेदों {ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद} में विधान किये हुए साकाम कर्मों को करने वाले सोमरस को पिने वाले, पापरहित पुरूष अपने पुण्यों के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते है। यहाँ इस श्लोक में (त्रैविद्या) यह पद तीनों वेदों ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद का सूचक है अतः वेदादि शास्त्रों, ब्राह्मण तथा गीता आदि के वचनों से भी सिद्ध होता है आरम्भ में तीन ही वेद थे,

(दयानंदी)- तो तुम अथर्ववेद को चतुर्थ वेद नहीं मानते, उसे नवीन मानकर उसका विरोध करते हो।

(समीक्षक)- तू हुतिया है, यह विरोध वाला कीड़ा तुम्हारे स्वामी जी के पिछवाड़े में हैं हमारे नहीं, हमने अथर्ववेद का चतुर्थ वेद होना अपने लेख में स्पष्ट लिखा और माना है,

(दयानंदी)- जब अथर्ववेद का चतुर्थ वेद होना स्वीकार करते हो तो स्वामी जी की लिखीं बात का विरोध क्यों? आदि में अंगिरा के हृदय में अथर्ववेद का प्रकाश होना क्यों नहीं मानते?

(समीक्षक)- क्योकि यह बात स्वामी जी के कपोल भंडार से निकली है इस बात में कुछ सच्चाई नहीं देखो वेदादि शास्त्रों से यह प्रमाण है कि सृष्टि रचना की इच्छा से आदि में प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, उन्होंने ने ही आदि में अग्नि वायु सूर्य आदि देवताओं सहित सब लोकों को रचा और वेद अनुकूल ही सबके गुण कर्म स्वभाव सुनिश्चित कर उनके नाम रखें और अग्नि वायु सूर्य सहित अपने पुत्र अथर्व को वह वेद विद्या पढाई, और वह वेद विद्या अथर्व से होती हुई शिष्य परम्परा से ब्रह्मा जी की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई यह मनुस्मृति से प्रमाण है अब जब अंगिरा ऋषि ब्रह्मा जी के चौथी पीढ़ी में उत्पन्न हुए, तो फिर आदि में परमात्मा द्वारा अंगिरा के हृदय में प्रकाश होना मिथ्या सिद्ध हुआ, जबकि अंगिरा ऋषि मनुस्मृति उपनिषद आदि के वचनों से ब्रह्मा जी के चतुर्थ शिष्य करके गिने जाते हैं, और क्योकि अथर्ववेद की रचना महर्षि अंगिरा द्वारा हुई इसलिए अथर्ववेद को आदि में ऋक्, यजुः, साम से भिन्न गिनना महाकपट है

(दयानंदी)- तुम अथर्ववेद की रचना अंगिरा से मानते हो और वेद परमात्मा से उत्पन्न हुए फिर अथर्ववेद ईश्वरीय वचन किस प्रकार सिद्ध करोगे।

(समीक्षक)- यह प्रश्न तुम्हारे मन में भ्रम से उत्पन्न हुआ है देखों आदि सृष्टि में वेद ऋक्, यजुः, साम रूप में प्रकट हुए अब क्योकि अंगिरा ऋषि ने उस त्रयी विद्या को पढ उन्हीं वेदों से अभिचार और अनुष्ठान वाले कुछ ऋचाओं को अलग कर चतुर्थ

वेद की रचना की, अब क्योकि सभी ऋचाएं आदि में परमात्मा से ही प्रकट हुई है इससे चतुर्थ वेद के रूप में अलग होने पर भी वह ऋक्, यजुः, साम रूप ही हुई क्योंकि आदि में अथर्ववेद ऋक्, यजुः, साम में ही स्थित था और उन्हीं त्रयी विद्या को पढ बाद में महर्षि अंगिरा जिन्हें ब्राह्मण उपनिषद मनुस्मृति आदि ग्रंथों में ब्रह्मा जी का चतुर्थ शिष्य करके गिना है उन्होंने उससे चतुर्थ वेद की रचना की जिसे अथर्ववेद कहा गया, इसलिए आदि में ऋक्, यजुः, साम से पृथक अथर्ववेद को मानना यही महाकपट है, इससे धर्म के न जानने वालों में भ्रम की स्थिति पैदा होती हैं और धर्म में बाधा उत्पन्न होती है क्योंकि वेदादि शास्त्रों में आदि सृष्टि में अथर्ववेद को चतुर्थ वेद करके कही नही लिखा, किन्तु त्रयी विद्या ऋक्, यजुः, और साम करकें देखा जाता हैं क्योंकि आरम्भ में वेद तीन थे,

अब जरा एक दृष्टि **(अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्०) ~मनुस्मृति {१/२३}** इस श्रुति पर डालिये स्वामी जी इसका अर्थ सत्यार्थ प्रकाश में यह लिखते हैं कि "जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से ऋग् यजुः साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया" इस श्रुति का सही अर्थ हम पूर्व ही लिख आये हैं, इस श्रुति से स्वामी जी का अर्थ किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता, स्वामी निर्बाधानंद जी का यह कथन कि अग्नि वायु सुर्य और अंगिरा से चारों वेद ब्रह्मा जी को प्राप्त हुए, यही सिद्ध कर देता है कि स्वामी जी में बुद्धि की कितनी कमी थी, जबकि वेदादि शास्त्रों से यह प्रमाण है कि आदि में सृष्टि रचना की इच्छा से प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए और उन्हीं से वेद प्रकट हुए,

(दयानंदी)- इस बात में क्या प्रमाण है कि सृष्टि के आरम्भ में प्रथम ब्रह्मा जी प्रकट हुए? और उनसे ही अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों और अंगिरा ने वेद प्राप्त किये।

(समीक्षक)- इस बात में बहुत से प्रमाण है प्रथम हम आपको मनुस्मृति से ही प्रमाण लिखते हैं देखिए (अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्०) ~मनुस्मृति {१/२३} इस श्रुति से पहले यह श्रुति है जिसका अर्थ यह है कि-

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।

तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ ~मनुस्मृति {१/९}

सहस्रों सूर्यों के समान चमकीले अंडरूप प्रकाशयुक्त ज्योति पिण्ड (हिरण्यगर्भ) से सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, इससे यह सिद्ध होता है कि आदि में ब्रह्मा जी सबसे प्रथम उत्पन्न हुए और सब लोकों की सृष्टि ब्रह्मा जी ने ही की, सुनिये अथर्ववेद में भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि-

ब्रह्मज्येष्ठा सम्भृता विर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥
~अथर्ववेद {१९/२२/२१}

(भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे) अर्थात सबसे प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, दयानंद तथा उनके कम अक्ल नियोगी चमचों को आखँ देखना चाहिए यह वेद वचन ही है इसमें स्पष्ट लिखा है कि आदि में सबसे प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, वही सब लोकों को रचने वाले वही सबसे श्रेष्ठ है देखिये यजुर्वेद में ब्रह्मा जी की उत्पत्ति के बारे में इस प्रकार कथन है कि--

हिरण्यगर्भः सम् अवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिर् एक ऽ आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्याम् उतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

~यजुर्वेद {१३/४}

सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ पुरुष (प्रजापति ब्रह्मा) सम्पूर्ण ब्रह्मांड के एक मात्र उत्पादक और पालक रहे, वही स्वर्ग अंतरिक्ष और पृथ्वी को धारण करने वाले हैं, उस प्रजापति के लिए हम आहुति समर्पित करते है। और सुनिये मुंडकोपनिषद में भी इस प्रकार कथन है कि-

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥१॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।

स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥२॥

~मुंडकोपनिषद {१/१/१-२}

सब जगत के बनाने वाले ब्रह्मा जी सब देवों में सर्वप्रथम उत्पन्न हुए, उन्होंने वह वेद विद्या जिसके सब विद्या आश्रय है अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व ऋषि को पढाई, अथर्व ने वह ब्रह्मविद्या अंगी ऋषि को पढाई, अंगी ने वह वेद विद्या ऋषि भारद्वाजवंशीय सत्यवाह को पढाई और सत्यवाह ने वह वेद विद्या अंगिरा ऋषि को पढाई, धन्य स्वामी मुर्खानंद जी आपकी बुद्धि, इस श्रुति में तो अंगिरा ऋषि को शिष्य परम्परा करके ब्रह्मा जी का चतुर्थ शिष्य गिना है, और स्वामी जी लिखते हैं कि अंगिरा ने ब्रह्मा जी को अथर्ववेद पढ़ाया, हद हो गई हुतियापंति की, न जाने स्वामी हुतियानंद जी ने इस कथन से अपना क्या लाभ समझा है, सुनिये क्योकि ब्रह्मा जी ने प्रथम वेद विद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को किया, अथर्व ने अंगी को, अंगी से सत्यवाह को, और शिष्य परम्परा से सत्यवाह से वह वेद विद्या अंगिरा को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात अंगिरा ऋषि ने इन वेदों के अभिचार और

अनुष्ठान वाली कुछ ऋचाओं को अलग करकें चतुर्थ वेद की रचना की, क्योकि अथर्व ऋषि से वह वेद विद्या शिष्य परम्परा से होती हुई अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई इसलिए अथर्व ऋषि के नाम पर ही इसका नाम अथर्ववेद पड़ा, और अथर्ववेद को बृहदारण्यकोपनिषद्, ब्राह्मणादि ग्रंथों में कुछ एक स्थान पर अथर्वअंगिरस कहा है उसका कारण यह है कि मुंडकोपनिषद के वचनानुसार प्रथम ब्रह्मा जी के पुत्र अथर्व से वेद विद्या जो शिष्य परम्परा से होती हुई अंगिरा को प्राप्त हुई, इसी कारण इसे कुछ एक स्थान पर अथर्वअंगिरस कहा गया है

और देखिये मनुस्मृति से भी यही सिद्ध होता है कि अंगिरा ऋषि बाद में उत्पन्न हुए देखिये--

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥३२॥

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।

तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥३३॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।

पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥३४॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।

प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥३५॥ ~मनुस्मृति {१/३२-३५}

३२ से ३५ तक के इन श्लोकों का आशय यह है कि "संसार की वृद्धि के अर्थ ब्रह्मा जी ने एक स्त्री और पुरुष को उत्पन्न किया, उनसे प्रथम विराट, विराट से मनु और मनु से दस महर्षि मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्तय, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु, नारद उत्पन्न हुए, अब क्योकि अंगिरा ब्रह्मा जी की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न

हुए और वेदादि ग्रंथों से भी सिद्ध हुआ कि ब्रह्मा जी सृष्टि के आरम्भ में प्रथम उत्पन्न हुए, इससे यह सिद्ध हुआ कि अग्नि वायु सूर्यादि देवता सृष्टि के अन्तर्गत उत्पन्न हुए, इससे स्वामी जी का यह कथन कि अग्निादि देवों ने ब्रह्मा जी को वेद प्राप्त करायें यह कथन असंगत है, देखिये सृष्टि के आदि से ही वेद ब्रह्मा जी के पास थे देखिये मनु में इस प्रकार कथन है कि--

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ ~मनुस्मृति {१/२१}

ब्रह्मा जी ने सृष्टि के आदि में सबके भिन्न-भिन्न नाम और कर्म आदि वेद शब्दों से अर्थात वेद अनुसार व्यवस्था करकें गौ जाति का नाम गौ, अश्व जाति का नाम अश्व, मनुष्य जाति का नाम मनुष्य रखा, जब सबके नाम और कर्म वेद अनुसार व्यवस्था करकें बनायें तो निश्चय है कि अग्नि का नाम अग्नि, वायु का वायु और सूर्य का नाम सूर्य वेद से ही ब्रह्मा जी ने रखा हो, या फिर स्वामी जी बताये कि वह कौन सा वेद था? कि सब सृष्टि के आदि में अग्नि की अग्नि संज्ञा, वायु की वायु, सूर्य की सूर्य संज्ञा होने से पहले ब्रह्मा जी के पास था, जिससे उन्होंने सबके नाम रखें, इससे यही सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा जी के पास वेद थे, यदि वेद इन तीनों पर आते तो वही सबके नाम कर्म आदि की व्यवस्था वेदानुसार करते, और सुनिये

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।

साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥२२॥

~मनुस्मृति {१/२२}

इसके पश्चात सब प्राणियों के प्रभु ब्रह्मा जी ने कर्म स्वभाव रखने वाले अग्नि वायु आदि देवताओं के समूह, साध्यों का समूह और

सनातन यज्ञ आदि की सृष्टि की, इस श्लोक में प्रभु शब्द ब्रह्मा जी का विशेषण हैं अर्थ उसका जनक अर्थात उत्पन्न करने वाला पिता है, इससे यही विदित होता है कि अग्नि आदि की गणना भी इसी देवगण में है इससे बाहर नहीं है, इसके बाद (अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्०) मनुस्मृति का यह २३ वाँ श्लोक हैं इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मा जी इन तीनों देवताओं को देवगण की सृष्टि के संग उत्पन्न किया, और फिर वेदानुकूल उन सबके नाम रखें, अब जबकि इनकी उत्पत्ति और नाम रखने से पहले ब्रह्मा जी के पास वेद थे तो फिर यह कैसे संभव है कि अग्नि आदि ने ब्रह्मा जी को वेद पढाये, इससे स्वामी जी का यह कपोल कल्पित मत भ्रष्ट होता है, अब आगे सुनिये,

इसके आगे दयानंद जी प्रश्न सम्बन्ध से लिखते हैं,

(प्रश्नकर्ता) उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं, इससे ईश्वर पक्षपाती होता है।

अब स्वामी का उत्तर सुनिये स्वामी जी इसका उत्तर यो देते हैं कि "वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रत्मा थे, अन्य उन के सदृश नहीं थे, इसलिये पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं में किया"

यहाँ स्वामी जी स्वयं ही प्रश्नकर्ता है और स्वयं ही उत्तर देने वाले, स्वामी जी का यह कथन अबोध बच्चों का सा जान पड़ता है देखिये जबकि वेदादि शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि--

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ ~ऋग्वेद {१०/१२९/१}

(तदानीं)- महाप्रलय काल में, (असत्)- अपरा माया, (न)- नहीं थी, (सत्)- जीव भी, (नो)- नहीं, (आसीत्)- था, (रजः)- रजोगुण

भी, (न)- नहीं, (आसीत्) था, (यत्)- जो, (व्योम)- आकाश तमोगुण, (अपरः)- सतोगुण, (नो)- नहीं था, (कुहकस्य)- इन्द्रजाल रूप, (शर्मन्)- ब्रह्मांड के चारों ओर जो, (आवरीवः)- तत्व समूह का आवरण होता है, (तत्) (किं) (नकिमप्यासीत्)- वह भी नहीं था, (गहनंगभीरं)- गहन गंभीर, (अंभः)- जल, (किं आसीत्)- क्या था? अर्थात नहीं था

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

~ऋग्वेद {१०/१२९/२}

(तर्हि)- उस समय, (मृत्यु)- मृत्यु, (न) नही, (आसीत्)- थी, और (अमृतं)- अमृतत्व अर्थात जीवन भी, (न)- नही, (आसीत्)- था, (रात्र्याः अह्नः)- रात और दिन का, (प्रकेतः)- ज्ञान, (न आसीत्)- नही था, सिर्फ (स्वधया)- अपनी परा शक्ति से, (एकं)- अभिन्न एक, (तत्)- ब्रह्म ही, (आसीत्)- था, (तस्मात् ह)- उस सर्वशक्तिमान से, (अन्यत्)- अन्य, (किंच)- और कुछ भी, (न)- नही, (आसीत्)- था।

अब विचारने की बात है जबकि सृष्टि रचना के पूर्व एक ब्रह्म के अलावा जब कुछ भी नहीं था, और फिर सब कुछ उससे ही उत्पन्न हुआ, मनुस्मृति के श्लोक २१, २२ के अनुसार सब प्राणियों की सृष्टि कर वेदानुकूल भिन्न भिन्न कर्म स्वभाव के अनुसार उनके नाम रखें, तो फिर सृष्टि के आरम्भ में कोई आत्मा पवित्र और कोई कम पवित्र किस प्रकार हुआ? दरअसल यह बात स्वामी जी के कपोल भंडार से उत्पन्न हुई है यह स्वामी जी की मिथ्या कल्पना है, देखिये इसका उत्तर तो हम पूर्व ही लिख आये हैं, जैसा कि वेद, उपनिषद, मनुस्मृति और ब्राह्मणादि ग्रंथों

से सिद्ध होता है कि आदि में सृष्टि रचना की इच्छा से हिरण्यगर्भ रूप स्वर्णयुक्त आभा से प्रथम सब जीवों के पितामह ब्रह्मा जी प्रकट हुए तत्पश्चात उन्होंने अग्नि वायु सूर्य आदि की सृष्टि करकें अग्नि आदि सहित अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को वेद विद्या का उपदेश करते हुए उन्हें यह दायित्व सौंपा की संसार की वृद्धि के साथ साथ इस वेद विद्या का उपदेश प्रजा को करें, इस तरह स्वयं ब्रह्मा जी अपने पुत्र अथर्व को यह वेद विद्या पढाई, और अथर्व ऋषि ने अंगी को, अंगी ने सत्यवाह को, और सत्यवाह से यह वेद विद्या अंगिरा ने पढ़ी, इस प्रकार गुरु शिष्य की परम्परा से निरन्तर वेद विद्या का प्रकाश प्रजा में होता आया है, और इस गुरु शिष्य की परम्परा की शुरुआत स्वयं परम पिता ब्रह्मा जी ने की है, इससे ईश्वर में पक्षपात की बात नहीं आती, दयानंद एवं उनके नियोगी चैलों को यह बात समझनी चाहिए, यह बात किसी अन्य के मन में नहीं स्वयं स्वामी जी के मन में ही आयी होगी, जो उन्होंने प्रश्न सम्बन्ध से कल्पना करके यहाँ लिख दी है, और सुनिये,

इसके बाद स्वामी जी फिर से प्रश्न सम्बन्ध से बिना सर पैर की बात लिखते हैं देखिए-

(प्रश्नकर्ता) किसी देश-भाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया?

स्वामी जी इसका उत्तर यह लिखते हैं कि "जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता, क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उन को सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने पढ़ाने की होती, इसलिये संस्कृत ही में प्रकाश किया, जो किसी देश भाषा नही और अन्य सब देशभाषाओं का कारण है, उसी में वेदों का प्रकाश किया"

यहाँ प्रश्नकर्ता और उसका उत्तर देने वाला दोनों ही अव्वल दर्जे के चुतिया है, अब चाहे यह प्रश्न स्वामी जी ने स्वयं कल्पना किया हो या फिर किसी और ने की हो, क्योकि ऐसी बिना सर पैर की बात तो कोई गधा भी नहीं करेगा, अब यहाँ स्वामी जी से कोई यह पूछे कि सृष्टि के आरम्भ में कुल कितने देश थे और उनमें कुल कितनी भाषायें बोलीं जाती थी, स्वामी जी का यह लेख पढ़कर तो ऐसा विदित होता है जैसे स्वामी जी अपने जन्म से ही सृष्टि का आरम्भ मानते हैं इसलिए अपने लेख में वेदों के प्रकट होने से पूर्व अनेक देश और भाषाओं का होना लिखते हैं और लेख तो ऐसे लिखा है जैसे मानों वेद प्रकट करने से पहले स्वयं ईश्वर स्वामी जी के पास आकर बोलें हो कि स्वामी जी आप पहले क्यों नहीं उत्पन्न हुए? देखिये अब कितने देश उत्पन्न हो गये और कितनी भाषायें बोलीं जाने लगीं अब आप बतायें की मैं वेदों का प्रकाश किस भाषा में करूँ अंग्रेजी, फारसी, उर्दू या फिर संस्कृत में और स्वामी जी के सुझाव पर अंग्रेजी, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं में न करके संस्कृत भाषा में किया, जिसे स्वामी जी ने अपने लेख में कथन किया है, शोक हे! ऐसी बुद्धि पर, सृष्टि के आरम्भ में अनेक देश और भाषाओं की बात कल्पना करने से ही स्वामी जी की बुद्धि का पता चलता है, कोई बड़ा से बड़ा चुतिया भी इससे ज्यादा समझदारी वाली बात करता होगा,

जैसा कि दयानंद ने भी यह माना कि संस्कृत सब भाषाओं का कारण है, संस्कृत से ही सब भाषा उत्पन्न हुई, तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं हुआ कि प्रथम संस्कृत भाषा ही पठन पाठन और बोल चाल की भाषा थी, लेकिन स्वामी जी के इस लेख पर दृष्टि डालने पर इसका यह आशय निकलता है कि स्वामी जी के

मतानुसार आदि सृष्टि में न केवल अनेक देश थे बल्कि उनमें अनेक भाषाएँ भी बोली जाती थी, और फिर स्वयं यह भी लिखा कि संस्कृत सब भाषाओं का कारण है, धन्य हे! स्वामी मुर्खानंद जी आपकी बुद्धि, ऐसा परस्पर विरुद्ध बातों से भरा लेख आपके सिवाय कोई अन्य नहीं लिख सकता, जब संस्कृत सब भाषाओं का कारण है तो संस्कृत जानने से पूर्व अनेक भाषाएं कैसे उत्पन्न हो गई, और जब वेद सृष्टि के आरम्भ में प्रकट हुए, वेद शब्दों से ही गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार सबके नाम रखें गये, तो उससे पूर्व अनेक देशों और भाषाओं की कल्पना कहाँ से कर ली? बोलिए स्वामी निर्बोधानंद जी, वेद प्रकट होने से पूर्व अनेक देश और भाषाओं का होना यह किस मंत्र भाग में पढ लिया, इसी दो कौड़ी की बुद्धि पर स्वामी जी अपने आपको वेदों का ज्ञान समझते हैं।

॥इति चुतियार्थप्रकाश सप्तम् समुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

॥सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत अष्टमसमुल्लासस्य खंडनंप्रारभ्यते॥

॥सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १५४,

❝पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥४॥ -{यजुः अ० ३१/ मं० २}

इसका अर्थ स्वामी जी यह लिखते हैं कि- "हे मनुष्यो! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाश रहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है; वही पुरुष इस सब भूत भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् का बनाने वाला है❞

समीक्षक-- स्वामी जी के अर्थों की कैसी विचित्र महिमा है कि इस मंत्र में जीव प्रकृति और ईश्वर का वर्णन कर बैठे हैं, वेदान्त विषय में आता तो बात कुछ और होती, पर स्वामी जी ठहरें आदत से मजबूर अर्थ का अनर्थ किये बगैर उनसे रहा भी नहीं जाता, देखिये इसका अर्थ यह है कि--

(इदम्)- यह, (यत्)- जो, (भूतम्)- ब्रह्मसंकल्प जगत् है, (च)- और, (यत्)- जो, (भाव्यम्)- भविष्य संकल्प जगत् है, (उत)- और, (यत्)- जो, (अन्नेन)- बीज वा अन्न परिणाम वीर्य से, (अतिरोहति)- वृक्ष नर पशु आदि रूप से प्रकट होता है, (सर्वम्)- वह सब, (अमृतत्वस्य)- मोक्ष का, (ईशानः)- स्वामी, (पुरूषः)- परमेश्वर, (एव)- ही है उसका अन्य न होने से ब्रह्म से उत्पन्न होने से सब जगत् ब्रह्म रूप ही है, इससे ब्रह्म अनन्त है,

अब क्योकि स्वामी जी जीव जगत जड प्रकृति में ब्रह्म का भेद मानते हैं इससे ऊपर वाली श्रुति से विरोध पडेगा, और सुनिये,

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १५४,

“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥५॥ - तैनिरीयोपनि०

इसका अर्थ स्वामी जी यह लिखते हैं कि- "जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं जिससे जीव और जिस में प्रलय को प्राप्त होते हैं; वह ब्रह्म है, उस के जानने की इच्छा करो”

समीक्षक-- यह क्या स्वामी जी इतना ही पद लिखकर गड़प गये, (जिससे जीव) इससे तो प्रत्यक्ष है कि जिस परमात्मा से जीव उत्पन्न होते हैं और स्वामी जी आगे इनको नित्य भी मानते हैं, धन्य हे! तुम्हारी बुद्धि, नित्य भी मानना और जन्म भी कहना यह वेद विरोधी लेख अर्थ कर्ता को रसातल में क्यों न ले जायेगा, सीधा सा अर्थ है कि जिससे यह प्राणी उत्पन्न होते, उसी से जीते और अन्त में उसी में प्रवेश करते हैं उसे ही ब्रह्म जानों, अब जीव और प्रकृति नित्य और पृथक न रहे, और सुनिये,

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १५५,

“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभि चाकशीति॥१॥ ~ऋ०मं० १। सू० १६४। मं० २०।।

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।२।। ~यजुः० अ० ४०। मं० ८॥

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं (तयोरन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोक्ता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोक्ता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप; तीनों अनादि हैं"

समीक्षक-- जिस प्रकार बारिश की पहली बुंद गिरते ही वन के सभी मेंढक खुशी से झुम उठते है ठीक वही दृष्टांत स्वामी जी पर है, बस उनके नियोगी चैलों और उन्हें द्वैतप्रकरण को यह श्रुति सजीवन मूल है, परन्तु उनके अंदर इतनी बुद्धि कहाँ जो इस श्रुति का आशय समझ सकें, वास्तव में इसका अर्थ यह है सुनिये,

प्रथम तो इस मंत्र में यह प्रश्न है कि यह मंत्र चेतन में भेद सिद्ध करता है या भोक्ता अभोक्ता रूप पक्षियों के भेद को सिद्ध करता है, जो चेतन भेद साधक कहों तो इस मंत्र में ऐसा कोई पद नहीं जो चेतन में भेद साधन करें, इस कारण चेतन में भेद नहीं, किन्तु दो सुपर्णों का बोधन करता है, वह भी सुपर्ण वेद प्रतिपाद्य होने चाहिए, मंत्र का अर्थ दो सुपर्ण है (सयुजा)- परस्पर सम्बन्ध वाले, (सखाया)- समान प्रिति वाले अर्थात जिनका प्रतित होना तुल्य है वे दोनों, (समान)- एक, (वृक्षं)- वृक्ष को,

(परिषस्वजाते)- आश्रय कर रहे हैं, (तयोः)- उन दोनों में, (अन्यः)- एक, (पिप्पलं स्वाद्वत्ति)- वृक्ष फल को भोक्ता है और दूसरा, (अनश्नन्)- न भोक्ता हुआ, (अभिचाकशीति)- प्रकाश करता है, वही प्रकाश करने वाला सुपर्ण मंत्र प्रतिपाद्य है यथाहि

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।

तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेव्ह्हि स उ रेव्ह्हि मातरम्॥
~ऋग्वेद {१०/११४/४}

अर्थ यह है कि (एकः)- एक, (सुपर्णः)- प्राणवायु उपाधिक सुपर्णवत् सुपर्ण है, (सः)- वह, (समुद्रम्)- समुद्रवत् विस्तृत अन्तरिक्ष को, (आविवेश)- प्रवेश करता है, (सः)- वह प्राणोपाधिक परमात्मा, (इदम्)- इस, (विश्वं भुवनम्)- सर्व लोक को, (विचष्टे)- पश्यति प्रकाश करता है, (तम्)- उस प्राण देव को, (पाकेन मनसा)- परिपक मन में उपासक, (अन्तितः)- अपने हृदयकमल में (अपश्यम्)-देखता हुआ किस प्रकार से, जो (तम्)- उस प्राणदेव को अध्ययनकाल में, (माता)- माँ कहें सो, (रेव्ह्हि)- अपने आप में लीन कर लेती है, और तूष्णींभावकाल में वह प्राणदेव, (मातरम्)- वाक् को अपने में लीन कर लेता है, एक तो सुपर्ण इस मंत्र से प्राणोपाधिक ईश्वर चेतन प्रतिपाद्य है, यहाँ जो लीनता कहीं है वह केवल उपाधि धर्म का व्यवहार है विशिष्ट में करा है, और जो प्राण उपाधिक ईश्वर प्रतिपाद्य इस मंत्र में न होता तो सर्व जगत् प्रकाशता कैसे कहते, वेद निघण्टु अध्याय ३/ खंड ११ मे, (विचष्टे) पश्यतिकर्मा कहीं है इससे केवल जड़ प्राण इस मंत्र में प्रतिपाद्य नहीं और केवल चेतन भी प्रतिपाद्य नहीं, क्योकि वाक् में लीनता कहीं है इससे प्राणोपाधिक चित् प्रतिपाद्य है यह सुपर्ण तो केवल प्रकाशक अभोक्तारूप से मंत्र प्रतिपाद्य है और भोक्तारूप बुद्धि उपाधिक जीव चित् है तथाहि

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते।

एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धवति।

यत्र सुप्तो न कं चन कामं कामयते न कं चन स्वप्नं पश्यति ॥ ~बृ० उ० {४/३/१९}

जैसे इस प्रसिद्ध आकाश में श्येन बड़े शरीर वाला वा सुपर्ण अल्प शरीर वाला बाज है वह अधिक भ्रमण करने से श्रम को प्राप्त होकर पंखों को (संहत्य) विस्तार करकें, (संलय) अपने नीड़ को, (ध्रियते) अनवस्थित हो गमन करता है वैसे यह, (पुरूष) जीव बुद्धि उपाधिक, (अन्त) अन्तरस्थान जो हृदयकमल है, वहाँ को दोड़ता है जहाँ सोता हुआ कुछ भी, (काम) विषय को, (नकामयते) नहीं चाहता और कुछ स्वप्न भी नहीं देखता, इस श्रुति में सुपर्ण दृष्टांत से जो बुद्धि उपाधिक जीव सुपर्णवत् जाग्रत स्वप्नसुपुप्ति में गमन करने वाला द्वितीय सुवर्ण कर्मफल भोक्ता प्रतिपादन करा है, सो यह दो सुपर्ण वाक्यान्तर प्रतिपाद्य ही (द्वा सुवर्णा) इत्यादि मंत्रों से कहें गये हैं, उन दोनों को प्राण बुद्धि उपाधि भेद से भेद वेदान्तियों के सिद्धांत में स्वीकृत ही है, चेतन ब्रह्म सर्वात्मरूप से **(यो ऽसाव् आदित्ये पुरुषः सो ऽसाव् अहम्०)** इस मंत्र में प्रतिपादन करा है, उसके भेद का साधन कौन है? अर्थात उसके भेद का साधक कोई मंत्र नहीं, यह भेद केवल मोह और उपाधि से प्रतीत होता है वास्तव में जीव कुछ और नहीं है, आत्मा जीवरूप से मोह के होने से प्रतीत होता है यह मंत्र ही कहता है देखिये--

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा

एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः

तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ~कठोपनिषद {२/२/१२}

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

सब देहधारियों में आत्मा रूप से निवास करने वाला तथा सबको नियन्त्रण में रखने वाला परमेश्वर एक रूप वाला होकर भी अनेक रूप धारण कर लेता है, और जो विद्वान अपने भीतर स्थित उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेतें है वह समस्त उपाधि रहित होकर उस ब्रह्म मे ही लीन हो जाते है, एक ही इस शरीर में पूर्ण पुरुष परमात्मा निगूढ़ है, यह स्वयं अनीश बुद्धि से मोह को प्राप्त होकर सोचता है, संसार में कर्ता हूँ सुखी दुखी हूँ ऐसा जन्म मरणादि अनुभव करता है और जब नित्य तृप्त शोकरहित (ईशम्) अपने ब्रह्मरूप अनन्यता से देखता है अर्थात साक्षात्कार करता है तब शोकरहित हो जाता है देह से पृथक अपने स्वरूप के साक्षात्कार से समस्त उपाधि रहित होकर इसकी महिमा अर्थात सर्वात्म्य सर्वज्ञादिपन को प्राप्त होता है, यहाँ महिमा का यही अर्थ है कि अपने ब्रह्मरूप को प्राप्त होता है, इस कारण वास्तव में वह एक ही है, मोह से भेद तथा दो प्रतीत होते हैं

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १५५,

“अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
~श्वे० उप०{४/५}

प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं, इन का कारण कोई नहीं, इस अनादि प्रकृति का भोग

अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उस में परमात्मा न फंसता और न उस का भोग करता है”

समीक्षक-- दयानंद ने तृतीया समुल्लास पृष्ठ ५१ पर, (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेयी, तैत्तिरेयी, छान्दोग्य और बृहदारण्यक) यह दश उपनिषद ही प्रमाण माने हैं और यह श्रुति श्वेताश्वतर उपनिषद का है जो उनके प्रमाण किये उपनिषद में नहीं है, अपने अर्थसिद्धि को यह उपनिषद भी मान लिया, और दूसरे के प्रमाण में कहते हैं कि हम यह नहीं मानते, भला इसमें मंत्रों का प्रमाण क्यों नहीं लिखा।

स्वामी जी ने यहाँ यह सोचा होगा कि एक अज शब्द जीववाचक और दूसरा ईश्वरवाचक है, परन्तु यहाँ ईश्वर का ग्रहण करोगे तो **(जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः)** इस श्रुति भाग की असंगति होगी, क्योकि भोग लिया है, भोग पूर्व काल में जिससे उस प्रकृति को त्याग देता है, ऐसा अर्थ होने से परमेश्वर में सुख दुख साक्षात्कार भोग मानना असंगत है, इसलिए यहाँ अनुत्पन्न साक्षात्कार और उत्पन्न साक्षात्कार जीवों का ग्रहण है, स्वामी जी यहाँ जीवों को जन्म रहित कहते हैं और इससे पूर्व सप्तम् समुल्लास पृष्ठ १४३ पर, यह लिखा है कि (जो विभु होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता) यहाँ उसका परिछिन्न मानकर जन्म मानते हैं, स्वामी जी के परस्पर विरुद्ध लेखों को कहाँ तक दिखावें, स्वामी जी ने तो मुर्खता की सारी सिमाये ही पार कर दी, कहीं जीव का जन्म लिखते हैं तो कहीं नित्य मानते हैं, धन्य हे! स्वामी जी तुम्हारी बुद्धि, देखिए इस श्रुति से पूर्व की स्तुतियों से यही सिद्ध होता है कि सब जगत ईश्वर रूप ही है सब लोक और

प्राणी उससे ही उत्पन्न होते हैं, अब जब कुछ ईश्वर ने ही उत्पन्न किया है तो प्रकृति नित्य कैसे?

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योन्नम् अन्नात्पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ १

इद सर्वमसृजत यदिदं किञ्च ॥~तैत्तरी० उप०

उस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य, और वीर्य से पुरूष इस कारण अन्नरसमय यह पुरुष अन्नरसमय है,

जो कुछ भी है सब परमेश्वर ने बनाया है। और

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥१॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥२॥
~ऋग्वेद {म० १०, सु० १२९, मं० १-२}

इत्यादि वेद मंत्र जो पीछे लिख आये हैं कि प्रलय काल में सत् रज तम प्रकृति आदि कुछ भी नहीं था, सिवाय एक ईश्वर के इस कारण प्रकृति को नित्य मानना ठीक नहीं।

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १५९,

“सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा बिना किसी के सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है”

समीक्षक-- स्वामी जी की बुद्धि किसी बालक जैसी है, देखों कहीं तो यह लिखा है कि बिना प्रकृति के वह कुछ नहीं कर सकता, और कहीं लिखा है कि वह बिना सहाय कार्य कर सकता है, सर्व शक्तिमत्ता तो ईश्वर की उड़ गई,

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १५९,

❝जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उन में व्यापक है तभी उन को पकड़ कर जगदाकार कर बना देता है❞

समीक्षक-- दयानंद के इस लेखानुसार मानों प्रकृति कहीं भागी जाती होगी, ईश्वर उसके पीछे दौड़ता है, वह उसे पकडता होगा और प्रकृति नाहीं करती होगी, लेकिन ईश्वर उसे जगदाकार कर बना देता होगा, धन्य हे! स्वामी जी तुम्हारी बुद्धि,

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १५९,

❝(प्रश्न) क्या कारण के बिना परमेश्वर कार्य को नहीं कर सकता?

(उत्तर) नहीं❞

समीक्षक-- देखों स्वामी जी पूर्व तो लिख आये कि उसे कार्य कारणादि की कुछ अपेक्षा नहीं, वह बिना सहाय सब कार्य कर सकता है, और अब यहाँ यह गड़बडी, यही तो स्वामी जी के भंग की तरंग है कि स्वामी जी को अपने पूर्व लिखें लेखों का भी स्मरण नहीं रहता।

॥आदि सृष्टि प्रकरण॥

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १६६,

❝(प्रश्न) सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे वा क्या?

(उत्तर) अनेक। क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे उन का जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता है। क्योंकि

'मनुष्या ऋषयश्च ये' ~[यजुर्वेद अध्याय ३१, मुंडकोप० ९, मुं० २/७/१]

'ततो मनुष्या अजायन्त' ~यह यजुर्वेद में लिखा है।

इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों, सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए❞

समीक्षक-- स्वामी जी ने तो मानों असत्य बोलने का ठेका ले रखा है, जब मूहँ खोलते है तो असत्य ही बोलते हैं, देखिये **'मनुष्या ऋषयश्च ये'** यह वाक्य यजुर्वेद में कहीं नहीं लिखा, किन्तु यजुर्वेद में **'साध्याऽऋषयश्च ये'** यह लिखा है सो इससे भी दयानंद की लिखीं बात सिद्ध नहीं होती, सुनिये यह मंत्र इस प्रकार है कि--

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातम् अग्रतः।

तेन देवा ऽ अयजन्त साध्या ऽ ऋषयश् च ये॥ ~यजुर्वेद {३१/९}

(ये)- जो, (साध्या: देवा: च ऋषय:)- साध्य देवता और ऋषि है उन्होंने, (अग्रतः)- सृष्टि के पूर्व, (जातम्)- उत्पन्न हुए, (तम्)- उस, (यज्ञम्)- यज्ञ साधन भूत, (पुरूषम्) विराट पुरुष को, (बर्हिषि)-

आत्मा में, (प्रौक्षन्)- प्रोक्षण कर, (तेन)- उस पुरुष द्वारा, (अयजन्त)- यज्ञ किया।

और फिर लिखा है कि यह वाक्य मुंडकोपनिषद ९, मुंड० २/७/१ सो सुनिये यह भी स्वामी जी ने मिथ्या ही लिखा है, इससे विदित होता है कि स्वामी जी ने कभी मुंडकोपनिषद उठा कर भी नहीं देखा, क्योकि पुरे मुंडकोपनिषद में कुल ३ ही मुंडक है, और इनमें से प्रत्येक मुंडक में दो-दो खंड है अर्थात पुरे मुंडकोपनिषद में कुल मिलाकर ६ खंड है, जबकि दयानंद लिखते हैं कि यह वाक्य द्वितीय मुंडक के सातवें खंड का पहला मंत्र है, जबकि द्वितीय मुंडक में केवल २ ही खंड है फिर दयानंद ने यह सातवां खंड कहाँ से पैदा कर दिया, और यह जो 'मुंडकोपनिषद ९' ऐसा लिखा है यह क्या है?

अब न्याय दृष्टि से विचारियें कि दयानंद ने वेदों के नाम से कैसी-कैसी झूठी गपौड उडाई है, सृष्टि के आदि में थोक के भाव से, सैकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न नहीं हुए, सृष्टि के आरम्भ में प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, ब्रह्मा जी से विराट, विराट से मनु और मनु से मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि दश महर्षि उत्पन्न हुए, यह बात वेद, उपनिषद, मनुस्मृति आदि से पूर्व वर्णन कर आये हैं,

और सुनिये आगे जो स्वामी जी ने यह दूसरा पद **'ततो मनुष्या अजायन्त'** लिखा है सो यह भी यजुर्वेद में कहीं नहीं लिखा, यह वाक्य यजुर्वेद का नहीं किन्तु शतपथ ब्राह्मण का है, सो इससे भी दयानंद की कपोल कल्पित बात सिद्ध नहीं होती, बल्कि इससे तो उल्टा स्वामी जी का ही पक्ष बिगाड़ता है देखिये स्वामी जी ने 'ततो मनुष्या अजायन्त' जो यह वाक्य लिखा है इसका अर्थ तो यह हुआ कि तत्पश्चात मनुष्य उत्पन्न हुए, और यह हम पूर्व ही सिद्ध कर आये हैं कि--

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥
~अथर्ववेद {१९/२२/२१}

(भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे) अर्थात सबसे प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए,

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥३२॥

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।

तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥३३॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।

पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥३४॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।

प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥३५॥ ~मनुस्मृति {१/३२-३५}

३२ से ३५ तक के इन श्लोकों का आशय यह है कि तत्पश्चात उन्होंने "संसार की वृद्धि के अर्थ अपने आधे भाग से पुरुष और आधे भाग से स्त्री की सृष्टि की, उनसे प्रथम विराट, विराट से मनु और मनु से दस महर्षि मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि महर्षि उत्पन्न हुए, और ठीक यही बात दयानंद भी मानते हैं देखिये तभी तो उन्होने अपने **"सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में पृष्ठ १६८ पर यह लिखा है कि-- ब्रह्मा का पुत्र विराट, विराट का पुत्र मनु और मनु से मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि दश ऋषि उत्पन्न हुए,** इससे यही सिद्ध हुआ कि स्वामी जी भी यह मानते हैं कि आदि में प्रथम ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए और उन्होंने ही सब लोकों, मनुष्य आदि की सृष्टि की है, परन्तु इस बात को खुलकर स्वीकार करने में स्वामी जी की फटती है, क्योकि उन्होंने यह सोचा होगा जो इस बात को खुलकर स्वीकार कर लिया तो उनका यह कपोल

मत सनातन धर्म से भिन्न कैसे दिखेगा? इस कारण स्वामी जी ने यह बात कल्पना कर ली कि आदि में सैकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए, परन्तु यह सैकड़ों सहस्रों मनुष्य किस प्रकार उत्पन्न हुए? यह नहीं लिखा, जब तुम्हारा यह मत है बिना स्त्री पुरुष के संयोग के मनुष्य उत्पन्न नहीं हो सकता, तो फिर जो यह आदि में सैकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए लिखा है, क्या यह सब मनुष्य आसमान से टपके थे? यहाँ इस बात का प्रमाण क्यों न लिखा? या यह सैकड़ों सहस्रों मनुष्य भी आपकी ही भांति ग्यारह नियोग से उत्पन्न हुए थे इसलिए आपके लिए यह कह पाना कठिन है कि कौन किससे उत्पन्न हुआ? आपका तो समझ में आता है कि आपको अपने माता पिता का नहीं मालूम कि वे कौन थे? इस कारण अपने आत्मचरित में माता पिता का नाम छोड़ सब लिखा है, लेकिन सब मनुष्यों को अपनी ही भांति नियोग से उत्पन्न मान लेना यह तो गलत है, अरे सैकड़ों सहस्रों नहीं तो कम से कम दो चार का नाम लिखकर अपना मत तो प्रकट करते, तब हम बताते की आप कितने सही और कितने गलत हैं वैसे तो आपके ही द्वारा पृष्ठ १६८ पर लिखे इस एक वाक्य से कि-- ब्रह्मा का पुत्र विराट, विराट का पुत्र मनु और मनु से मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि दश ऋषि उत्पन्न हुए, इससे ही आपकी सब बातों का खंडन हो गया,

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १६६,

❝ (प्रश्न) मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई?

(उत्तर) त्रिविष्टप अर्थात् जिस को 'तिब्बत' कहते हैं

पुनः पृष्ठ १६७ पर यह लेख है कि--

(प्रश्न) फिर वे यहाँ कैसे आये?

(उत्तर) जब आर्य और दस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव अविद्वान् जो असुर, उन में सदा लड़ाई बखेड़ा हुआ किया, जब बहुत उपद्रव होने लगा तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर बसे, इसी से इस देश का नाम 'आर्यावर्त्त' हुआ

पुनः लेख है कि--

(प्रश्न) प्रथम इस देश का नाम क्या था और इस में कौन बसते थे?

(उत्तर) इस के पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे"

समीक्षक-- देखिये इस गवर्गण्ड को क्या अंड संड बके जा रहा है, लिखा है कि आदि में मनुष्यों की सृष्टि तिब्बत में हुई, अब कोई इस भंगेडानंद से यह पूछे कि यह बात इसने किस आधार पर लिखीं हैं, यहाँ इस बात में कोई प्रमाण क्यों न लिखा? अब तक तो केवल अंग्रेज ही कहते थे कि आर्य ईरान से आये थे, पर यह क्या इस दयानंद को यह क्या हो गया, यह तो उनसे भी दो कदम आगे निकल कर उससे भी आगे तिब्बत में मनुष्यों की उत्पत्ति लिख मारी, और अब जरा एक दृष्टि दयानंद के इस लेख पर डालकर देखें लिखा है कि-- "जब आर्य और दस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव अविद्वान् जो असुर, उन में सदा लड़ाई बखेड़ा हुआ किया, जब बहुत उपद्रव होने लगा तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर बसे। इसी से इस देश का नाम 'आर्यावर्त्त' हुआ

और पुनः पृष्ठ १६८ पर लिखा है कि-- इस के पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे"

अब कोई इस भंगेडानंद से यह पूछे कि इसने कौन से वेदानुसार यह तिब्बत से आने वाली बात लिखीं है, और जो यह **'त्रिविष्टप'** को तिब्बत लिखा है यह कौन से कोश में से निकाला है, जहाँ तक मैं जानता हूँ पूर्वकाल वा नवीनकाल का हमारे मत का कोई ऐसा ग्रंथ नहीं है जिसमें यह बात लिखीं हो, और जहाँ तक स्वामी जी के इस लेख की बात है तो वे तो थे ही थियोसोफिकल सोसायटी नामक ईसाई मिशनरी सभा के सदस्य सो यह बात उन्होंने वही से सिखी होगी, जिसे उन्होंने यहाँ लिख मारा न जाने दयानंद ने इससे अपना क्या लाभ सोचा होगा, अंग्रेजों ने ईरान कहा तो स्वामी जी ने तिब्बत लिखकर चुतियापंति का पहला सर्टिफ़िकेट हासिल करने की दौड़ में सबको पीछे छोड़ दिया, इससे दयानंद और उनके तथाकथित तिब्बती पूर्वजों की मूर्खता भी सिद्ध होती हैं कि **'त्रिविष्टप'** जिसका अर्थ स्वर्ग के सदृश हुआ उसे छोड़, उससे श्रेष्ठ आर्यावर्त को जाना, अब जबकि दयानंद ने यह माना कि आर्यावर्त सब भूगोल में श्रेष्ठ स्थान है तो सिद्ध है कि परमेश्वर ने प्रथम सृष्टि इसी देश में कि होगी, और यह भी एक बड़ी अद्भुत बात लिखी कि उत्पत्ति होते ही लड़ाई हुई और इस लड़ाई में विजयी आर्य ही हारे, शोक हे! ऐसी बुद्धि पर, इससे तो यह सिद्ध हुआ कि दयानंद और उनके नियोगी चमचे सब दिन से आर्यावर्त में नहीं रहते थे, क्योकि इससे पूर्व वह तिब्बत में रहते हैं, इससे वह तिब्बती हुए, और इस देश को उत्तम जान यहाँ आ बसे, सिद्धांत यह कि वेदशास्त्र में जो कुछ

आर्यावर्त की महिमा लिखीं हैं दयानंद ने उस पर धूल डाल दी, और यह बात कौन से ग्रंथ में लिखी है कि मनुष्यों की सृष्टि तिब्बत में हुई, जो बिना प्रमाण हमारे अक्ल से पैदल दयानंदी भाई 'त्रिविष्टप' से तिब्बत दयानंद की इस कपोल कल्पना को सही मानते हैं तो ईरान से आर्य अंग्रेजों का यह कथन प्रमाण क्यों नहीं? दयानंद की कपोल कल्पना किस आधार पर सत्य जान लिया, और यदि ऐसा मानते हो कि आर्यों के इस देश में आने से इस देश का नाम आर्यावर्त पड़ा तो इससे पूर्व जिस देश में रहते थे उसका नाम तिब्बत क्यों? उसका नाम भी आर्यवर्त होना चाहिए था और जैसा कि देखने में आता है कि जो जहाँ का होता है उसे उसी नाम से जाना जाता है जैसे ईरान के रहने वाले ईरानी, यूरोप के रहने वाले यूरोपियन, उसी प्रकार तिब्बत के रहने वाले तिब्बती हुए और आर्यावर्त में रहने वाले आर्य कहलाते हैं परन्तु दयानंद तो अंग्रेजों की ही भाँति इससे उल्टी ही बात लिखते हैं इससे ही दयानंद की बुद्धि का पता चलता है, सुनिये आर्य कहीं से आयें नहीं किन्तु सदा से इसी देश में रहने वाले हैं इसी से इस देश को आर्यावर्त कहते हैं जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है कि--

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादा समुद्राच्च पश्चिमात्।

तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ ~मनुस्मृति {२/२२}

पूर्वी (बंगाल के) समुद्र से लेकर पश्चिमी (अरब देश के) समुद्र तक हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य स्थित जितना देश हैं उसको आर्यावर्त कहते हैं, और अब दयानंद की उस बात का उत्तर लिखते हैं जिसमें उन्होंने लिखा है कि-- इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और तिब्बतियों के आने से पूर्व इस देश में कोई नहीं बसता था

सरस्वतीदृशद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ ~मनुस्मृति {२/१७}

सरस्वती नदी जो कि गुजरात और पंजाब देश के पश्चिम भाग में बहती है और दृषद्वती नदी जो कि नेपाल के पूर्व भाग में बहती है इन दोनों पवित्र नदियों के मध्य जितना देश हैं वह आर्यावर्त की अपेक्षा से पुण्य देश है और देवताओं द्वारा निर्मित है उसको ब्रह्मावर्त कहते हैं, क्योकि ब्रह्मा जी ने प्रथम मनुष्यों की सृष्टि इसी स्थल में की इस कारण पूर्वकाल में इस देश का नाम ब्रह्मावर्त हुआ, इसके पश्चात अन्य देश बसे और सब देशों के मनुष्यों ने इस देश से विद्या सीखी, सुनिये--

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ ~मनुस्मृति {२/२०}

इस देश के उत्पन्न हुए विद्वानों से सारी पृथ्वी के मनुष्य अपने चरित्र और विद्याओं को सीखें यही के लोगों से सबने विद्या सीखी यहाँ यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मावर्त ही सब की सृष्टि का मूल स्थान है और यही से और देशों को विद्या गईं,

हाँ यदि अब भी दयानंद के नियोगी चमचे यही हठ ठान कर बैठे हैं कि हम तो स्वयं को तिब्बती ही मानेंगे तो, फिर गिरों अंधकूप में हमें क्या?

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १६७,

“सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।

तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्त्तं प्रचक्षते॥ ~मनुस्मृति {२/२०}

समीक्षक-- अब जरा एक दृष्टि इस श्लोक पर डालिये, इस श्लोक में भी दयानंद ने उसी प्रकार उल्ट फेर किया हैं जैसा अन्य वेदादि श्रुतियों के साथ किया हैं देखों यहाँ **'देशं ब्रह्मावर्तं'** यह पद आया है जिसे दयानंद ने बदलकर उसके स्थान पर **'देशमार्यावर्त्तं'** लिख लोगो को भ्रमित करने का प्रयास किया है इसका अर्थ पूर्व लिख आये हैं, अब यहाँ दयानंद से यह प्रश्न है कि जब वह स्वयं निर्मित उल्टी सीधी संस्कृत को ही प्रमाण मानते हैं तो फिर उन्हें मनुस्मृति आदि का बता लोगों को भ्रमित क्यों करना? सिधा सिधा लिख देते की हम मनुस्मृति आदि ग्रंथों को नहीं बल्कि स्वयं निर्मित वाक्यों को ही प्रमाण मानते हैं, वेदादि शास्त्रों में मिलावट कर लोगों को भ्रमित क्यों करना?

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १६८,

“आर्यवाचो म्लेच्छवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥१॥ ~मनु० {१०/४५}

म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥२॥ ~मनु० {२/२३}

जो आर्यावर्त देश से भिन्न देश हैं वे दस्युदेश और म्लेच्छदेश कहाते हैं”

समीक्षक-- देखों इस गपोड़ियें को क्या अंड संड लिखा है, यहाँ दयानंद ने यह लीला रची की आधा श्लोक लिखकर आधा श्लोक गडप गये, सुनिये पुरा श्लोक इस प्रकार है कि--

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।

म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ ~मनुस्मृति {१०/४५}

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र द्वारा अपने क्रियालोप अर्थात अपने कर्तव्यों का त्याग करने से जो अधमजाति उत्पन्न होती है वह दस्यु कहलाती है, फिर चाहे वो मलेच्छ भाषा बोलने वाले हो या आर्य भाषा बोलने वाले, यह इसका अर्थ है,

इसका अर्थ यह नहीं कि इससे भिन्न देश दस्यु देश कहातें है, बल्कि इसका भाव यह है कि आर्यावर्त देश में भी कर्महीन, क्रियाभ्रष्ट लोगों का नाम दस्यु प्रचलित था और जो आधा ही श्लोक प्रमाण मानोगे तो इस श्लोकानुसार **(आर्यवाचो म्लेच्छवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः)** जितने लोग स्वयं को आर्य कहते हैं उन सबकी दस्यु संज्ञा हो जायेगी, इससे ही दयानंद की बुद्धि का पता चलता है, दयानंद ने यह नहीं जाना कि इस आधे श्लोक से सबकी दस्यु संज्ञा हो गई फिर चाहे वह मलेच्छ भाषी हो या फिर आर्य भाषी,

और अब एक दृष्टि दयानंद के इस अर्थ पर डालिये, दयानंद ने लिखा है कि-- "जो आर्यावर्त देश से भिन्न देश हैं वे दस्युदेश और म्लेच्छदेश कहाते हैं" इससे तो यह सिद्ध हुआ कि दयानंद और उनके नियोगी चमचे इस देश में आने से पूर्व म्लेच्छदेश (तिब्बत) में रहा करतें थे, इससे दयानंद लेखानुसार उनकी और उनके नियोगी चमचों की मलेच्छ और दस्यु संज्ञा हुई, अर्थात मलेच्छ और दस्यु कोई और नहीं बल्कि तिब्बत से आकर बसे दयानंद और उनके नियोगी चैले ही है, और हमारे इस आर्यावर्त को सब भूगोल में श्रेष्ठ स्थान जानकर यहाँ आ बसे और स्वयं को आर्य पुत्र कथन करने लगे? इससे ही स्वामी जी की बुद्धि का पता चलता है कि उनमें कितनी बुद्धि रही होगी, उन्हें तो अपने पूर्व लिखें लेखों का भी स्मरण नहीं रहता, ऐसा चुतिया व्यक्ति मैंने अपने जीवन में नहीं देखा जो अपने लेख से अपने ही मत

का खंडन करता है देखिये जब यहाँ यह माना कि इस आर्यावर्त देश से भिन्न देश दस्युदेश और मलेच्छदेश कहाते है तो इससे तो यही सिद्ध होता कि इस देश में आने से पूर्व दयानंद, उनके पूर्वज और उनके नियोगी चमचे सब के सब मलेच्छदेशी हुए, इसी कारण बोलता हूँ कि यह आधा अधुरा श्लोक लिखकर अर्थ का अनर्थ करना सही नहीं है, सिर्फ अपना स्वार्थ साधने के चक्कर में दयानंद ने यह अधूरा श्लोक यहाँ लिखा है परन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा था कि इससे तो उनका ही मत बिगाड़ता, अपने विरुद्ध वह स्वयं खंडन कर रहे हैं, यह स्वामी जी के भंग की तरंग नहीं तो क्या है? भला जिसे अपने पूर्व लिखें लेख ही स्मरण न रहते हो ऐसे भंगेडी की बातों का क्या प्रमाण?

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १७१,

“(प्रश्न) सूर्य चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है वा नहीं?

(उत्तर) ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती हैं क्योंकि-

एतेषु हीदँ सर्वं वसुहितमेते हीदँ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदँ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ~शत० का० १४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इन का वसु नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं और ये ही सब को वसाते हैं, जिस लिये वास के निवास करने के घर हैं इसलिये इन का नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं पश्चात् उन में इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह?”

समीक्षक-- अपने इस लेख से तो स्वामी जी ने चुतियापंति के सारे रिकॉर्ड ही तोड़ दिये, इस लेख को पढ़ने मात्र से ही पता चलता है कि दयानंद में कितनी बुद्धि रही होगी, यहाँ प्रश्नकर्ता और उत्तर देने वाला दोनों ही उच्च कोटि के चुतिया है, देखिये प्रथम तो दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में पृष्ठ १३२ पर यह लिखा है कि- "तेंतीस देवता अर्थात, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र" यहाँ स्वामी ने इन्हें चेतन मान तेंतीस देवों में से यह आठ वसुगण कथन किये, और फिर यहाँ उन्हें जड़ मानकर, उनमें मनुष्यादि प्रजा बसा दी, अब प्रथम तो यहाँ दयानंद से यह प्रश्न है कि इनमें से तुम्हारा कौन सा कथन सत्य मानें? यह आठ वसुगण जो आपने यहाँ कथन किये हैं उन्हें आप क्या मानते हैं जड़ या फिर चेतन?

दूसरा प्रश्न-- जो तुमने यह लिखा है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र आदि ये सब भूगोल लोक है, सो यहाँ यह बताओ कि जल, अग्नि, वायु, आकाश को भूगोल किस आधार पर लिखा है? क्या जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि की भूगोल आकृति आपने कहीं देखी है? इनमें मनुष्यादि प्रजा के बसने योग्य ठोस धरातल है जो इन्हें भूगोल लोक कथन कर दिया, और आकाश जो अनन्त है जिसका अन्त कोई नहीं जानता, आपने उसे भी भूगोल कथन कर दिया, आपके दिमाग का कोई स्क्रु ढिला तो नहीं है।

तीसरा प्रश्न-- अग्नि और सूर्य जो कि सब कुछ भस्म करने का सामर्थ्य रखते हैं आपने उनमें मनुष्यादि प्रजा की मिथ्या कल्पना किस आधार पर की? जबकि आपने स्वयं अपने एकादश समुल्लास में मंत्रों की सिद्धि को नकारते हुए यह तर्क दिया है कि-- **"जो कोई यह कहें कि मंत्र से अग्नि उत्पन्न होता है तो वह मंत्र**

के जप करने वाले के हृदय और जिह्वा को भस्म कर देवें" और इसके विपरीत यहाँ यह दौगलापन दिखाया कि अग्नि सूर्य आदि में मनुष्यादि की सृष्टि लिख मारी, यहाँ तुम्हारा वो सिद्धांत की अग्नि अपने सम्पर्क में आने वाले सब पदार्थ मनुष्यादि को भस्म कर देवें कहाँ घुस गया, यह खड़ा बाल आपमें सनातन मत के विरुद्ध ही क्यों दिखता है? कहिये क्या आपके इस लेखानुसार अग्नि सूर्य आदि में मनुष्यादि प्रजा का होना सम्भव है? क्या यह मनुष्यादि जीवों को भस्म न कर देंगे?

स्वामी जी सूर्य पर मनुष्यादि प्रजा होने की कल्पना करते हैं सो उनसे यह प्रश्न है कि जिस सूर्य का सतही तापमान लगभग ६०००°C (छ: हजार डिग्री सेल्सियस) और सतही दबाव इतना है कि धातु तक को तरल में परिवर्तित कर दें उस पर मनुष्यादि प्रजा होने जैसी असम्भव बात स्वामी जी के दिमाग में आयी कैसे? यहाँ पृथ्वी पर ही ४०-५०°C तापमान पर मनुष्य का तेल निकल जाता है और स्वामी जी है कि मनुष्यादि को सूर्य पर बसा रहे हैं धन्य हे! भंगेडानंद जी आपकी बुद्धि,

और सुनिये अपने इस चुतियों वाले लेख में दयानंद ने जो यह शतपथ ब्राह्मण से श्रुति प्रमाण लिखा है और इसका यह अर्थ लिखा है कि-- "एतेषु हीदँ सर्वं वसुहितमेते हीदँ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदँ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ~शत० का० १४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इन का वसु नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं और ये ही सब को वसाते हैं। जिस लिये वास के निवास करने के घर हैं इसलिये इन का नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं पश्चात् उन में इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह"

यह अर्थ भी दयानंद ने मिथ्या कल्पना किये हैं इस श्रुति का यह अर्थ नहीं बनता, यह मिथ्या अर्थ दयानंद ने अपनी बुद्धि अनुसार कल्पना किया है सो दयानंद का यह अर्थ मानने योग्य नहीं है, सुनिये यह श्रुति इस प्रकार है कि--

अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ~शतपथ ब्राह्मण {१४/६/९/४}

अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्र और नक्षत्र, यह आठ देव अष्ट वसु इस कारण कहाते है क्योंकि इन्हीं से सम्पूर्ण जगत् सन्निहित है इसलिए इन्हें वसुगण कहते हैं और यही अपने-अपने गुण, कर्म से सबको बसाते है, भाव यह है कि यह आठ वसुगण अपने-अपने गुण कर्म से मनुष्यादि जीवों के बसने योग्य परिस्थिति उत्पन्न करते है, जैसे सूर्य अपने ताप और प्रकाश आदि गुण से सब जगत् को प्रकाशित करता और जल को वाष्प में परिवर्तित कर वर्षा करता है जैसे पृथ्वी मनुष्यादि जीवों के के लिए आश्रय स्थल रूप में और अन्न औषधि आदि से मनुष्यादि जीवों का पालन पोषण करती है, इसी प्रकार यह अष्ट वसु अपने अपने गुणों से मनुष्यादि आदि जीवों को बसाते अर्थात उनके अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं, यह इसका अर्थ है जो दयानंद ने कुछ का कुछ लिख दिया, इसमें यह कही नही लिखा कि सूर्य तारों आदि में मनुष्यादि प्रजा बसते है, यह मिथ्या अर्थ तो दयानंद के कपोल भंडार से निकलें है, इस कारण यह मानने योग्य नहीं,

हाँ यह बात सब विद्वानों के मन में अवश्य आती है कि इस विशाल ब्रह्मांड में पृथ्वी जैसे और भी ग्रह हो सकते हैं, जिनमें शायद हमारी ही भांति मनुष्यादि जीव रहते हो, परन्तु सूर्य तरों

आदि ऊर्जा स्रोतों पर मनुष्यादि प्रजा की कल्पना करना सिवाय चुतियों के और किसी के बुद्धि में नहीं आ सकती।

॥इति चुतियार्थप्रकाश अष्टमसमुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

॥सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत नवम् समुल्लासस्य खंडनंप्रारभ्यते॥

सत्यार्थ प्रकाश नवम् समुल्लास पृष्ठ १७५,

❝(प्रश्न) यह जो ऊपर को नीला और धूंधलापन दीखता है वह आकाश नीला दीखता है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं,

(प्रश्न) तो वह क्या है?

स्वामी जी इसका उत्तर यह लिखते हैं कि--

(उत्तर) अलग-अलग पृथिवी, जल और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं। उस में जो नीलता दीखती है वह अधिक जल जो कि वर्षता है सो वही नीला दिखाई पड़ता है❞

समीक्षक-- पता नहीं स्वामी जी अपने आपको क्या समझते हैं दो कौड़ी की बुद्धि नहीं इनमें और चले हैं वैज्ञानिक बनने, लिखा है कि आकाश का नीला रंग उसमें उपस्थित जल के कारण दिखाई पड़ता है जो वर्षता है सो वही नीला दिखाई पड़ता है, धन्य हे! भंगेडानंद तेरी बुद्धि, अब कोई स्वामी भंगेडानंद जी से यह पूछे कि यदि जल के कारण आकाश का रंग नीला दिखाई पड़ता है तो फिर बादलों में तो लबालब पानी भरा होता है फिर वह काले सफेद रंग के क्यों दिखाई पड़ते हैं?

दूसरा प्रश्न-- जबकि जल रंगहीन होता है उसका कोई अपना रंग ही नहीं होता तो भला उससे आकाश आदि का रंग परिवर्तन किस प्रकार सम्भव है?

ऐसी-ऐसी चुतियापंति से भरी बात करने मात्र से ही दयानंद की बुद्धि का पता चलता है, सुनिये आकाश का रंग नीला जल के कारण नहीं बल्कि, सूर्य के प्रकाश का पृथ्वी के वायुमंडल में उपस्थित गैसादि अणुओं से टकराने के पश्चात हुए प्रकाश के परावर्तन के कारण दिखाई देता है,

वास्तव में प्रकाश एक प्रकार की ऊर्जा है, जो विद्युत चुम्बकिय तरंगों के रूप में संचरित होती है

सूर्य से आने वाली प्रकाश किरणों में सभी रंग पहले से विद्यमान होते हैं परन्तु हमारी आँखें केवल उन्हीं रंगों को देख पाती है, जिसकी तरंगदैर्ध्य दृश्य सीमा के भीतर होती है, तकनीकी या वैज्ञानिक संदर्भ में किसी भी तरंगदैर्ध्य के विकिरण को प्रकाश कहते हैं, प्रकाश का मूल कण फ़ोटान होता है, प्रकाश की प्रमुख विमायें निम्नवत है,

१• तीव्रता जो प्रकाश की चमक से सम्बन्धित है

२• आवृत्ति या तरंग्दैर्ध्य जो प्रकाश का रंग निर्धारित करती है।

अब सुनिये होता यह है जब सूर्य का प्रकाश हमारे वायुमंडल में प्रवेश करता है तो उसमें उपस्थित धुल गैसादि के अणुओं से टकराकर चारों ओर बिखर जाता है इन बिखरे हुए प्रकाश किरणों में छोटी तरंगदैर्ध्य वाले बैगनी, आसमानी और नीला रंग ज्यादा बिखरते है, जबकि इनकी अपेक्षा लम्बी तरंगदैर्ध्य वाली प्रकाश किरणें कम बिखरती है, यही तीनों रंग हमारी आँखों तक सबसे ज्यादा पहुँचते हैं, इन तीनों रंगों का मिश्रण नीले रंग के सदृश बनता है, इस कारण आकाश हमें नीला दिखता है, और स्वामी जी इसमें क्या चुतियापंति लिखीं हैं वह आपके सामने है,

सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत दशम् समुल्लासस्य खंडनंप्रारभ्यते

इस समुल्लास को लिखते समय स्वामी जी अपनी बुद्धि न जाने कहाँ रखकर भूल गये, यह पूरा समुल्लास परस्पर विरुद्ध बातों से भरा हुआ है पहले तो स्वामी जी ने इसमें शूद्रों के हाथ का पका भोजन खाना लिखा और फिर बाद में शूद्रों के हाथ का खाने को मना किया, यहाँ तक की मनुष्यों का मांस खाना भी लिखा है, शोक हे ऐसी बुद्धि पर, ऐसा बावला इंसान तो मैंने आज तक नहीं देखा, जिसे अपने लिखें कि कोई सुध नहीं कि क्या अंड संड लिखें जा रहा है, वो घंटा दूसरों का मार्गदर्शन करेगा, सो आइए अब आपको दयानंद की वो गपडचौथ दिखलाते हैं

सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास पृष्ठ १११,

“जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूँछ रखने से भोजन पान अच्छे प्रकार नहीं होता”

समीक्षक-- वाह रे भंगेडानंद वाह बस यही दो बातें लिखना शेष रह गया था, सो वह भी पुरा कर दिया, थियोसोफिकल सोसायटी जैसी ईसाई मिशनरी सभा से प्रीती का असर साफ दिख रहा है तुम्हारी सोच भी बिल्कुल ईसाइयों जैसी ही है बिल्कुल सफाचट, धर्म, कर्म, संस्कार सब धो ड़ाला, जैसे तुम सन्यासी होकर शिखा

डाढ़ी मूँछ नहीं रखते वैसे ही तुम चाहते हो सब हो जाएं, अब यदि तुमको कोई वेदनिन्दक भी कहें तो उसका कहना अनुचित नहीं होगा, भारत में भी लगभग छः महीने से अधिक उष्णता रहती है, तो फिर साफ लिख देना था कि छ: महीने को डाढ़ी मूँछ, सर के बाल के साथ चूटिया तक मुंडवा दो, खास कर अपने चैलों को तो तुम यही आज्ञा करते हो कि तुम लोग ईसाइयों की भांति शिखा सहित सिर के बाल मुंडवा दिया करों क्योकि अत्यधिक गर्मी से बुद्धि कम हो जाती है, परन्तु तुम्हारी इस सत्यार्थ प्रकाश को देखकर विदित होता है कि तुमने यह पुस्तक जरूर सर पर ऊनी वस्त्र बांधकर या फिर भट्टी में सर घुसेड़कर लिखीं होगी, तभी बुद्धिहीनता की इतनी बातें लिखी है, चलों डाढ़ी मूँछ का तो तुमने यह कारण बताया कि इससे खानपन अच्छी प्रकार नहीं हो पता, परन्तु शिखा से क्या हानि होती है? वह तो खान पान में बाधा नहीं डालती, फिर शिखा उड़ाना क्यों लिखा? जैसी तुम्हारी हरकतें है उसे देखकर तो यही समझ में आता है कि तुम्हारे मन यह भय होगा कि कभी किसी से विवाद हो गया तो लड़ाई में कोई तुम्हारी या तुम्हारे चैलों की चुटिया पकड़ कर सुत न दें लेकिन तुमने स्वयं अपनी संस्कार विधि में शिखा सूत्र का धारण करना लिखा है अब यदि शिखा रखने से बुद्धि कम होती है तो फिर शिखा सूत्र का संस्कार विधि में धारण करना व्यर्थ ही लिखा है, फिर यज्ञोपवीत भी धारण करना व्यर्थ है तो यह संस्कार उडाकर वेद पर भी हडताल फेर दी होती, तुम्हें यह ने सूझी की यदि डाढ़ी मूँछ में उच्छिष्ट लग गया तो क्या वह पानी से नहीं धुल सकती, या तुम इतने बड़े वाले आलसी हो कि भोजन करने के पश्चात मूहँ भी नहीं धोते, और जब शिखा ही उडा दी, तो जरा अब अपने उस लेख को याद करों जो तुमने पंच महायज्ञ विधि के पृष्ठ ५ पर यह लिखा है कि

" इसके अनंतर गायत्री मंत्र से शिखा को बांध कर रक्षा करे "
अब जब तुमने शिखा ही उडवा दी तो भला शिखा बांधें कैसे? और जब तक शिखा नहीं बांधते तब तक तुम्हारे कथनानुसार रक्षा कैसे होगी? इसलिए तो कहता हूँ कि स्वामी जी को अपने लिखें कि ही सुध नहीं कब क्या लिखा और कब क्या? उन्हें स्वयं नहीं पता, स्वामी जी की यह सत्यानाश प्रकाश परस्पर विरुद्ध बातों से भरी हुई हैं, यह सिर्फ स्वामी जी का ढ़ोग है, यह आर्यों को भ्रष्ट करने को ढ़ंग चलाया है क्योंकि आर्यों के यह दो ही विशेष चिन्ह है शिखा और सूत्र सो स्वामी जी ने यही मिटने को यह लोप लीला चलाईं है, इस कारण दयानंद की यह बात मानने योग्य नहीं, सन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने के समय को छोड़ और किसी भी समय शिखा का त्याग नहीं करना चाहिए यही वेदों की अज्ञा है

सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास पृष्ठ १९८,

❝ अधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः।

यह आपस्तम्ब का सूत्र है, आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि सेवा करें, आर्यों के घर में जब रसोई बनावें तब मुख बांध के बनावें, क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्न में न पड़े ❞

समीक्षक-- अब इस धूर्त दयानंद की बुद्धि को क्या कहें? अपनी आदत से मजबूर दयानंद ने यहाँ भी अर्थ का अनर्थ ही किया है प्रथम तो कोई इस दयानंद से यह पूछे कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति मूर्ख स्त्री पुरुष को रसोई बनाने का काम क्यों देगा? जबकि रसोई बनाना भी काफी चतुराई का कार्य है, रसोइये भी

केवल वहीं लोग रखते हैं जो धनवान है और धनी लोगों के घरों में विविध प्रकार के व्यंजन बनते हैं जो केवल चतुर और निपुण लोग ही बना सकते हैं क्योंकि प्राचीन समय में भोजन आदि बनाने का कार्य भी केवल उन्हीं लोगों को दिया जाता था जो सूपशास्त्रादि जानते थे, मैंने तो आज तक नहीं सुना कि रसोई बनाने को किसी ने मूर्ख रखें हो, और जो मुर्ख स्त्री पुरुष को रसोई बनाने का काम दिया तो वो निश्चित ही अपने लक्षणानुसार कुछ न कुछ मूर्खता अवश्य करेगा, भला निर्बुद्धि और मुर्ख स्त्री पुरुष जिन्हें सिखायें कुछ भी न आए वह रसोइ कैसे बना सकते हैं? और धनी लोगों के घरों में तो विविध प्रकार के व्यंजन बनते हैं भला मूर्ख स्त्री पुरुष कैसे बना सकेंगे? वेदादि शास्त्रों में कहीं भी यह नहीं लिखा और न ही कभी सुना है कि द्विजों के घर में शूद्र रसोई बनावें, यह तो स्वामी धूर्तानंद जी की लीला है जो द्विजों के घरों में शूद्रों को रसोई करना लिखते हैं और जो सूत्रार्थ दयानंद के ही अनुसार करें तो इसका यह अर्थ होता है कि 'आर्यों के यहाँ शूद्र संस्कार करने वाले' अर्थात झाड़ू, पोछा करना, बर्तन माजना, कपड़े धौना सेवादि संशोधन के कार्य शूद्र करते थे, और अब भी यह कार्य कहारादि करते ही हैं परन्तु भोजन बनवाकर खाना ऐसा तो इस सूत्र में कोई शब्द नहीं लिखा, इसलिए दयानंद का यह कथन असत्य सिद्ध होता है

सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास पृष्ठ १९८,

“जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत, दूध, पिशान, शाक, फल, मूल खाया उन्होंने जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया”

समीक्षक-- स्वामी जी के इस लेख से क्या प्रतीत होता है यही कि सब जात के हाथ का भोजन करने से सब संसार एक जात हो

जाएं, पहले चुटिया कटवाई और अब सब जाति एक बनाईं यह तो दयानंद का गुप्त अभिप्राय था कि मुस्लिम, ईसाई, चांडालादि सबको एक ही कर देना चाहिए क्योंकि गुड़, चीनी प्रायः सब ही खाते हैं तो सब ही भ्रष्ट हो गए और फिर तुमने ही दशम समुल्लास के पृष्ठ १९८ पर यह लिखा है कि “शूद्रों के पात्र में तथा उनके घर का अन्न आपातकाल के बिना कभी न खावें”

अब कोई इस भंगेडानंद जी से यह पूछे कि गुड़, चीनी, घृतादि खाने से जब सब एक ही हो गए, तो फिर शूद्र के यहाँ खाने में क्या दोष रहा ? वाह रे भंगेडानंद यही तो तुम्हारी बुद्धि है कहीं कुछ लिखा तो कही कुछ और अपने हुक्का पिने की बात यहाँ न लिखीं

सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास पृष्ठ १९९,

“और मद्य, मांसाहारी म्लेच्छ कि जिन का शरीर मद्य, मांस के परमाणुओं ही से पूरित है उनके हाथ का न खावें”

समीक्षक-- स्वामी जी की बुद्धि का क्या कहें देखिए पहले तो स्वयं ही लिखा कि “ जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत, दूध, पिशान, शाक, फल, मूल खाया उन्होंने जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया ” और अब मलेच्छों के हाथ का खाने का निषेध करते हैं, धन्य है स्वामी भंगेडानंद जी आपकी बुद्धि, यदि मलेच्छों का शरीर मद्य, मांस के परमाणुओं ही से पूर्ण है, तो शुद्र भी तो मांस खाते हैं, फिर मलेच्छों के हाथ के भोजन में जो दोष लिखा, क्या वह दोष शूद्रों के हाथ का भोजन करने में नहीं लगता? शोक है ऐसी बुद्धि पर कहीं तो भंग के नशे में कुछ लिखा और कहीं कुछ इसी से तो कहता हूँ कि स्वामी जी में

बुद्धि की बहुत कमी थी, और स्वामी जी ने यहाँ अपने बारे में न बताया, स्वामी जी स्वयं मलेच्छों के हाथ का खाते पिते थें " थियोसोफिकल सोसायटी " जैसी ईसाई मिशनरी सभा स्वामी जी जिसके अहम सदस्यों में से थे, इस ईसाई मिशनरी सभा के संस्थापकों कर्नल आल्काट, मैडम ब्लैवाटस्की जैसे ईसाइयों के साथ स्वामी जी का प्रतिदिन का उठना बैठना, चाय नाश्ता, भोजनादि होता ही था, तो क्या मलेच्छों के हाथ का व उनके साथ खाने से यह दोष उनपर नहीं लगता?

सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास पृष्ठ २००,

❝यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उन्हें दण्ड देवें और प्राण भी वियुक्त कर दें।

(प्रश्न) फिर क्या उन का मांस फेंक दें?

(उत्तर) चाहें फेंक दें, चाहें कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है❞

समीक्षक-- धन्य हे स्वामी जी तुम्हारी बुद्धि, स्वामी जी ने यहाँ मनुष्यों का मांस खाने खिलाने की परिपाटी निकाली है, कोई इस दयानंद से यह पूछे कि क्या कहीं मनुष्य भी खाये जाते हैं? स्वामी जी ने जो अपने आत्मचरित में दरिया से मृत शव निकालकर चाकू से चीरने फाडनें की बात स्वीकारी है उसका कारण नाड़ी चक्र का परीक्षण नहीं बल्कि हो सकता है स्वामी जी को भूख लगी हो सो ऐसा काम किया हो, क्योकि स्वामी जी अपने इस लेख में मांसाहारीयों को मनुष्य का मांस खाना लिखते

है और कहते हैं कि ऐसा करने से संसार की कुछ हानि नहीं होती, हिंसक जीव शेर, चिता, भेडिया आदि का मांस तो कोई मनुष्य नहीं खाता और मनुष्य का मांस भी मनुष्य नहीं खाते इसलिए यह दोनों बातें बुद्धि के विरुद्ध है, और मांसाहारी जीव कुत्ते आदि तो मांस खाते ही यह सबको पता है परन्तु कुत्ते आदि मांसाहारी जीव भी मनुष्य का मांस नहीं खाते, जो उन्हें मनुष्यों का मांस या अन्य जीवों का मांस खिलाते है तो मांस खाने से उनका स्वभाव और अधिक हिंसक होगा और मनुष्य का मांस खिलाने से मनुष्य का खुन उनके मूहँ लग जाएगा जिससे वो हिंसक हो मनुष्यों को हानि पहुँचाएंगे इससे तो संसार की हानि ही होगी, और जब मांस खाने से मनुष्यों का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है तो इससे संसार की हानि कैसे नहीं होती इससे तो संसार की बहुत बड़ी हानि है, स्वामी जी ने यह मांसविधि भी आलौकिक लिखीं हैं, एक का मांस दुसरे को खिलाकर जीव का स्वभाव हिंसक बनाने और मांसाहार को बढ़ावा देने की विधि लिखीं हैं, जीव हिंसा और मांस भक्षण यह धर्म का अंग नहीं होने से वेद विरुद्ध है, इस प्रकार के वेद विरुद्ध लेख लिखने से ही दयानंद की बुद्धि का पता चलता है।

सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास पृष्ठ २००,

“(प्रश्न) एक साथ खाने में कुछ दोष है वा नहीं?

(उत्तर) दोष है, क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती, जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है”

समीक्षक-- जब साथ भोजन करने मात्र से स्वभाव प्रकृति आदि में अन्तर पडता है तो भला शूद्र जिनका शरीर मद्य, मांस के

परमाणुओं ही से पूरित होता है यदि वह भोजन बनावेगा तो उसके हाथों से आटा मिडना आदि होने से क्या स्वभाव में विकृति नहीं होगी बिल्कुल होगी, इसी कारण तो कहते हैं कि स्वामी जी ने यह पुस्तक भारी भंग के नशे में लिखी है तभी तो कहीं कुछ और कही कुछ लिखा है, इसे तो स्वयं अपने लिखें कि ही सुध नहीं, तभी तो पहले पृष्ठ १९८ पर, शूद्र के हाथों का बना भोजन खाने को लिखा फिर आगे अपने ही विरुद्ध खंडन करते हुए डंके की चोट पर शूद्रों के हाथ का खाने का निषेध किया है, देखिए ...

सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास पृष्ठ २०१,

❝(प्रश्न) मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है?

(उत्तर) दोष है, क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि दोष रहित रज वीर्य उत्पन्न होता है वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नहीं, क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं, इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डालादि नीच भंगी चमार आदि का न खाना❞

समीक्षक-- कदाचित दयानंद ने यह समुल्लास मलेच्छों के हाथ का भोजन करकें लिखा हो तो कोई आश्चर्य नहीं क्योकि यह पुरा समुल्लास परस्पर विरुद्ध बातों से भरा हुआ है देखिए प्रथम तो पृष्ठ १९८ पर, शूद्र के हाथ का भोजन करना लिखा तो कहीं सबको एक जाति करने का आशय झलकाया तो कहीं मनुष्यादि का मांस भक्षण करना लिखा है, पर अंत में सत्य बात ही मुख से निकली, अपने पूर्व लिखें लेखों का खंडन करते हुए दयानंद स्वयं लिखते हैं कि शूद्रों के हाथ का भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि

नीच के हाथ का भोजन करने से उनके शरीर की दुर्गन्धादि से भोजन हानि और रोगकारक होकर स्वभाव को बिगाड़ता है, इसी कारण द्विजों को नीच मद्य, मांसाहारी जिन का शरीर मद्य, मांस के परमाणुओं ही से पूरित है उनके हाथ का न खाना चाहिए, देखिए मनु मे भी लिखा है-

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।

आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम्॥३॥ ~मनुस्मृति [अ० ४, श्लोक २२४]

अर्थात विद्वान द्विजों को शूद्रों के पात्र एवं उनके हाथ का पका भोजन न करना चाहिए, और जो कहीं आपदा आन पड़ी हो और भोजन न मिलता हो तो एक दिन के निर्वाह मात्र कच्चा अन्न (कच्चा सीधा दाल आटादि) ले लेवें।

यहाँ भी यही विदित होता है कि विपत्ति के समय आवश्यकता पड़ने पर एक दिन के निर्वाह मात्र कच्चा सीधा जैसे दाल आटादि ले लेवें, परन्तु शूद्र के हाथ का पका भोजन नही करना चाहिए

॥इति सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत दशम् समुल्लासस्य खंडनम् समाप्तम्॥

तृतीय खंड
दयानंद कृत वेदभाष्यों की समीक्षा

दयानंद का कामशास्त्र
वेदभाष्य या फिर कामशास्त्र

जिन भड़वे समाजियों का उद्देश्य सनातन धर्म ग्रंथों के उदाहरणों को गलत संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए- धर्म के न जानने वालों के बीच भ्रम का भाव उत्पन्न कर उन्हें धर्म के मार्ग से विमुख करना है सनातनधर्मियों को अपमानित करना व उन्हें नीचा दिखाना, धर्म विरोधीयों की सहायता करना आदि हैं, उनके लिए सप्रेम ----------

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-१)

पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीन्स्थूलगुदया सर्पान्गुदाभिर्विह्लुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनग्वगं शेपेन प्रजाग्वं रेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः॥ ~यजुर्वेद {अध्याय २५, मंत्र ७}

दयानंद अपने यजुर्वेदभाष्य में इस मंत्र का अर्थ यह लिखते हैं कि---

हे मनुष्यों! तुम मांगने से पुष्टि करने वालों को स्थूल गुदेंद्रियों के साथ वर्तमान, अंधे सर्पों को गुदेंद्रियों के साथ वर्तमान विशेष कुटिल सर्पों को आंतों से, जलों को नाभि के नीचे के भाग से, अंडकोष को आंडों से, घोडे के लिंग और वीर्य से संतान को,

पित्त से भोजनों को, पेट के अंगो को गुदेंद्रिय और शक्तियों से शिखावटों को निरंतर लेओं।

समीक्षक-- अब कोई इन नियोग समाजीयों से यह पूछे कि उन्हें दयानंद द्वारा किये गये अधिकांश मंत्रो के ऐसे अर्थ अश्लील क्यों नहीं लगते? और जब इस वेद ऋचा की ही भांति इन्हें अन्य सनातनी धर्म ग्रथों मे कोई श्रुति या श्लोक दिख जाता हैं तो अपनी बुद्धि अनुसार ही उसके अर्थ का अनर्थ कर आप्त पुरूषों द्वारा रचित ग्रंथों का अपमान करते है और उल्टा सनातनधर्मियों और उनके शास्त्रकारों को-- धूर्त, निशाचर, पाखंडी, नीच और न जाने कितनी गालियाँ देते हैं,

तो अब नियोग समाजी हमें बताए कि दयानंद के इन भाष्यों के बारे में उनकी क्या राय है? दयानंद द्वारा किया यह अर्थ उन्हें अश्लील लगता है या नहीं।

प्रश्न १• दयानंदी हमें बताए कि अंधे सर्पों को गुदा में घुसाने और कुटिल सर्पों को आंतों से लेने की आज्ञा क्या ईश्वर ने देता हैं?

यदि देता है तो समाजी दिन में ये कितनी बार लेते हैं?

प्रश्न २• दयानंदी हमें बताये अंधे कुटिल सर्पों और अश्व के लिंग को गुदा व आंतों में निरंतर लेते रहने के पीछे का विज्ञान समझाए .

प्रश्न ३• दयानंदी गुदा व आंतों में अंधे कुटिल सर्पों एवं अश्व के लिंग को निरंतर लेते रहने की विशेष युक्ति का खुलासा करें, क्योकि दयानंदीयों के सर्पों के साथ इस कृत्य की कल्पना करके भी, हमारी समझ से तो बाहर हैं कि सर्पों को ये किस युक्ति से प्रवेश देते होंगें ?

प्रश्न ४• सर्पों को गुदेंद्रिय में लेने की आवश्यकता क्या हैं? गुदेंद्रिय आनंद ही अगर अपेक्षित हैं, तो सर्प के समान आकार वाली अन्य वस्तुओं का विकल्प भी तो है न आपके लिए? और यदि लेते समय साँप घबराकर आपको अंदर या बाहर से काट लेवें, तो वैद्य के पास जाकर क्या कहोगें अभागों?

प्रश्न ५• और अंधा सर्प ही क्यो? आँख वाले सर्पों से क्या गुदेंद्रियों को नजर लगने का भय हैं?

प्रश्न ६• अर्थ मे आता हैं कि - "अंडकोष को आंडों से निरंतर लेओं" अब दयानंदी पहले तो अंडकोष और आंडों के बीच का अंतर बतायें, और फिर ये बतायें कि अंडकोष से आडों को किस प्रकार लिया जा सकता हैं?

उचित होता यदि दयानंदी गुरु आज्ञा का पालन करते हुए स्वामी जी की ही गुदा में दो चार अंधहीन सर्प छोड़ देते, और स्वामी जी को निरंतर अश्व का लिंग ग्रहण कराते रहते, तब जाकर कहीं गुरु आज्ञा का फल प्रकट होता,

अब कोई अनार्य समाजी ये न कहें कि इसका मतलब ये नहीं है, वो नहीं हैं, फलाना हैं, तो ढिमाका हैं ... क्योकि यही बात जब हम आप लोगों को समझाते हैं तो बुद्धि और विवेक को एक तरफ रखकर आप लोग केवल शब्दों को ही पकड़ के बैठे रहते हो,

देखिये दयानंद सत्यार्थ प्रकाश के द्वादश समुल्लास में महीधरादि पर अश्लील भाष्य करने का आरोप लगाते हुए लिखते हैं-- **“हां! भांड धूर्त्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उन की धूर्त्तत्ता है; वेदों की नहीं”**

क्या यह बात इस भडवे दयानंद पर लागू नहीं होती? बिल्कुल होती है, अत: पाठकगणों से निवेदन है कि वो इस बात को समझें की दयानंद ने जो ये अश्लील भाष्य किया है वो इस भांड धूर्त्त निशाचरवत् दयानंद की धूर्तता है, वेदों की नहीं, देखिये इस श्रुति का सही अर्थ इस प्रकार है

शंका समाधान-

"इस मंत्र में आहूति द्वारा, पाचन संबंधी विभिन्न अंगों में उपस्थित भिन्न-भिन्न शक्तियों को उनसे संबंधित देवों की प्रसन्नता के लिए समर्पित किया गया है सभी की शक्तियाँ देव प्रयोजनों के लिए समर्पित हो, ऐसा जानकर रोगमुक्त स्वस्थ जीवन की प्रार्थना की गई है, यह एक आदर्श संगठनात्मक विद्या है, देखिए क्या कहता है ये मंत्र--

पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीन्स्थूलगुदया सर्पान्गुदाभिर्विह्लुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनग्वगं शेपेन प्रजाग्वं रेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः॥ ~यजुर्वेद {२५/७}

(पूषणं वनिष्ठुना स्थूलगुदया)- स्थूल आंतों व गुदा, पाचन संबंधी अंगों का भाग पूषण देवता के लिए, हे पूषण देव हमारे पाचन तंत्र संबंधी अंगों को स्वस्थ कर शरीर की व्याधियाँ उसी प्रकार दूर करें, जिस प्रकार, (अन्धाहीन सर्पान)- अंधहीन सर्प आपने बांबी से दूर निकल जाते है, (गुदाभिर्विह्लुत आन्त्रैरपो)- और हे विह्वत देव गुदा से संबंधी अन्य व्याधियों को दूर कर हमें रोगमुक्त स्वस्थ जीवन प्रदान करें, इस प्रकार (वस्तिना)- वस्ति भाग जल के लिए, (वृषणमाण्डाभ्यां)- अंडकोशों की शक्ति वृषण देव के लिए, (वाजिनं)- उपस्थ की शक्ति वाजीदेव के लिए,

(रेतसा)- विर्य प्रजा की रक्षा के लिए, (चाषान् पित्तेन)- पित चाष देव के लिए, (प्रदरान् पायुना)- आंतों का तृतीया भाग प्रसरदेवों के लिए, (कूश्माञ्छकपिण्डैः)- तथा शकपिण्डों को कूश्म देव की प्रसन्नता के लिए समर्पित करते हुए रोगमुक्त, स्वस्थ जीवन की कामना करते हैं,

और भांड दयानंद ने इसके अर्थ का क्या अनर्थ किया है, वो आप लोगों के सामने है,

तो मेरे नवीन समाजी भाईयों आगे बढ़ें और दयानंद की थुत पर चार जूते मारकर भांड दयानंद द्वारा किए गए इन अश्लील भाष्यों का विरोध करें....

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-२)

शादं दद्भिर् अवकां दन्तमूलैर् मृदं बस्वैस् तेगान्दमंष्ट्राभ्याम् सरस्वत्या ऽ अग्रजिह्वं जिह्वाया ऽ उत्सादम् अवक्रन्देन तालु वाजमँ्हनुभ्याम् अप ऽ आस्येन वृषणम् आण्डाभ्याम् आदित्याम्ँ श्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्याम् शुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पक्ष्माण्य् अवार्या ऽ इक्षवो वार्याणि पक्ष्माणि पार्या ऽ इक्षवः॥ ~यजुर्वेद {अध्याय २५, मंत्र १}

दयानंद अपने यजुर्वेदभाष्य में इस मंत्र का अर्थ यह लिखते हैं कि---

"हे अच्छे ज्ञान की चाहना करते हुए ज्ञानी जन! ,,,,,,,,,////// (आण्डाभ्याम्)- वीर्य को अच्छे प्रकार धारण करनेहारे आण्डों से, (वृषणम्)- वीर्य वर्षानेवाली अंग {लिंग} को, (श्मश्रुभिः)- मुख के

चारों ओर जो केश, अर्थात डाढ़ी उससे,,,,,,,,, /////वे पदार्थ अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहिए

समीक्षक-- दिन रात जहाँ तहाँ अश्लीलता ढुढने वाले दयानंदीयों तुम्हें दयानंद द्वारा किए ये अश्लील भाष्य नजर क्यों नहीं आतें, तुम्हारे दयानंद ने तो अपनी अश्लील बुद्धि से ईश्वरीय ज्ञान वेदों को भी अश्लील बना दिया,

प्रश्न १• दयानंदी बतायें कि क्या ईश्वर मनुष्यों को यही उपदेश करता है जैसे कि दयानंद ने इस श्रुति का अर्थ किया है?

प्रश्न २• दयानंदी बतायें कि दयानंद अपने भाष्य द्वारा आण्डों, वीर्य वर्षाने वाले अंग लिंग और डाढ़ी से ऐसा कौन सा ईश्वरीय ज्ञान बाँट रहा है?

प्रश्न ३• दयानंदी बतायें यदि यह ईश्वरीय अज्ञा है तो दयानंद के भाष्यानुसार वे लिंग एवं आण्डों को अपने मुख के चारों ओर दिन में कितनी बार ग्रहण करते है?

प्रश्न ४• दयानंदी आण्डों, एंव लिंग को मुख के चारों ओर ग्रहण करने की विशेष युक्ति के साथ साथ उसके पिछे का वैज्ञानिक रहस्य समझाए,

प्रश्न ५• दयानंदी बतायें कि वे मुख के चारों ओर केवल पुरुषों के आण्डों एवं लिंग को ग्रहण करते हैं या फिर गधे घोड़े आदि पशुओं का भी ग्रहण करते हैं,

प्रश्न ६• दयानंदी बतायें कि वह इस कृत्य को प्रतिदिन दोहराते हैं या फिर समाज के किसी वार्षिक उत्सव पर?

हम यह भलीभाँति जानते हैं कि इन धूर्त समाजीयों के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है, और ना ही वह इसका उत्तर देना

चाहेंगे, यह प्रश्न समाजीयों के हृदय में तीर की तरह चुभ रहे होंगे, क्योकि आज से पहले उन्होंने दयानंद के यह भाष्य नहीं पढे होगें, क्योकि उन्हें दूसरों की निंदा करने से फुर्सत ही कहाँ है जो दूसरों से पहले एकबार निष्पक्ष भाव से दयानंद द्वारा किये इन अर्थ को पढ लेते तो तुरन्त समाज का त्याग कर देतें, दयानंद ने वेदभाष्य के नाम पर सिर्फ अर्थ का अनर्थ ही किया है, इन श्रुतियों का अर्थ ऐसा बिलकुल नहीं है, देखिये-

अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत वनस्पति याग एवं स्विष्टकृत् आहुतियों के क्रम में विशेष आहुतियाँ प्रदान कि जाती है, इस आहुति में प्राणियों के विभिन्न अंगों में स्थित शक्तियों को देव प्रयोजनों के लिए समर्पित किया जाता है, अश्वमेध यज्ञ राष्ट्र संगठन के अर्थ में प्रयुक्त है, यह आदर्श संगठनात्मक विद्या है, सुनिये इस श्रुति का अर्थ यह है कि--

दांतों की शक्ति से शाद देवता को, दंतमूल से अवका देवता को, दांतों के पश्च भाग से मृद देवता को, दाढ़ों से तेगदेवता को, जिह्वा के अग्र भाग से सरस्वती को, एवं जिह्वा से उत्साद देवता को प्रसन्न करते हैं, तालु की शक्ति से अवक्रन्द देवता को, ठोढी हे अन्न देवता को, मुख से जल देवता को प्रसन्न करते हैं, वृषणों से वृषण देवता को, दाढी से आदित्यों को, भौं से पन्थ देवता को, पलक लोमों से पृथ्वी एवं द्युलोक को, तथा आँख की पुतलियों से विद्युत् देवता को प्रसन्न करते हैं, शुक्ल एवं कृष्ण देव शक्तियों के निमित्त यह आहुति समर्पित है, नेत्रों के नीचे एवं ऊपर के लोमों से 'पार' एवं 'अवार' देवशक्तियों को प्रसन्न करते हैं।

अब दयानंदी बतायें कि इस श्रुति का जो अर्थ दयानंद ने किया है उसमें यह अश्लील शब्द कहाँ से आ गये, इस श्रुति से दयानंद

का किया कल्पित और अश्लील अर्थ किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता, जबकि दयानंद का किया यह अर्थ अश्लील के साथ साथ निरर्थक भी है, दयानंद के इन अश्लील भाष्यों का कोई आशय ही नहीं निकलता, क्या दयानंदीयों को दयानंद द्वारा किये यह अश्लीलभाष्य नजर नहीं आते, या दयानंद के भाष्य पढने से पहले इस भाष्यानुसार मुहँ और आँखों में टोपा ले लेते हो जिस कारण तुम्हें यह अश्लीलभाष्य दिखाई नहीं पड़ते, यदि ऐसा है तो कुछ और बात है दयानंद की बात आने पर शायद कान में भी ले लेते होगे जिससे तुम्हें सुनाई भी न पडता होगा, बुद्धिमान स्वयं विचारें क्या यह दयानंदीयों का दौगलापन नही है, जो प्रत्यक्ष है उन दयानंदभाष्यों पर तो इनकी बोलती बंद हो जाती है और जहाँ नहीं दिखता वहाँ अपना वही पुराना रंd! रौना रोते है कि फला ग्रंथ में अश्लीलता है तो इस ग्रंथ में अश्लीलता है इसलिए यह हमें मान्य नहीं, अबे तो तुम्हें पूछता ही कौन है? कौन कहता है कि तुम इन्हें मानों जी करता है तो मानों नहीं करता है तो मत मानों पर कम से कम यह अपना रंd! रौना तो बंद करों

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-३)

यजुर्वेद अध्याय १९, मंत्र ७६, भांड दयानंद ने इस मंत्र के अर्थ का जो अनर्थ किया है, वो तो किसी को बताने योग्य भी नहीं, इस प्रकार का अश्लील लेख या तो आपको सेक्सी उपन्यासों में या फिर दयानंद द्वारा लिखित कामशास्त्र में ही पढने को मिल सकता है, देखिए क्या लिखता है ये भांड--

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशद् इन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृत ऽ उल्वं जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यम् इन्द्रियं विपानमँ् शुक्रम् अन्धस ऽ इन्द्रस्येन्द्रियम् इदं पयो ऽमृतं मधु॥ ~यजुर्वेद {१९/७६}

दयानंद अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ लिखते हैं कि--

"जैसे पुरुष का लिंग स्त्री की योनि में प्रवेश करता हुआ, वीर्य को छोडता है, और इससे अलग मूत्र को छोडता है, इससे जाना जाता है कि शरीर में मूत्र के स्थान से पृथक स्थान में विर्य रहता है"

समीक्षक-- वाह रे! वेदभाष्य के नाम पर कामशास्त्र लिखने वाले कामानंद, क्या कहने तेरे! तुझ को ऐसी-ऐसी अश्लील बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शर्म न आई, निपट अन्धा ही बन गया, यह जो तुने लिखा है कि (जैसे पुरुष का लिंग स्त्री की योनि में प्रवेश करता हुआ, वीर्य को छोडता है और इससे अलग मूत्र को छोडता है, इससे जाना जाता है कि शरीर में मूत्र के स्थान से पृथक स्थान में विर्य रहता है) भला यह अर्थ तुमने कौन से पदों से लिया है, भला इसमें कौन सा ईश्वरीय ज्ञान छूपा है? क्या तुम्हारे इस भाष्य से पूर्व मनुष्यों को इसका ज्ञान न था कि शरीर में मूत्र और विर्य पृथक पृथक स्थान में रहते है, शोक हे! तेरी बुद्धि पर, क्या तुमने ईश्वरीय ज्ञान को इतना तुच्छ और अश्लील जान रखा है? देखिये इस श्रुति का अर्थ ऐसा बिल्कुल नहीं जैसा तुमने अपनी अश्लील बुद्धि अनुसार किया है, सुनिये इसका सही अर्थ इस प्रकार है कि--

"जिस प्रकार गर्भ अपनी रक्षा के लिए स्वयं को जरायु में आवृत करता है, परन्तु जन्म के पश्चात उसे विदीर्ण कर उसका

परित्याग कर देता है, जैसे एक ही मार्ग से भिन्न भिन्न पदार्थ (मुत्र एवं वीर्य) नि:सृत होते हैं लौकिक सत्य इसी सत्य का रूप है, यह अन्न स्वरूप सोम, विशिष्ट साधन, बल, अन्न, तेज, इन्द्रिय सामार्थ, दुग्धादि पेय और मधूर पदार्थ को हमारे निमित प्रदान करता है,

यह इसका अर्थ है और देखिये इस कामानंद ने इस वेद श्रुति के अर्थ का क्या अनर्थ किया है क्या दयानंद को ऐसा अश्लील अर्थ करते तनिक भी लज्जा न आई? उसने एक बार भी यह नही सोचा की जिन वेद ऋचाओं को ईश्वरीय वचन कहा जाता है, उन वेद ऋचाओं का ऐसा अश्लील अर्थ करने पर विद्वान लोग उन्हें क्या कहेंगे? जिन वेदों का स्थान संसार की सभी पुस्तकों में प्रथम आता है, इस कामानंद ने उनका अश्लील भाष्य कर लोगों से घृणा करवायी है, जबकि यही दयानंद वेदों के अश्लील भाष्य करने का आरोप लगाते हुए सत्यार्थप्रकाश के द्वादश समुल्लास, में महीधरादि टीकाकारों को भांड, धूर्त और निशाचरवत् बोलते है, परन्तु उन्होंने ख़ुद वेद ऋचाओं का अर्थ अश्लील के साथ निरर्थक भी कर डाला,

पाठकगण! स्वंय विचार करकें बताए, वेदभाष्य के नाम पर अंतर्वासना लिखने वाले इस दयानंद को क्या कहना उचित रहेगा? और सुनिये आगे इसी अध्याय में मंत्र ८८ का अर्थ करते हुए लिखते है, कि--

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-४)

मुखमँ् सद्स्य शिर ऽ इत् सतेन जिह्वा पवित्रम् अश्विनासन्त् सरस्वती । चप्यं न पायुर् भिषग् अस्य वालो वस्तिर् न शेपो हरसा तरस्वी ॥ ~यजुर्वेद {१९/८८}

दयानंद इसका अर्थ अपने यजुर्वेदभाष्य में यह लिखते हैं कि— "हे मनुष्यो! जैसे जिससे रस ग्रहण किया जाता है वह वाणी के समान स्त्री, इस पति के सुन्दर अवयवों से विभक्त शिर के साथ शिर करें तथा मुख के समीप पवित्र मुख करें इसी प्रकार गृहाश्रम के व्यवहार में व्याप्त स्त्री पुरूष दोनों ही वर्तें तथा जो इस रोग से रक्षक वैद्य और बालक के समान वास करने का हेतु पुरूष उपस्थेन्द्रिय (लिंग) को बल से करनेहारा होता है वह शान्ति करने के समान वर्तमान मे सन्तानोत्पत्ति का हेतु होवे उस सबको यथावत करे"

लेकिन बाद में स्वामी जी ने सोचा होगा कि उनके नियोगी चैलें उनके इस अर्थ को समझ न सकेंगे इसलिए अपने शिष्यों के वास्ते अर्थ को थोड़ा और आसान बनाने के लिए स्वामी जी भावार्थ में यह लिखते हैं कि--

स्त्री पुरूष गर्भाधान के समय मे परस्पर मिलकर प्रेम से पूरित होकर मुख के साथ मुख, आँख के साथ आँख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसंधान करके गर्भ का धारण करें जिससे कुरूप और विकलांग सन्तान न होवे,

लेकिन स्वामी जी की अश्लील बुद्धि यही न रूकि, दयानंद अपने इसी कामशास्त्र का विस्तार से वर्णन करते हुए सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में अपने लाडले शिष्यों के लिए फरमाते है कि--

"जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहैं, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य्यप्राप्ति

समय अपान वायु को ऊपर खींचे, योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे, पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें"

समीक्षक-- वाह रे! इस कामशास्त्र के बनाने वाले, क्या कहना तेरा? दयानंद के इस भाष्य को पढ़कर यह कह पाना मुश्किल है कि दयानंद वेदभाष्य लिख रहा था या फिर कोई अंतर्वावसना, या फिर दयानंद ने ईश्वरीय ज्ञान को इतना तुच्छ और अश्लील समझ रखा है जैसा इस भांड के भाष्यों से प्रकट हो रहा है,

जहाँ तक गर्भाधान विधि का प्रश्न है, यह तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, इसे तो न केवल अनपढ़, गवार मनुष्य जानता है, बल्कि पशु-पक्षी भी जानते है, पशु-पक्षियों को कौन से 'शास्त्रों का ज्ञान होता हैं? उन्हें भला कौन यह सब सिखाता हैं? इस कारण दयानंद का किया यह अर्थ अशुद्ध है वेदों में ऐसी बातें कही नहीं है, यह शिक्षा करने को तो मनुष्य निर्मित साधारण पुस्तक ही काफी है इसलिए इस वेद श्रुति का यह अर्थ नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह है कि—"इन्द्रदेव के इस विराट शरीर में मुख और मस्तक सत्य से पवित्र है मुख में स्थित जिह्वा सत्य वाणी और सत्य स्वाद से पवित्र है, दोनों अश्वनीकुमारों और देवी सरस्वती के द्वारा इन अंगों के संचालन से पवित्रता व्याप्त हुई, चप्य पायु इन्द्रिय हुई, और बाल शारीरिक दोषों को बाहर निकालने वाले भिषक् (उपचारकर्ता रूप) हुए, और वस्ति तथा विर्य से जननेंद्रिय हुई। इस श्रुति में तो शरीर के विभिन्न अंगों की सृष्टि किस-किस प्रकार हुई यह कथन किया है और इससे पूर्व और बाद के मंत्रों में भी यही कथन किया है"

यह इसका अर्थ है जबकि दयानंद का किया अर्थ इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता, ने जाने स्वामी कामानंद ने यह कपोल

कल्पित अश्लील अर्थ किन पदों से निकाला है, इस वेद श्रुति में ऐसा कोई पद नहीं जिससे स्वामी कामानंद जी का लिखा कल्पित अर्थ सिद्ध होता हो, दयानंद ने इस प्रकार का अश्लील अर्थ लिखने से पूर्व एक बार भी यह न सोचा कि विद्वान लोग जब इसे देखेंगे तो उनके बारे में क्या सोचेंगे, भला ईश्वरीय ज्ञान भी इतना तुच्छ हो सकता है क्या? क्या यही वेद विद्या है क्या यही वेदों का सार है? दयानंद ने इन वेद ऋचाओं के अर्थ का जो अनर्थ किया है ऐसा तो कभी किसी ने भी नहीं किया होगा,

मुझे यह समझ में नहीं आता इन समाजीयों को दयानंद द्वारा किये यह अश्लील भाष्य नजर क्यों नहीं आते, क्यों उनकी दृष्टि दयानंद के इन भाष्यों पर नहीं पडती? यह धूर्त समाजी क्यों नहीं दयानंद के इन भाष्यों का विरोध करते हैं? यह तुम्हारा दौगलापन नही तो और क्या है? जब देखों जहाँ तहाँ अश्लीलता ढूंढते फिरते हो यहाँ तुम्हें प्रत्यक्ष है तो भी तुम्हारे नेत्रों से दिखाई नहीं पडता, इन नियोगी दल्लों का दौगालपन तो यही सिद्ध हो जाता है, देखिये प्रथम तो स्वामी कामानंद जी अपने लाडले शिष्यों को गर्भाधान का उपदेश इस प्रकार करते है कि-- (स्त्री पुरूष गर्भाधान के समय मे परस्पर मिलकर प्रेम से पूरित होकर मुख के साथ मुख, आँख के साथ आँख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसंधान करके गर्भ का धारण करें, इस प्रकार गर्भधारण करने से कुरूप और विकलांग सन्तान उत्पन्न नहीं होती,

और फिर आगे इसी के विरुद्ध यजुर्वेद अध्याय २८, मंत्र ३२ का भाष्य करते हुए लिखा है कि--

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-५)

होता यक्षत् सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्धनमँ् रूपाणि बिभ्रतं पृथक् पुष्टिम् इन्द्रं वयोधसम्।

द्विपदं छन्द ऽ इन्द्रियम् उक्षाणं गां न वयो दधद् वेत्व् आज्यस्य होतर् यज॥ ~यजुर्वेद {२८/३२}

इसका अर्थ स्वामी कामानंद जी ने अपने यजुर्वेदभाष्य में यह लिखा है कि--

"हे मनुष्यों! जैसे बैल गौओं को गाभिन करके पशुओं को बढ़ता है, वैसे गृहस्थ लोग स्त्रीयों को गर्भवती कर प्रजा बढ़ावें"

{**नोट--** सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण में दयानंद ने लिखा है कि एक बैल से हजारों गैयां गर्भवती हो जाती है यहाँ वही अभिप्राय है या और कुछ?}

अब दयानंद के इन भाष्यों पर दृष्टि डालें तो दयानंद ने यहाँ दो प्रकार की गर्भाधान विधि का खुलासा किया,

(पहला)-- स्त्री पुरूष परस्पर मिलकर प्रेम से पूरित होकर मुख के साथ मुख, आँख के साथ आँख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसंधान करके गर्भ का धारण करें,

(दूसरा)-- जैसे बैल गौओं को गाभिन करके पशुओं को बढ़ता है, वैसे समाजी लोग अपनी स्त्रीयों को गर्भवती कर प्रजा बढ़ावें"

अब दयानंद के भाष्यानुसार ही दयानंदी बतायें कि भला इन दोनों विधियों में से गर्भाधान की कौन सी विधि सही है?

बुद्धिमान लोग स्वयं विचारें क्या धूर्त दयानंद की मूर्खता यही सिद्ध नही हो जाती, भला ईश्वरीय ज्ञान इतना तुच्छ और उट

पटांग हो सकता है क्या?, बिल्कुल नहीं, दरअसल यह मिथ्या अर्थ स्वामी कामानंद जी के कपोल भंडार से निकलें है, यही तो दयानंद के भंग की तरंग है भंग के नशे में जो भी अंड संड मुहँ में आया बक दिया, जो मन में आया सो लिख दिया,

स्वामी कामानंद जी को तो अपने लिखें कि ही खबर नहीं क्या अंड संड लिखें जा रहे हैं, भला स्वामी जी के यह कपोल कल्पित अर्थ किन पदों से सिद्ध होते है, इस श्रुति में तो ऐसा कोई पद ही नहीं जिससे स्वामी जी का कथन सिद्ध होता हो, भला यह कौन सा ईश्वरीय ज्ञान है कि "जैसे बैल गौओं को गाभिन करके पशुओं को बढ़ता है, वैसे सब लोग अपनी स्त्रीयों को गर्भवती करें"?, यह हमारी समझ से तो बाहर है, इससे ही पता चलता है कि स्वामी जी को संस्कृत की कितनी समझ रही होगी, दयानंद ने वेदभाष्य के नाम पर सिर्फ अनुचित शिक्षा दिखा कर लोगों से घृणा करवाईं है, इसलिए विद्वानों को दयानंद का किया यह अर्थ अशुद्ध जानकर त्यागने योग्य है, इस वेद श्रुति का यह अर्थ किन्हीं पदों से सिद्ध नहीं होता, किन्तु इसका अर्थ यह है कि--

“द्विव्यहोता ने द्विपदा छंद, इन्द्रियशक्ति सिंचन करने वाली गौ (प्राणवर्धक किरणों) एंव आयुष्य को धारण करते हुए, उत्पादन शक्ति से सम्पन्न, विभिन्न प्राणियों को पोषण देने वाले, पुष्टि को धारण करने वाले त्वेष्टादेव एवं आयुष्य बढ़ाने वाले इन्द्रदेव का यजन किया, त्वष्टा एवं इन्द्रदेव हवि का पान करें, हे होता! तुम भी इसी प्रकार यज्ञ करों”

यह इसका अर्थ है और दयानंद ने इस वेद श्रुति के अर्थ का कैसा अनर्थ किया है वह आपके सामने है

दरअसल यह अर्थ स्वामी जी ने खास अपने शिष्यों के लिए तैयार किया है, दयानंद जी अपने भाष्यानुसार अपने लाडले शिष्यों को यह उपदेश करते हैं कि जैसे बैल गाय को गाभिन करता है उसी प्रकार तुम अपनी-अपनी स्त्रीयों को करों, परन्तु दयानंदी अभी उस तरीके से काम नहीं लेते, दयानंदीयों को चाहिए कि गुरू आज्ञा का पालन करते हुए, आज से ही मनुष्य से पशु बनकर बैलों की भांति अपनी-अपनी स्त्रियों को गर्भवती कर प्रजा को बढावे और यदि तुम से न हो सके तो समाज से बाहर किसी अन्य पुरुष की सहायता से अपनी स्त्रीयों को गौओं की भांति गाभिन करवा प्रजा को बढ़ावे, यह नियोग नामक पशुधर्म स्वामी जी ने इसी के अर्थ चलाया है, इसलिए पशुओं की ही भांति अपनी स्त्रियों को जब कभी किसी परपुरूष के पास नियोग के लिए भेंजे तो उसे समझा दे कि जैसे बैल गौओं को गाभिन करता है वैसे ही वह तुम्हारी स्त्री को गाभिन कर प्रजा को बढ़ावे, तब जाकर कहीं गुरु आज्ञा का फल प्रकट होगा और दयानंद के लाडले शिष्य पुरे वैदिक कहला सकेंगे, अन्यथा नहीं, और सुनिये,

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-६)

सूपस्थाऽ अद्य देवो वनस्पतिर् अभवद् अश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्राय ऽऋषभेणाक्षँस्तान् मेदस्तः प्रति पचतागृभीषतावीवृधन्त पुरोडाशैर् अपुर् अश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान्॥ ~यजुर्वेद {२१/६०}

स्वामी जी अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि--

“हे मनुष्यों! प्राण और अपान के लिए दु:ख विनाश करने वाले छेरी आदि पशु से, वाणी के लिए मेंढ़ा (मेंढक) से, और परम ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग करें”

स्वामी कामानंद जी अपने इस भाष्यानुसार अपने लाडले शिष्यों के लिए फरमाते है, कि यदि कोई दयानंदी हमेशा दुखी रहता हो, हमेशा परेशानीयों से घिरा रहता हो, तो वो दु:ख के विनाश के लिए छेरी (बकरी) आदि पशु के साथ भोग किया करें,

और यदि किसी दयानंदी की वाणी खराब हो गई हो जैसे तुतलापन हो, गला बैठ गया हो या फिर जन्म से गूंगा आदि हो तो ऐसे समाजी, वाणी के लिए मेंढ़ा (मेंढक) से भोग किया करें,

और परम ऐश्वर्य की कामना रखने वाले सभी दयानंदी परम ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग किया करें,

वाह! दयालु हो तो ऐसा, देखिये स्वामी जी ने किस युक्ति से अपने लाडले शिष्यों का धन बचाया है, भारतवर्ष में अब तक लोग यह शिकायत किया करते थे कि यहाँ विवाहों में धन अधिक खर्च होता है, लेकिन आज तक कोई इसका वन्दोवस्त न कर सका, परन्तु स्वामी जी ने युक्ति के साथ वह वन्दोवस्त भी कर दिया, अब दयानंदीयों को न तो खर्च करने की जरूरत और न ही विवाह करने की जरूरत, दोनों आवश्यकताएँ मिट गई, क्योकि दयानंदी अब अपने वेदभाष्यों के विरुद्ध स्त्री के साथ भोग ही नहीं करेंगे, जब इच्छा होगी किसी बकरी, मेंढे या फिर बैल के साथ भोग कर लिया करेंगे,

इसके अलावा एक और अन्याय हो गया वह यह कि हमारे दयानंदी भाई तो बैल से भोग कर परम ऐश्वर्य वाले हो जायेंगे, और उनसे भिन्न मत वाले हमेशा गरीब ही रहेंगे, क्योकि इनके

हाथ तो किस्मत की चमचमाती छडी लग गई जहाँ जरा सी भी सम्पत्ति घटी फिर बैल के साथ भोग कर लेंगे और इनसे भिन्न मत वाले इस निन्दित घृणा मुक्त कर्म कर न सकेंगे, और हमेशा गरीब ही रहेंगे, इसके विपरीत समाजी ऐश्वर्यवान होते जायेंगे फिर चाहे कोई रोजगार करें या न करें,

मुझे इस बात का बड़ा संदेह हो गया कि हमारे दयानंदी भाई उचित अनुचित जो कुछ भी दयानंद लिख गये यह सबको सत्य ही मानते हैं, अब आप सोचिये कि इस प्रकार की उट पटांग बातें लिखने वाले दयानंद की बुद्धि कैसी रही होगी? और सुनिये,

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-७)

प्राणम्मे पाह्मपानम्मे पाहि व्यानम्मे पाहि चक्षुर्म ऽ उर्व्या विभाहि श्रोत्रम्मे श्लोकय।

अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि दिवो वृष्टिमेरय॥ ~यजुर्वेद {१४/८}

स्वामी जी अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि--

स्त्री पति से और पति अपनी स्त्री से कहें कि-- “हे स्त्री! तू मेरे नाभि के नीचे गुहेन्द्रिय मार्ग से निकलने वाली अपान वायु की रक्षा कर”

समीक्षक-- धन्य हे! स्वामी निर्बोधानंद जी तुम्हारी बुद्धि, इस वेदभाष्य को मानने वाले दयानंदीयों से मेरा यह प्रश्न है कि क्या इतना कहते कुछ लज्जा न आवेंगी?

और वह स्त्री गुहेन्द्रिय मार्ग से निकलने वाली वायु की रक्षा कैसे करेगी?

साथ में यह प्रश्न भी है कि यह रक्षा रोज रोज होती है या फिर आर्य समाज के किसी वार्षिक उत्सव पर?

यदि यह रक्षा रोज होती है तो दयानंदी लोग अपने गृहस्थादि कार्य किस प्रकार करते हैं क्योंकि यदि गृहस्थ कार्य में व्यस्त होने के दौरान ही गुहेन्द्रिय मार्ग से वायु निकल जाये तो हमारे दयानंदी उसकी रक्षा करने से चूक जायेंगे, तो लो अब सब काम धाम छोड़ गुहेन्द्रिय मार्ग से निकलने वाली वायु के निकलने की प्रतीक्षा करों, समाजी स्त्री अपने पति की और समाजी पुरुष अपनी स्त्री के गुहेन्द्रिय मार्ग की तरफ टकटकी लगाकर बैठे रहे, जाने कब निकल जायें

धन्य है ऐसे भाष्यकार और धन्य है ऐसे भाष्यों को मानने वालें अक्ल से पैदल समाजी, और सुनिये

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-८)

वाचं ते शुन्धामि। प्राणं ते शुन्धामि। चक्षुस् ते शुन्धामि। श्रोत्रं ते शुन्धामि। नाभिं ते शुन्धामि। मेढ्रं ते शुन्धामि। पायुं ते शुन्धामि। चरित्राम्ँस् ते शुन्धामि॥ ~यजुर्वेद {६/१४}

स्वामी जी अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि--

“हे शिष्य! मै तेरी वाणी, नेत्र, नाभि, जिससे “**मूत्रोत्सर्गादि**” किये जाते हैं उस “**लिंग**” को, तेरे “**गुदेन्द्रिय**” को शुद्ध करता हूँ”

स्वामी कामनंद जी इस वेदभाष्य में अपने लाडले शिष्यों को उपदेश करते हुए लिखते है कि गुरू को चाहिए कि अपने शिष्य के लिंग और गुदा को शुद्ध करें, धन्य हे! ऐसा भाष्यकार, भाष्य हो तो ऐसे, इनके भाष्यों में तो महापाप भी धर्म है,

मै दयानंदीयों से पूछना चाहूँगा क्या दुनिया की सभ्य जातियाँ इस भाष्य को पढ़कर छी छी नहीं करेगी, दयानंद को ऐसा अश्लील भाष्य करते हुए लज्जा न आई, ये सब लिखने से पूर्व दयानंद ने यह नही सोचा कि विद्वान लोगों की दृष्टि जब उनके इस अर्थ पर पडेगी तो वे उनके बारें में क्या सोचेंगे,

मैं दयानंदीयों से ही पूछना चाहता हूँ कि यह सतशिक्षक सम्पूर्ण विद्याओं का भंडार वेद हैं या फिर किसी व्यभिचारी शिक्षक द्वारा लिखा कामशास्त्र,

हमारे दयानंदी भाई कहते हैं कि हमारा मत वेद हैं और हमें केवल दयानंद कृत वेदभाष्य ही मान्य हैं, देखिये ये है इनके वेदभाष्य और ये है इनकी सभ्यता, दयानंद का वेदभाष्य पढ़ने बैठों समझ में नहीं आता कि वेद पढ़ रहे हैं या फिर किसी व्यभिचारी पुरुष द्वारा लिखित कामशास्त्र,

जिस भारतवर्ष की पावन भूमि पर आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, बोधयन, चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, और कणाद आदि जैसे महाविद्वान उत्पन्न हुए, उसी भारत भूमि पर दयानंद जैसा धूर्त भी उत्पन्न हुआ, जिन वेदों का स्थान विश्व की प्रथम पुस्तकों में आता है जिन्हें सब सतविद्याओं का भंडार कहा गया है उसी वेद के नाम पर दयानंद ने अनुचित शिक्षा दिखलाकर लोगों को घृणा करवाईं है लेकिन यह याद रहे कि इन मंत्रों के यह अर्थ हर्गिज नहीं यह स्वामी जी की गढ़न्त है यह दयानंद वेदभाष्य है जो उन्होंने अपनी अश्लील बुद्धि अनुसार करें है, इस कारण यह मानने योग्य नहीं और जिन्होंने यह अर्थ किये हैं, वह महर्षि क्या? महामूर्ख कहलाने योग्य भी नहीं, और ऐसे मूर्खों को महर्षि कहना, महर्षि शब्द की इज्जत उतारना है,

नस्लभेदी जातिवादी “दयानंद”

॥पैदाइशी चुतिया प्रकरण॥

हमारे दयानंदी गपोड़िये अक्सर एक बात कहते नहीं थकते कि दयानंद ने समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों पर आक्रमण करते हुए, जातिवाद का विरोध किया, तथा कर्म के आधार पर वेदानुकूल वर्ण-निर्धारण की बात कही, वे दलितोद्धार के पक्षधर थे, इसी प्रकार के और न जाने क्या क्या गपोड़े मारते है, सो आज इस लेख के माध्यम से मैं इन सब बातों का खंडन कर, दयानंद की जिहादी विचारधारा से आप लोगों को अवगत कराना चाहता हूँ, जिससे यह सिद्ध हो जायेगा कि दयानंद दलितोद्धार के पक्षधर नहीं बल्कि दलितोद्धार के घोर विरोधी थे, समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों नस्लभेद जातिवाद आदि को बढ़ावा देने वाले स्वामी दयानंद ही थे, जो स्वयं दयानंद के ही द्वारा लिखे वेदभाष्य और लेखों से सिद्ध होता है देखिये--

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-१)

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालम् अन्तरिक्षाय वमँ् शनर्तिनं दिवे खलतिमँ् सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासम् अह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षमँ् रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम्॥ ~यजुर्वेद { ३०/२१}

दयानंद अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि---

“हे परमेश्वर वा राजन् !आप, (हर्यक्षम्)- बन्दर की सी छोटी आँखों वाले शीतप्राय देशी मनुष्यों को,,,,,,, (पिङ्गलम्)- पीली आँखोवाले को उत्पन्न कीजिये,,,,,, (चाण्डालम्)- भंगी को, (खलतिम्)- गंजे को,,,,,, (कृष्णम्)- काले रंगवाले, (पिङ्गाक्षम्))- पीले नेत्रों से युक्त पुरूष को दूर कीजिये”

स्वामी जी अपने इस अर्थ की पुष्टि के लिए भावार्थ में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि—“भंगी के शरीर से आया वायु दुर्गंधयुक्त होने से सेवन योग्य नहीं इस कारण उसे दूर भगावें”

समीक्षक-- वाह रे! इस कपोल कल्पित वेदभाष्य के लिखने वाले, वेदों के नाम से अनैतिक शिक्षा कर लोगों से घृणा कराने वाले भडवानंद क्या कहने तेरे! तुझको ऐसा मिथ्या अर्थ करते तनिक भी लज्जा वा शर्म न आयी, यह भी न सोचा कि जब विद्वान जन तुम्हारा यह अर्थ पढ़ेंगे तो तुम्हारे बारे में क्या सोचेंगे, क्या यही ईश्वरीय वचन है? इस वेद श्रुति में यही कथन किया है? जब संस्कृत तुम्हारी बुद्धि से परे है, तो भला क्यों वेद मंत्रों के अर्थ का अनर्थ करते हो, तुम्हारे द्वारा किया यह कल्पित अर्थ किन्हीं पदों से सिद्ध नहीं होता, देखों इसका सही अर्थ यह है कि--

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालम् अन्तरिक्षाय वमँ् शनर्तिनं दिवे खलतिमँ् सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासम् अह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षमँ् रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम्॥

(अग्नये)= अग्नि के समीप कार्य करने के लिए, (पीवानम्)= बलवान पुरुषों को, (पृथिव्यै)= पृथ्वी के लिए, (पीठसर्पिणम्)= आसन पर बैठकर कार्य करने वाले पुरुषों को, (वायवे)= तेज

वायु वाले स्थान के लिए, (चाण्डालम्)= प्रचंड शक्तिवाले पुरुष को, (अन्तरिक्षाय)= आकाश स्थित अर्थात ऊंचाई वाले कार्य के लिए, (वंशनर्त्तिनम्)= बाँस पर कलादि दिखाने वालों को, (दिवे)= द्युलोक के लिए, (खलतिम्)= आकाशस्थ गोलिय पिंड़ों की गति को जानने वाले खगोलविद पुरुषों को, (सूर्याय)= सूर्य के लिए, (हर्यक्षम्)= हरित वर्ण वाले, (नक्षत्रेभ्यः)= नक्षत्रों के लिए, (किर्मिरम्)= धवल वर्ण के जानने वाले विदजनों को, (चन्द्रमसे)= चन्द्र सम्बन्धी प्रभावों के निवारण हेतु, (किलासम्)= किलासविद जनों को, (अह्ने)= दिन के कार्यों के लिए, (शुक्लम्)= श्वेत रंग के, (पिङ्गाक्षम्)= पीले नेत्रों वाले, तथा (रात्र्यै)= रात्रि के लिए, (कृष्णम्)= काले रंग वाले, (पिङ्गाक्षम्)= पीले नेत्रों से युक्त पुरूषों को नियुक्त करना चाहिए।

यह इसका अर्थ है, इस श्रुति में सब प्रकार के प्राणीयों, जो जिसके योग्य है उससे वह कार्य लें ऐसा इस श्रुति में कथन किया है, इससे इसमें किसी का अनादर नहीं देखा जाता और जबकि इसी श्रुति का स्वामी निर्बोधानंद जी ने कैसे अर्थ का अनर्थ किया है वह आप सबके सामने है, दयानंद का यह भाष्य पढ़कर इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि दयानंद पैदाइशी हुतिया है, दयानंद का यह भाष्य इस बात की पुष्टि करता है, अब यहाँ विद्वान लोगों को स्वयं दयानंद के इस अर्थ पर एक दृष्टि ड़ालकर यह देखना चाहिए कि प्रथम तो दयानंद ने अपने इस अर्थ में यह लिखते हैं कि "हे परमेश्वर वा राजन्! आप (पिङ्गलम्) पीली आँखवाले को उत्पन्न कीजिये" और फिर स्वयं ही उस पदार्थ के अन्त में ऊपर लिखी बात के विरुद्ध यह लिखते हैं कि "हे परमेश्वर आप, (पिङ्गाक्षम्) पीले नेत्रों से युक्त पुरूष को दूर कीजिये"

अब यहाँ बुद्धिमान जन स्वयं विचारें कि एक ही मंत्र में दो परस्पर विरुद्ध बातों का लिखना, क्या दयानंद की बुद्धि पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाता? क्या ईश्वर इस प्रकार की परस्पर विरुद्ध बातों से भरा उपदेश मनुष्यों को कर सकता है? कदापि नहीं, इस मुर्खानंद ने तो अपने इस भाष्य से ईश्वर तक को कंफ्यूज कर दिया होगा, फिर साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या करनी, अब यह बात तो हमारे दयानंदी भाई ही बता सकेंगे, की दयानंद के इस भाष्यानुसार ईश्वर को क्या करना चाहिये, वह पीले नेत्रों वाले मनुष्यों को उत्पन्न करें या ना करें! और सुनिये,

अपने इसी भाष्य में दयानंद जी आगे लिखते हैं कि “हे परमेश्वर! आप, (हर्यक्षम्)- बन्दर की सी छोटी आँखों वाले शीतप्राय देशी मनुष्यों को, (चाण्डालम्)- भंगी को, (खलतिम्)- गंजे को, (कृष्णम्)- काले रंगवाले, (पिङ्गाक्षम्))- पीले नेत्रों से युक्त पुरूष को दूर कीजिये”

अब यहाँ विद्वान लोग विचारें कि भला ईश्वर भंगी, गंजे, काले रंग वाले, पीले नेत्रों वाले और छोटी आँखों वाले, मनुष्यों को दूर क्यों करें, इनसे संसार की कौन सी ऐसी हानि हो गई जो ईश्वर इनको दूर करें, इन सबने स्वामी जी का ऐसा क्या बिगाड़ दिया जो स्वामी जी इनकी भडास अपने वेदभाष्यों में निकाल रहे हैं, भला ईश्वर इन्हें दूर क्यों करें कोई कारण तो लिखा होता, क्या यह सब मनुष्य मनुष्य की संतान नहीं? या फिर इनकी सृष्टि ईश्वर द्वारा नहीं हुई, भला ईश्वर ऐसा क्यों करने लगे, जिन्हें स्वयं ईश्वर ने ही उत्पन्न किया वह उन्हें दूर क्यों करेंगे?

हाँ दयानंद जरूर ऐसा सोचते होंगे, शायद उन्हें ऐसे पुरुष अच्छे न लगते हो, जिसे उन्होंने अपने वेदभाष्य के माध्यम से लिखकर उनके प्रति मन में भरी घृणा को जगजाहिर किया है, और

भावार्थ में तो स्पष्ट यह तक लिख दिया कि "भंगी के शरीर से आया वायु दुर्गंधयुक्त होने से सेवन के योग्य नहीं इसलिए उन्हें दूर भगावें" अब दयानंदी ही बतायें कि यदि दयानंद के भाष्यानुसार भंगी को सिर्फ इस कारण दूर कर दें क्योकि उसके शरीर से दुर्गंधयुक्त वायु आती है, तो क्या उनके बदले यह कार्य करने दयानंद का बाप आयेगा, इससे सिद्ध होता है कि समाज में व्याप्त कुरीतियों नस्लभेद, जातिवाद आदि को बढ़ावा देने वाले दयानंद ही है और वही अनैतिक शिक्षा दयानंद ने अपने वेदभाष्यों से अपने लाडले शिष्यों के लिए लिखीं हैं, और सुनिये

इस भाष्य में ऊपर दयानंद ने यह लिखा है कि "हे परमेश्वर! आप, **(हर्यक्षम्)** बन्दर की सी छोटी आँखों वाले शीतप्राय देशी मनुष्यों को दूर भगावें"

यह स्वामी जी ने क्या लिख दिया, ऐसी शारीरिक रचना तो विशेषकर तिब्बत आदि देश के मनुष्यों की होती है और स्वामी जी सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में यह लिखा है कि उनकी और उनके पूर्वजों की सृष्टि तिब्बत में हुई थी, और इस में बसने से पूर्व स्वामी जी और उनके नियोगी चैले तिब्बती थे, इससे यह सिद्ध हुआ कि यह बन्दर की सी छोटी आँखों वाले मनुष्य दयानंद तथा आर्य समाजीयों के पूर्वज हुए, और अपने ही पूर्वजों के लिए दयानंद यह लिखते हैं कि परमेश्वर उन्हें दूर भगावें, धन्य हे! दयानंद की बुद्धि जिसे अपने मत की अपने लिखें कि ही सुध नहीं, कि क्या उल्ट सूल्ट लिख दिया स्वयं को खबर नहीं, दरअसल यह दयानंद के भंग की तरंग है भंग के नशे में मूहँ में जो अंड संड आया बक दिया जो मन में आया सो लिख दिया, भला ऐसे भंगेडी के बातों का क्या प्रमाण? और सुनिये--

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-२)

मूर्धा वयः प्रजापतिश् छन्दः। क्षत्रं वयो मयंदं छन्दः। विष्टम्भो वयो ऽधिपतिश् छन्दः। विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दः। वस्तो वयो विवलं छन्दः। वृष्णिर् वयो विशालं छन्दः। पुरुषो वयस् तन्द्रं छन्दः। व्याघ्रो वयो ऽनाधृष्टं छन्दः। सिँहो वयश् छदिश् छन्दः। पष्ठवाड् वयो बृहती छन्दः। ऽ उक्षा वयः ककुप् छन्दः। ऽ ऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः॥ ~यजुर्वेद {१४/९}

दयानंद अपने यजुर्वेद में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि--

“हे स्त्री वा पुरुष! (व्याघ्रः) जो विविध प्रकार के पदार्थों को अच्छे प्रकार सूँघता है, उस जन्तु के तुल्य राजा तू,,,,,, (षष्ठवाट्)- पीठ से बोझ उठाने वाले ऊँट आदि के सदृश वैश्य तू,,,,,, (उक्षा)- सींचनेहारे बैल के तुल्य शूद्र तू, (ऋषभः)- शीघ्रगन्ता पशु के तुल्य भृत्य तू, (छन्दः)- स्वतंत्रता की प्रेरणा कर”

समीक्षक-- वाह रे! इस वेदभाष्य के लिखने वाले गवर्गण्ड दयानंद क्या कहने तेरे, ऊँट के सदृश वैश्य, बैल के तुल्य शूद्र और शीघ्रगन्ता पपशु के तुल्य भृत्य (सेवक), धन्य है ऐसा भाष्यकार और धन्य है ऐसे भाष्यों को मानने वाले मुझे समझ नहीं आता कि ये अर्थ दयानंद ने किस निघंटु से लिए है जहाँ “(षष्ठवाट्)- पीठ से बोझ उठाने वाले ऊँट आदि के सदृश वैश्य, (उक्षा)- सींचनेहारे बैल के तुल्य शूद्र, और (ऋषभः)- शीघ्रगन्ता पशु के तुल्य भृत्य” आदि पदों के यह अर्थ लिखें हैं, इस श्रुति का यह अर्थ तो किन्हीं पदों से सिद्ध नहीं होता, किन्तु इसका सही अर्थ यह है कि--

“गायत्री रूप से प्रजापति ने इच्छाशक्ति द्वारा मूर्धन्य ब्राह्मण की उत्पत्ति की, अनिरूत्त छन्द से संरक्षण-युक्त क्षत्रिय का सृजन किया, जगत् को पोषण देने वाले परमेश्वर ने छन्द रूप हो वैश्यों की रचना की, परमेष्ठी विश्वकर्मा ने शक्ति द्वारा छन्द रूप शुद्र की उत्पत्ति की, एकपाद नामक छन्द के प्रभाव से परमेश्वर ने मेष आदि जीवों को उत्पन्न किया, पंक्ति छन्द के प्रभाव से मनुष्य को उत्पन्न किया, विराट छन्द के प्रभाव से प्रजापति ने व्याघ्र आदि को प्रकट किया, अतिजगती छन्द के प्रभाव से सिंह को प्रकट किया, बृहती छन्द के प्रभाव से भारवाहक पशुओं को उत्पन्न किया, ककुप् छन्द के प्रभाव से प्रजापति ने उक्षा जाति को उत्पन्न किया, सतोबृहती छन्द के प्रभाव से भालू आदि पशुओं को उत्पन्न किया”

यह इसका अर्थ है और दयानंद ने इस श्रुति के अर्थ का क्या अनर्थ किया है वो आपके सामने है और सुनिये सिर्फ यही नहीं दयानंद ने राजा तक को पशु तुल्य बताते हुए राजा को किसी कुत्ते की भांति समझ लिया है स्वामी मुर्खानंद जी लिखते हैं कि (व्याघ्रः)- जो विविध प्रकार के पदार्थों को अच्छे प्रकार सूँघता है उस जन्तु के तुल्य राजा तू, (सिंहः)- पशु आदि को मारनेहारे सिंह के समान पराक्रमी राजा तू,

अब कहिये इससे बड़ी चुतियापंति और क्या हो सकती है? जिस राजा को प्रजा पिता तुल्य, ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में देखती है, उसे दयानंद किसी कुत्ते की भांति सुघने वाला पशु बताते हैं,

और इसी प्रकार दयानंद ने अध्याय १६ मंत्र ५२ में भी लिखा हैं कि—“हे (विकिरिन्द्र)- विशेषकर सूवर के समान सोने वाले, (भगवः)- ऐश्वर्ययुक्त राजन”

बुद्धिमान विचारें क्या राजा को कुत्ते सूवर आदि की उपमा देना ठीक है स्वयं सोचकर देखिए जिस ईश्वर को दयानंद ने स्वयं अपने वेदभाष्यों में अनेकों स्थान पर “राजा” ऐसा कथन किया है, उसी को यहाँ कुत्ते की भांति सुघने वाला, सूवर के समान सोने वाला लिखा है इससे समझा जा सकता है कि इस वेदभाष्य के लिखने वाले दयानंद की बुद्धि कैसी रही होगी?

लोगों का तो पता नहीं पर दयानंद का ये भाष्य पढ़कर दयानंद की प्रशंसा में मेरे मुख से दो वाक्य जरूर निकलते हैं कि-- भंग के नशे में विशेषकर सूवर के समान सोने वाले भंगेडानंद, भाष्य हो तो ऐसा और धूर्त हो तो तेरे जैसा

शुद्र, वैश्य, भृत्य(सेवक), राजा आदि को पशु तुल्य बताने वाले दयानंद के लिए ये उपमा बिल्कुल सही है

क्योकि मेरे हिसाब से स्वामी दयानंद ने अपने अदभुद ज्ञान से विश्व भर में फैली गंदगी को उसी प्रकार दूर कर किया जिस प्रकार एक सूवर गूँ खाकर समाज में फैली गंदगी को दूर करता है

और मुझे नहीं लगता कि दयानंदीयों को इससे कोई आपत्ति होनी चाहिए,

यहाँ तक कि दयानंद राजा को निर्दोष पशुओं को मारने वाले हिंसक सिंह के समान बोलते है,

भला निर्दोष पशुओं की हत्या करने वाला राजा पराक्रमी कैसे हुआ?

यहाँ तो दयानंद ने पशुहिंसा को भी धर्म का अंग बता दिया, वाह रे भंगेडानंद तेरी बुद्धि! तुम्हारे शब्दों की कैसी विचित्र महिमा है जिस ईश्वर को अपने वेदभाष्यों में स्वयं राजा तुल्य लिखा है और

यहां उसी राजा को कुत्ते आदि जीवों की भांति सुघने वाला और सूवर के समान सोने वाला कथन किया है, इससे विदित होता है कि इस दिन तुमने प्रथम तो लौटा भर कर पिया होगा फिर भाष्य करने बैठे होंगे।

स्वामी दयानंद एकादश नियोग की देन

सनातन धर्म से भिन्न दयानंद द्वारा चलाए गये वेद विरुद्ध मतों में से एक मत है पशुधर्म नाम से विख्यात “नियोग प्रथा” दयानंद ने अपने तथाकथित ग्रंथ “सत्यार्थ प्रकाश” में लगभग पूरा एक समुल्लास इस पशुधर्म नियोग पर ही लिखा है, और वेदादि शास्त्रों के अर्थ का अनर्थ कर अपने अनुयायियों के साथ साथ समस्त भारतवर्ष को इस महाअधर्म व्यभिचार नियोग नामक अंधकूप में धकेलने का असफल प्रयास किया है, वेद मनुस्मृति आदि के अर्थ का अनर्थ कर नियोग सिद्ध किया है जिससे धर्म के न जानने वाले लोगों में भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है, सो इस लेख के माध्यम से मैं दयानंद के उन मिथ्या भाष्यों की धज्जियां उडाते हुए, प्रमाण के साथ यह सिद्ध करकें दिखाऊंगा की दयानंद द्वारा चलाया यह पशुधर्म नियोग वेद विरुद्ध होने से मनुष्यों के लिए निषिद्ध है अर्थात मनुष्यों को यह पशुधर्म त्यागने योग्य है, सो अब एक एक करकें दयानंद के उन सभी वेद विरुद्ध भाष्यों का खंडन करते हैं जिनके अर्थ का अनर्थ कर दयानंद ने नियोग सिद्ध किया है सुनिये--

(दयानंद कृत ऋग्वेदभाष्य, भाष्य-१)

सोमः प्रथमो विविदे गन्ध्र्वो विविद उत्तरः।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तु रीयस्ते मनुष्यजाः॥ ~ऋ० {मं० १०, सू० ८५, मं० ४०}

दयानंद अपने ऋग्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि—

“हे स्त्री! जो (ते) तेरा (प्रथमः) पहला विवाहित (पतिः) पति तुझ को (विविदे) प्राप्त होता है उस का नाम (सोमः) सुकुमारतादि गुणयुक्त होने से सोम जो दूसरा नियोग होने से (विविदे) प्राप्त होता वह, (गन्धर्वः) एक स्त्री से संभोग करने से गन्धर्व, जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है वह (अग्निः)- अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक और जो (ते) तेरे (तुरीयः) चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं वे (मनुष्यजाः) मनुष्य नाम से कहाते हैं | जैसा (इमां त्वमिन्द्र) इस मन्त्रा में ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती है, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है”

समीक्षक-- स्वामी जी ने तो ऐसी हठ ठानी है कि अर्थों का अनर्थ कर दिया है इस मंत्र का यह अर्थ नहीं जैसा कि स्वामी नियोगानंद जी ने किया है देखिए इसका सही अर्थ इस प्रकार है कि--

सबसे (प्रथमः)= पहले, (सोमः)= सोम, (विवदे)= इस कन्या को प्राप्त हो, {अर्थात कन्या के माता पिता सब से पहले तो ये देखें कि उसका पति 'सोम' है या नहीं, पति का स्वभाव सौम्य है या नहीं, तत्पश्चात इस कन्या को (गन्धर्वः)= 'गां वेदवायं धारयति' ज्ञान की वाणियों को धारण करने वाला हो, यह (उत्तरः)= अधिक उत्कृष्ट होता है, कि{ सौम्यता यदि पति का पहला गुण है तो ज्ञान की वाणियों को धारण करना उसका दुसरा गुण है, (तृतीयः)= तीसरा, (अग्निः)= प्रगतिशील मनोवृत्ति वाला हो {अर्थात तेरा पति वह है जो आगे बढ़ने की वृत्तिवाला हो }, (तुरीयः)=चौथा, (मनुष्यजाः)= वह मनुष्य की संतान हो, {अर्थात जिसमें मानवता

हो, जिसका स्वभाव दयालुता वाला हो क्रूरता वाला नहीं}, (ते)= तेरा, (पतिः)= पति है

भाव यह है कि—"कन्या व उसके माता पिता उसके पति में निम्न विशेषताएं अवश्य देखें कि पहला तो वह सौम्य हो सौम्यता पति का पहला गुण है, दुसरा गन्धर्व ज्ञान की वाणियों को धारण करने वाला हो अर्थात ज्ञानी हो, तीसरा प्रगतिशील मनोवृत्ति वाला हो, चौथा वह मनुष्यजा मनुष्य की संतान हो अर्थात जिसमें मानवता हो जिसका स्वभाव दयालुता वाला हो क्रूरता वाला नहीं"

इस मंत्र में कहीं भी नियोग तो क्या नियोग कि गंध तक नहीं है परन्तु स्वामी नियोगानंद जी ने इसके अर्थ का ऐसा अनर्थ किया कि पूछें मत, अब बुद्धिमान लोग एक बार स्वयं स्वामी जी द्वारा किये भाष्य पर दृष्टि डालकर बताए कि दयानंदी लोग क्या उसी स्त्री से विवाह करते हैं जो प्रथम एक से विवाह और दो से नियोग कर चुकी है?

धन्य हे! यही तो धर्म और स्वामी जी की शर्म है और पूर्व के विरुद्ध यहाँ ही दूसरा विवाह निकाल दिया,

अब विचारने की बात है यदि स्वामी नियोगानंद जी का किया अर्थ माने तो, न जाने वह पहला विवाहित सोम संज्ञावाला पति अपने जीते जी अपनी पत्नी गन्धर्व संज्ञावाले नियोगी पति को क्यों देगा? और वह गन्धर्व नियोगी अपने जीते हुए अग्नि संज्ञावाले नियोगी पति को क्यों देगा? और चौथा ही पति मनुष्य क्यों कहाता है? क्या वे पिछले तीन किसी जानवर की सन्तान हैं?

और तीसरे को ही अग्नि कि संज्ञा क्यों? शायद वो हमेशा यह सोच कर जलता रहता हो कि पहले के समान सुकुमारतादि

गुण और में क्यों नहीं इत्यादि इत्यादि। इस कारण दयानंद के किये सब अर्थ भ्रष्ट है

इसके अतिरिक्त और भी मंत्र जैसे--

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।

दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥

~ऋ० {मं० १०, सू० ८५, मं० ४५}

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥

~ऋ० {मं० १०, सू० १८, मं० ८}

इत्यादि मंत्रों के अर्थ का अनर्थ करकें नियोग बनाया है अर्थात नियोग झूठ से सिद्ध किया है, जबकि इन सभी मंत्रों में कहीं भी नियोग की गन्ध तक नहीं है।

सिर्फ अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दयानंद ने वेद मंत्रों के साथ कैसा अनर्थ किया वह आप सबके सामने ही है, और सुनिये

(दयानंद कृत ऋग्वेदभाष्य, भाष्य-२)

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।

दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥

~ऋ० {मं० १०, सू० ८५, मं० ४५}

दयानंद अपने ऋग्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि—

“हे (मीढ्व इन्द्र) वीर्य सेचन में समर्थ ऐश्वर्ययुत्तफ पुरुष !तू इस विवाहित स्त्री वा विध्वा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त

कर, इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान !हे स्त्री !तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ”

समीक्षक-- धन्य है! स्वामी जी कलयुग तो धिरे-धिरे आता था अपने उसे शीघ्र प्रवर्त करने का ढंग निकाला, जैसा कि आपने अपने सत्यार्थ प्रकाश में इस श्रुति के अर्थ यह लिखा कि "एक स्त्री चार नियुक्त पुरुषों के अर्थ और दो अपने लिए पुत्र उत्पन्न कर लें" यह तो जैसे घर की खेती समझ ली की जब गये पुत्र हो गया, कन्या का कोई नाम ही नहीं बस पुत्र ही पुत्र होंगे, यदि यह ईश्वर की आज्ञा है तो ईश्वर सत्यसंकल्प है सबके पुत्र ही उत्पन्न होने चाहिए कन्या एक भी नहीं, बस सारा नियोग यही समाप्त हो जाता है, परन्तु यह देखने में नहीं आता तुम तो अपने मिथ्या भाष्यों से ईश्वर को भी झूठा बनाते हो, इसलिए इस श्रुति का अर्थ यह नहीं बनता जैसा तुमने किया है बहुत से लोग निसंतान भी होते हैं यह व्यभिचार प्रचार मूर्ख नियोग समाजीयों के साथ साथ समस्त भारतवासियों को घोर अंधकार में डालने वाला है, इसमें वेद मंत्रों को क्यों सानते हो? यदि इतनी ही ज्यादा खुजाई मच रही थी तो कोई अपनी ही मिथ्या संस्कृत बना लेते, तुम्हारे चैले तो उसे भी पत्थर की लकीर मान लेते, देखिए वेदों में ऐसी बातें कभी नहीं होती, यह मंत्र विवाहप्रकरण का है जो आशीर्वाद के अर्थ में है और इसका अर्थ इस प्रकार है कि--

हे (इन्द्र)= इन्द्र परमएश्वर्य युक्त देव (मीढः) सर्वसुखकारी पदार्थों की वृष्टि करने वाले, (त्वम्)= आप, (इमाम्)= इस स्त्री को भी, (सुपुत्राम् सुभगम्)= पुत्रवती धनवती (कृणु)= करें और, (दश)= दश इसमें, (पुत्रान्)= पुत्रों को धारण करो, भाव यह है कि दश

पुत्र पैदा करने के अदृष्ट इस स्त्री में स्थापित करों, और (एकादशं)= ग्यारहवां, (पतिम्)- पति को, (कृधि)= करों अर्थात जीवित पति और जीवित पुत्र इसको करों, यह मंत्र आशिर्वाद के अर्थ है, जो स्वामी नियोगानंद जी ने कुछ का कुछ लिख दिया है, और स्वामी जी ने यह न सोचा कि यदि एकादश पति पर्यन्त नियोग करने की ईश्वर की आज्ञा है, तो ईश्वर तो सत्यसंकल्प है तब तो सब स्त्रीयों के दश-दश पुत्र से कम नहीं होने चाहिए यदि दश से कम होंगे तो ईश्वर का संकल्प निष्फल होगा, इससे स्वामी जी का किया अर्थ अशुद्ध है।

अब विचारने की बात यह है कि इसमें नियोग प्रचारक कौन सा शब्द है? जिस मंत्र मे नियोग कि गंध तक नही है स्वामी नियोगानंद जी ने उसे भी नियोग से जोड दिया, दयानंद जी ने तो यह समझ लिया कि हमारे अनुयायी हमारे वाक्यों को पत्थर की लकीर मानते हैं और वेदभाष्य भी हमारा किया ही मानते हैं इसलिए जो चाहे सो अंड संड बकवास किये जायें, इस हिसाब से तो तुम्हारे मत में किसी के दश से कम पुत्र नहीं होने चाहिए और जिनके दश से कम है वह तुम्हारे वाक्यानुसार कुछ चिंता करें, और दश संतान में समय कितना लगेगा यह न लिखा तुमने। और सुनिये,

(दयानंद कृत ऋग्वेदभाष्य, भाष्य-३)

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥

~ऋ० {मं० १०, सू० १८, मं० ८}

अपने ऋग्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि—

“हे (नारि) विध्वे तू (एतं गतासुम) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के (शेषे) बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो और (उदीष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्यदिधिषोः) तुम विध्वा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध् के लिये नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरा होगा। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम् बभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे”

समीक्षक-- स्वामी जी का यह भाष्य पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी के सर में बुद्धि कम गोबर ज्यादा भरा है देखिए, इधर पति मरा पड़ा है, स्त्री जिसका वह पालक पोषक नाथ था, उसके शोक में विलाप करती है, और स्वामी जी उसी समय उसको कहने लगे कि इसे छोड़ औरों को पति बना लें, शोक हे! ऐसी बुद्धि पर, स्वामी जी ने सिर्फ अपना स्वार्थ साधने के लिए वेद मंत्रों के अर्थ का अनर्थ किया है देखिए इसका सही अर्थ इस प्रकार है--

हे (नारि)= स्त्री, तेरे पति मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं इसलिए, (उदीर्ष्व)= उठ और इस, (जीवलोकम् अभि)= जीवित संसार अपने पुत्रादि और घर-परिवार का तू ध्यान कर, इस प्रकार (गतासुम)= गत प्राण, (एतम्)= इस पति के, (उपशेष)= समीप बैठ शौक करने का क्या लाभ? (एहि)= उठ और अपने घर को गमन कर, (हस्तग्राभस्य)= अपने गर्भ में सन्तान को स्थापित करने वाले, (तव पत्युः)= अपने पति की,(इदं जनित्वम्)= इस

सन्तान को, (अभि)= ध्यान करती हुई, (संबभूथ)= अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए यत्नशील हो।

अब विचारने की बात यह है इसमें नियोग प्रचारक कौन सा शब्द है? इस मंत्र में तो नियोग का कुछ भी आशय नहीं निकलता, और जबकि उसके पास बालक मौजूद हैं फिर भला उसे इस महाअधर्म व्यभिचार नियोग की क्या आवश्यकता है? अब बुद्धिमान स्वयं विचारें की स्वामी जी ने इसमें कितने मंत्रार्थ बदले हैं और अर्थ का अनर्थ कर लोगों को भ्रमित करने का प्रयास किया है। और सुनिये,

(दयानंद कृत ऋग्वेदभाष्य, भाष्य-४)

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।

प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥

~अथर्व० {का० १४, अनु० २, मं० १८}

दयानंद अपने ऋग्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि—

“हे (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि) पति और देवर को दुःख न देने वली स्त्री तू (इह) इस गृहाश्रम में (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (शिवा) कल्याण करनेहारी (सुयमा) अच्छे प्रकार धर्म-नियम में चलने (सुवर्चाः) रूप और सर्वशास्त्रा विद्यायुक्त (प्रजावती) उत्तम पुत्र पौत्रादि से सहित (वीरसूः) शूरवीर पुत्रों को जनने (देवृकामा) देवर की कामना करने वाली (स्योना) और सुख देनेहारी पति वा देवर को (एधि) प्राप्त होके (इमम्) इस (गार्हपत्यम्) गृहस्थ सम्बंधी (अग्निम्) अग्निहोत्रा का (सपर्य) सेवन किया करें”

समीक्षक-- स्वामी जी यहाँ भी अर्थ का अनर्थ करने से न चूंके, देखिए इस मंत्र में **"देवृकामा"** इस पद से यह अर्थ सिद्ध नहीं होता कि वह देवर से भोग करना चाहती है, और जबकि पति है तो भला वह दुसरे पुरुष की इच्छा क्यों करेगी? और कामना विद्यमानता में नहीं होती, अविद्यमानता में होती है, यदि वह देवर को पति रूप में चाहती तो **"देवरि पतिकामा"** ऐसा प्रयोग हो सकता है, सो मंत्र में किया नहीं इससे नियोग सिद्ध नहीं होता, किन्तु यह ऐसे स्थान का प्रयोग है, जिस स्त्री के देवर नहीं वह चाहती है कि यदि मेरे ससुर के बालक हो तो मैं देवर वाली होऊं, ऐसी स्त्री को देवृकामा कहते हैं, जैसे भ्रातृ रहित कन्या में "भ्रातृकामा" यह प्रयोग बनता है कि मेरे भाई हो तो मैं बहन कहाऊं, ऐसे ही यह देवृकामा शब्द है इससे नियोग सिद्ध नहीं होता, अब इसका यथार्थ अर्थ सुनिए--

हे स्त्री तू, (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि)= पति और देवर को दुख न देने वाली, (एधि)= वृद्धि को प्राप्त हो, अर्थात देवर आदि कुटुम्बियों से विरुद्ध मत करना, (इह)= इस गृहाश्रम में, (पशुभ्य:)= पशुओं के लिये, (शिवा)= कल्याणकारी, (सुयमा)= अच्छे प्रकार धर्म नियम में चलने वाली, (सुवर्चा:)= रूप गुणयुक्त, (प्रजावती)= उत्तम पुत्र पौत्रादि सहित, (वीरसू:)= वीर पुत्रों को जन्म देने वाली, (देवृकामा)= देवर के होने की प्रार्थना करने वाली, (स्योना)= सुखिनी, (इमम्)= इस, (गार्हपत्यम्)= गृहस्थ सम्बन्धी, (अग्निम्)= अग्निहोत्र को, (सपर्य)= सेवन किया करें।

यह इसका अर्थ है स्वामी जी ने यह नहीं सोचा कि उनका यह भाष्य और भी कोई देखेगा तो क्या कहेगा? यह विवाह सम्बन्धी मंत्र नियोग में लगाये हैं, धन्य है तुम्हारी बुद्धि, अब यदि तुम्हारी

अश्लील बुद्धि में केवल उल्टी बातें ही आती है तो सुनिये इस श्रुति में कथन है कि--

तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम्॥ ~अथर्व० {१४/२/२२}

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।

स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ ~अथर्व० {१४/२/२७}

हे स्त्री तू ससुर, पति और घर के कुटुम्बियों सभी के अर्थ सुख देने वाली हो।

अब यदि तुम्हारा किया अर्थ ही सही माने तो यहाँ पति, ससुर दोनों के लिए (स्योना) पद आया है अर्थात सुख देने वाली हो एवं सब ही कुटुम्बियों को सुख देने वाली लिखा है, तो क्या जो पति के संग व्यवहार करें, वही सबके साथ करें? यह कभी नहीं हो सकता पति को और प्रकार का सुख, और ससुरादि को सेवा आदि से सुख देती है, यह नहीं कि सुख देने से सबके संग भोग के ही अर्थ हो जाये, इससे स्वामी जी के किये सब अर्थ भ्रष्ट है मिथ्या है,

इससे यही सिद्ध होता है कि स्वामी का चलाया यह महाअधर्म व्यभिचार नियोग झूठ से सिद्ध होता है, इसी प्रकार दयानंद ने अन्य ग्रंथों के अर्थ का अनर्थ कर नियोग सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है,

दयानंदी-- तुम नियोग को वेद विरुद्ध कहते हो तो क्या जो ये मनुस्मृति आदि ग्रंथों में नियोग कथन किया है वह सब मिथ्या है?

देखिये स्वामी दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश में मनुस्मृति से नियोग का प्रमाण देते हुए यह लिखा है कि—

" प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।

विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रीस्तु वत्सरान्॥१॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजाः।

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥२॥ ~मनु० {९/७६,८१}

विवाहित स्त्री जो विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्ति के लिये गया हो तो छः और धनादि कामना के लिये गया हो तो तीन वर्ष तक बाट देख के, पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले, जब विवाहित पति आवे तब नियुक्त पति छूट जावे॥१॥

वैसे ही पुरुष के लिये भी नियम है कि वन्ध्या हो तो आठवें (विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ न रहै), सन्तान होकर मर जायें तो दशवें, जब-जब हो तब-तब कन्या ही होवे पुत्र न हों तो ग्यारहवें वर्ष तक और जो अप्रिय बोलने वाली हो तो सद्यः उस स्त्री को छोड़ के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे॥२॥"

क्या इन प्रमाणों से नियोग सिद्ध नहीं होता? कहिये!

समीक्षक-- यह अर्थ दयानंद के कपोल भंडार से निकलें है, इन दोनों ही श्लोकों में कहीं भी नियोग तो क्या नियोग की गंध तक नहीं है, और यह क्या बात हुई कि यहाँ पहला श्लोक तो ९ वें अध्याय का ७६ वां और दूसरा श्लोक ८१ वां लिखा है और इन दोनों का दयानंद ने एक ही प्रसंग लगा दिया, जबकि इनमें से

एक में भी नियोग तो क्या नियोग की गंध तक नहीं है, देखों इससे पहले यह श्लोक हैं कि--

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः।

अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि॥७४॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।

प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥७५॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।

विद्यार्थं षड्यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥७६॥

इसका अर्थ यह है कि-- जब कोई पुरुष परदेश को जाये तो प्रथम स्त्री के खान पान का प्रबंध करता जाये, क्योकि बिना प्रबंध क्षुधा के कारण कुलीन स्त्री भी दूसरे पुरुष की इच्छा कर सकती हैं॥७४॥

खान पान की व्यवस्था करकें परदेश जाने के अनन्तर उस पुरुष की स्त्री नियम अर्थात पतिव्रत से रहकर अपना समय व्यतीत करें, और जब भोजन को न रहे या पुरुष पुरा बंदोबस्त करकें न गया हो तो पति के परदेश होने तक शिल्पकर्म जो निन्दित न हो अर्थात सूत कातना हस्त से काढना आदि कर्मों से गुजरा करें॥७५॥

यदि वह परदेश धर्म कार्य को गया हो तो आठ वर्ष, विद्या पढने गया हो तो छः वर्ष, धन यश को गया हो तो तीन वर्ष तक राह देखें, पश्चात पति के पास जहाँ हो वहाँ चली जावें॥७६॥

अब तुम ही बताओ कि इसमें नियोग की बात कहा से आ गई और यह हम पहले ही कह चुके हैं कि मनु जी इस महाअधर्म नियोग का समर्थन नहीं करते, बल्कि मनु जी तो इसे पशुधर्म

बताते हुए, इस महाअधर्म व्यभिचार नियोग की घोर निंदा करते हैं, सुनिये मनु जी नियोग की निंदा करते हुए मनुस्मृति में यह लिखते हैं कि--

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्व चित्।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥ {९.६५}

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।

पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किं चिदप्रियम्॥ {५/१५६}

कामं तु क्सपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।

न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥ {५/१५७}

आसीता मरणात्क्सान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।

यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥ {५/१५८}

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।

दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥ {५/१५९}

मृते भर्तरि साद्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।

स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ {५/१६०}

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।

सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते॥ {५/१६१}

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।

निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥ {५/१६३}

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।

शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥ {५/१६४}
~मनुस्मृति

जो वेद मंत्र विवाह के संबंध में कहें गए हैं उसमें न तो नियोग का वर्णन है और न ही विधवा विवाह का॥

अगले जन्म में अच्छा पति पाने की इच्छा रखने वाली स्त्री को इस जन्म में विवाहित पति की जीवन-अवधि में अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर उसे बुरा लगने वाला कोई कार्य नहीं करना चाहिए॥१५६॥

स्त्री अपने पति की मृत्यु हो जाने के पश्चात फल-फूल और कन्द-मूल खाकर अपना शरीर चाहे सुखा ले पर भूल कर भी दूसरे पुरूष के संग की इच्छा न करें॥१५७॥

पतिव्रता स्त्री को पति के मृत्यु के बाद पुरा जीवन क्षमा, संयम, तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुजारना चाहिए, उसे सदाचारणी स्त्रीयों द्वारा आचरण योग्य उत्तम धर्म का पालन करने पर गर्व करना चाहिए॥१५८॥

यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु बिना किसी संतान को उत्पन्न किए हो जाए तब भी स्त्री को अपनी सद्गति के लिए दूसरे पुरुष का संग नहीं करना चाहिए,॥१५९॥

सन्तान उत्पन्न नही करने वाले ब्रह्मचारीयों की तरह पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य पालन करने वाली स्त्री पुत्रवती नही होने पर भी स्वर्ग प्राप्त करती है॥१६०॥

पुत्र प्राप्ति की इच्छा से जो स्त्री पतिव्रत धर्म को तोड़ कर दूसरे पुरुष के साथ संभोग करती है उसकी इस संसार में निंदा होती है तथा परलोक में बुरी गति मिलती है॥१६१॥

कम गुणों वाले अपने पति का त्याग कर जो स्त्री अधिक गुणों वाले अन्य पुरुष का संग करती हैं वह इस संसार में निंदा का पात्र बनती है और दो पुरूषों की अंकशायिनी बनने का कलंक लगवाती है॥१६३॥

पति के सिवाय दूसरे पुरुष से संभोग करने वाली विवाहित स्त्री इस संसार में निंदा का पात्र तो बनती ही है और मरने के बाद गीदड़ की योनि में जन्म लेती हैं, वह कोढ़ जैसे अनेक असाध्य रोगों से पीड़ा पाति है॥१६४॥

अब कहों क्या तुमने और तुम्हारे इस निर्बुद्धि दयानंद ने मनुस्मृति में यह श्लोक नहीं देखें? अवश्य देखें होंगे परन्तु लिखते कैसे इच्छा तो भारतवर्ष की समस्त स्त्रीयों को व्यभिचारीणी बनाने की थी, भारतवर्ष को इस पशुधर्म की ओर धकेलने की थी, और देखिये तुम्हारे स्वामी जी ने जो यह दूसरा श्लोक लिखा है, **(वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे०)** इसके अर्थ भी गडबड लिखें हैं, सुनिये इसका सही अर्थ इस प्रकार है कि--

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजाः।

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥

पत्नि यदि वन्ध्या हो तो आठ वर्ष, बार-बार मृत बच्चों को जन्म देती हो तो दश वर्ष, या केवल कन्याओं को ही जन्म देती हों तो ग्यारह वर्ष उपरान्त पति दुसरा विवाह करने का अधिकारी है और यदि पत्नि अप्रिय बोलने वाली है तो पति तत्काल दुसरा विवाह कर सकता है।

यह इसका अर्थ है, अब कहों इसमें नियोग की बात कहाँ से आ गई, भला इसमें नियोग विषयक ऐसा कौन सा पद है जिससे कि नियोग सिद्ध होता है, यह नियोग की बात तुम्हारे स्वामी जी के

कपोल भंडार से प्रकट हुई है, इस कारण दयानंद के किये सभी अर्थ अशुद्ध होने से, मानने योग्य नहीं,

दयानंदी-- तो क्या मनुस्मृति से नियोग सिद्ध नहीं होता?

समीक्षक-- नहीं, और इस बात का प्रमाण हम पूर्व लिख आये हैं।

दयानंदी-- यदि ऐसा मानते हो तो सुनिये, स्वामी दयानंद जी ने सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में पुनः मनुस्मृति से प्रमाण लिखा है कि—

"देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिाया सम्यघ् नियुक्तया।

प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥१॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्य्या यवीयान्वाग्रजस्त्रियम्।

पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि॥२॥

औरसः क्षेत्राजश्चै०॥३॥ ~मनु०{अ० ८, श्लोक ५८-६०}

(सपिण्ड) अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विध्वा स्त्री का नियोग होना चाहिये, परन्तु जो वह मृतस्त्रीपुरुष वा विध्वा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है, और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे, जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी पुनः वे नियुक्त आपस में समागम करें तो पतित हो जायें, अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है"

अब तुम कहों क्या इससे नियोग सिद्ध नहीं होता?

समीक्षक-- तुम चुतिया हो, और तुमसे भी बड़ा चुतिया है तुम्हारा यह निर्बुद्धि दयानंद, सुनो तुमने यह श्लोक तो पढ़े पर यह जाना कि यह श्लोक यहाँ किस सन्दर्भ में लिखा है, मनुस्मृति में लिखीं सब ही बातों को मनु जी का मत जान लेना, इसी से दयानंद की बुद्धि का पता चलता है, सुनिये यह मत मनु जी का नहीं बल्कि राजा वेन का है जिसे मनु जी अपने ग्रंथ में इस कारण कथन किया है क्योंकि उस समय राजा वेन के राज में यह पशुधर्म नियोग चलन में था, यह पशुधर्म राजा वेन ने आरंभ किया और उसने नियोग के जो-जो नियम चलाए उसे मनु जी ने अपने ग्रंथ में लिखा है जिससे सब मनुष्य यह बात भलीभाँति समझ सकें कि क्या धर्म है और क्या अधर्म? और यह हम पूर्व ही सिद्ध कर आये हैं कि मनु जी इस पशुधर्म नियोग के घोर विरोधी थे, सुनिये मनु जी, राजा वेन द्वारा चलाये इस महाअधर्म नियोग की निंदा करते हुए लिखते हैं कि--

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।

यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥ -{९/५७}

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।

सृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥ -{९/३०}

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।

अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥ -{९/६४}

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्व चित्।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥ -{९/६५}

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥ -{९/६६}

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।

वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः॥ -{९.६७}

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥ -{९/६८} ~मनु०

छोटे भाई के लिए बड़े भाई की पत्नी गुरु पत्नी तुल्य, और बड़े भाई के लिए छोटे भाई की पत्नी पुत्रवधू जैसी होती है॥

यदि विवाहित स्त्री परपुरूष का संग करती है तो वह इस लोक में निन्दित होती है, और अनेक यौन सम्बन्धी रोगों से ग्रसित हो जाती है तथा मृत्यु के बाद गीदड़ी के रूप में जन्म लेती है॥

ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की विधवा स्त्री को परपुरूष का संग नहीं करना चाहिए, दूसरे पुरुष का संग करने से स्त्री सनातन एक पतिव्रत धर्म को नष्ट करती है और उससे उत्पन्न संतान धर्म का विनाश करने वाली होती है॥

जो वेद मंत्र विवाह के सम्बन्ध में कहें गये हैं, उनमें न तो नियोग का वर्णन है और न ही विधवा विवाह का॥

नियोग का प्रयोग राजा वेन के शासनकाल में अवश्य हुआ था लेकिन तब भी विद्वज्जनों ने इसे पशुधर्म बताते हुए मनुष्यों के लिए निषिद्ध बताया था॥

जो राजा वेन सम्पूर्ण धरती को भोगने वाला चक्रवर्ती सम्राट था, कामवासना के वशीभूत हो उसी राजा ने वर्णसंकर संतान उत्पन्न करने के दुष्चक्र(नियोग) का आरम्भ किया॥

उस राजा वेन के समय से यह रीति चली और जो उसकी मति मानने वाले लोग शास्त्र के न जानने वाले विधवा स्त्री को

परपुरूष के साथ योजना करते हैं, उस विधि को साधु पुरुष निन्दा करते हैं॥

इससे सिद्ध होता है कि यह पशुधर्म नियोग राजा वेन ने आरम्भ किया, और मनु जी नियोग प्रथा के घोर विरोधी थे, मनु जी ने इस महाअधर्म नियोग की तुलना पशुधर्म से करते हुए इसकी बहुत निन्दा की है, जो विद्वान लोग हैं वे इस बात को भलीभाँति समझते हैं, मुझे तो तुम्हारे स्वामी जी राजा वेन के ही अवतार मालूम पड़ते हैं, या राजा वेन के भी बाप, दादा या गुरु कहूं तो गलत नहीं होगा, क्योकि उसने तो केवल अपनी ही जाति में नियोग चलाया और एक ही संतान उत्पन्न करने को कहा, परन्तु तुम्हारे दयानंद तो सब ही जाति में नियोग करना और ग्यारह तक पति बनाने की आज्ञा करते हैं, यह पशुधर्म दयानंद ने चलाया जो राजा वेन से प्रारम्भ हुआ है इससे पता चलता है कि दयानंद धर्म के नहीं अधर्म के फैलाने वाले हैं।

अब जबकि वेदादि प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि नियोग झूठ से सिद्ध होता है, धर्मशास्त्रों के अनुसार भी विद्वज्जनों ने इसे पशुधर्म बताते हुए मनुष्यों के लिए निषिद्ध बताया और इस महाअधर्म व्यभिचार नियोग की खुब निंदा की है, फिर भी न जाने क्यों स्वामी नियोगानंद जी बार-बार वेदादि ग्रंथों के अर्थ का अनर्थ कर इस पशुधर्म नियोग को सिद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं, इससे मन में शंका उत्पन्न होती हैं कि स्वामी जी अपने पिता की ही पैदाइश है या फिर ग्यारह नियोग की!

महर्षि या फिर महाचुतिया

इस लेख के माध्यम से मैं आप लोगों के सामने दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य के कुछ ऐसे भाष्य रख रहा हूँ जिसे पढ़कर एक बार को आप लोगों की बुद्धि भी चकरा जायेगी आप लोगों को यही समझ में नहीं आयेगा कि दयानंद के इन भाष्यों पर हंसें, क्रोधित हो या फिर दयानंद की मानसिक स्थिति को लेकर दुख व्यक्त करें, इस लेख को लिखने का मेरा उद्देश्य सिर्फ इतना है कि जो लोग दयानंद को संस्कृत का विद्वान समझते हैं, उन्हें यह पता होना चाहिए कि दयानंद को संस्कृत तो छोडिये संस्कृत का 'स' भी नहीं आता था, या यह कहे कि उन्होंने संस्कृत की कभी शक्ल तक न देखी होगी तो कहना गलत न होगा, और जब ऐसा मंदबुद्धि व्यक्ति वेदों का भाष्य करने बैठ जाये तो अर्थ का किस प्रकार अनर्थ करता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है, वह आपके सामने ही है देखिये--

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-१)

होता यक्षद् अश्विनौ छागस्य हविष ऽ आत्ताम् अद्य मध्यतो मेद ऽ उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासे ऽ अज्राणां यवसप्रथमानाम्ँ सुमत्क्षराणाम्ँ शतरुद्रियाणाम् अग्निष्वात्तानां पीवोपवसानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत ऽ उत्सादतो ङ्गाद्-अङ्गाद् अवत्तानां करत एवाश्विना जुषेताम्ँ हविर् होतर् यज॥ ~यजुर्वेद {२१/४३}

दयानंद अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ करते हुए अपने लाडले शिष्यों के लिए फरमाते है कि--

“हे (होत:) देनेहारे! जैसे, (होता) लेनेवाला,,,, (छागस्य) बकरा आदि पशुओं के, (मध्यत:)- बीच से, (हविष:)- लेने योग्य पदार्थ, (मेद:)- अर्थात घी, दूध आदि,,,,,, (आत्ताम्) लेवें वा,,,,, (नूनम्) निश्चय करकें, (घस्ताम्) खावें वा,,,,,, (हवि:) उक्त पदार्थों से खाने योग्य पदार्थ का,,,,,, (जुषेताम्) सेवन करें”

भावार्थ में स्वामी जी लिखते हैं कि "जो छागस्य (अर्थात बकरा) आदि पशुओं की रक्षा कर उनके दूध घी आदि का अच्छी प्रकार सेवन करते हैं उनके सब अंग रोग मुक्त हो सुख को प्राप्त करते हैं

समीक्षक-- वाह रे! सत्यार्थ प्रकाश के रचने वाले, वेद ऋचाओं के अर्थ का अनर्थ करने वाले, क्या कहने तेरे! **(छागस्य)** अर्थात बकरा आदि पशुओं से लिए दूध घी आदि का अच्छी प्रकार सेवन करें, धन्य हे! निर्बोधानंद तेरी बुद्धि, अच्छी शिक्षा लिखीं हैं अपने लाडले शिष्यों को बस यही शेष रह गया था, सो भी तुमने अपने शिष्यों को कथन कर दिया, अभी तुम्हारे चेले कम नमूने थे जो उन्हें नर बकरे का दूध घी खाना लिख दिया, इस श्रुति का अर्थ लिखने से पूर्व जरूर स्वामी जी ने (छागस्य) बकरे का दूध पिया होगा, जिससे उनकी मति भ्रष्ट हो गई, इसी कारण स्वामी जी इस श्रुति में (छागस्य) नर बकरे का दूध घी खाना लिखते हैं, बकरी का नहीं खास बकरों का, धन्य हे! ऐसा भाष्यकार और धन्य है ऐसे भाष्यों को मानने वाले अक्ल से पैदल समाजी, अब आपको स्वामी जी की बुद्धि के बारे में क्या कहें? स्वामी जी ने इस श्रुति के अर्थ का कैसा अनर्थ किया है वह आप लोगों के सामने ही है, ये दयानंदी कहते हैं कि हम वैदिक है और हमें

केवल दयानंद कृत वेदभाष्य ही मान्य है, हम जितने भी कार्य करते हैं उसी के अनुकूल करते हैं,

तो मैं उनसे पूछना चाहूँगा, क्या मेरे दयानंदी भाई रोज **(छगस्य)** नर बकरे का दूध, दही, घी आदि खाते हैं, यदि नहीं खाते तो वेद विरुद्ध करते हैं क्योकि जब तक ये दयानंद ने भाष्यानुसार बकरे का दूध, घी नहीं खाते, तब तक वैदिक न कहलायेंगे, और यदि एक बार को दयानदी खाना भी चाहे तो खायेंगे कहाँ से, क्या संसार में बकरे का दूध, दही, घी आदि होता भी है? जो ये खायेंगे, बकरों का दूध, घी आदि न तो इस संसार में कभी हुआ है और न ही होगा, ऐसी असंभव चिज के खाने को लिखने से ही दयानंद की बुद्धि का पता लगता है, कोई कितना ही बड़ा मुर्ख क्यों न हो, उसकी बुद्धि कितनी ही घुटनों में क्यों न हों वह भी ऐसी बिना सिर की बात न लिखेगा, जैसे स्वामी ने लिखा है, दयानंद के इस भाष्य को पढ़कर ही पता लग जाता है कि स्वामी जी ने उस दिन लौटा भरकर पिया होगा, अब बकरे का दूध पिया या कुछ और ही पी लिया यह कह पाना मुश्किल है, और सुनिये,

(दयानंद कृत यजुर्वेदभाष्य, भाष्य-२)

सूपस्था ऽ अद्य देवो वनस्पतिर् अभवद् अश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्राय ऽऋषभेणाक्षँस्तान् मेदस्तः प्रति पचतागृभीषतावीवृधन्त पुरोडाशैर् अपुर् अश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान्॥ ~यजुर्वेद {२१/६०}

स्वामी जी अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि--

“हे मनुष्यों! (अश्विभ्याम्)- प्राण और अपान के लिए, (छागेन)- दु:ख विनाश करने वाले छेरी आदि पशु से, (सरस्वत्यै)- वाणी के लिए, (मेषेण)- मेंढ़ा से, (इन्द्राय)- परम ऐश्वर्य के लिए, (ऋषभेण)- बैल से, (अक्षन्)- भोग करें”

स्वामी जी अपने इस भाष्यानुसार अपने लाडले शिष्यों के लिए फरमाते है, कि यदि कोई दयानंदी हमेशा दुखी रहता हो, जीवन में दिक्कत परेशानीयाँ ज्यादा रहती हो, तो वो दु:ख के विनाश के लिए छेरी (बकरी) आदि पशु के साथ भोग किया करें,

और यदि किसी दयानंदी की वाणी खराब हो गई हो जैसे तुतलापन हो, गला बैठ गया हो या फिर जन्म से गूंगा आदि हो तो ऐसे समाजी, वाणी के लिए मेंढ़ा (मेंढक) से भोग किया करें,

और परम ऐश्वर्य की कामना रखने वाले सभी दयानंदी परम ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग किया करें,

वाह! दयालु हो तो ऐसा, देखिये स्वामी जी ने किस युक्ति से अपने लाडले शिष्यों का धन बचाया है, भारतवर्ष में अब तक लोग यह शिकायत किया करते थे कि यहाँ विवाहों में धन अधिक खर्च होता है, लेकिन आज तक कोई इसका वन्दोवस्त न कर सका, परन्तु स्वामी जी ने युक्ति के साथ वह वन्दोवस्त भी कर दिया, अब दयानंदीयों को न तो खर्च करने की जरूरत और न ही विवाह करने की जरूरत, दोनों आवश्यकताएँ मिट गई, क्योकि दयानंदी अब अपने वेदभाष्यों के विरुद्ध स्त्री के साथ भोग ही नहीं करेंगे, जब इच्छा होगी किसी बकरी, मेंढे या फिर बैल के साथ भोग कर लिया करेंगे,

इसके अलावा एक और अन्याय हो गया वह यह कि हमारे दयानंदी भाई तो बैल से भोग कर परम ऐश्वर्य वाले हो जायेंगे,

और उनसे भिन्न मत वाले हमेशा गरीब ही रहेंगे, क्योकि इनके हाथ तो किस्मत की चमचमाती छडी लग गई जहाँ जरा सी भी सम्पत्ति घटी फिर बैल के साथ भोग कर लेंगे और इनसे भिन्न मत वाले इस निन्दित घृणा मुक्त कर्म कर न सकेंगे, और हमेशा गरीब ही रहेंगे, इसके विपरीत समाजी ऐश्वर्यवान होते जायेंगे फिर चाहे कोई रोजगार करें या न करें,

मुझे इस बात का बड़ा संदेह हो गया कि हमारे दयानंदी भाई उचित अनुचित जो कुछ भी दयानंद लिख गये यह सबको सत्य ही मानते हैं, अब आप सोचिये कि इस प्रकार की उट पटांग बातें लिखने वाले दयानंद की बुद्धि कैसी रही होगी? और सुनिये,

इसी प्रकार अध्याय १६ मंत्र १७ में दयानंद राजा को आम के वृक्ष काटना लिखते हैं

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः॥१६/१७

स्वामी जी अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका अर्थ यह लिखते हैं कि—“हे शत्रुताड़क सेनापति! (वृक्षेभ्य:)- आम्रादि वृक्षों को काटने के लिए, (नम:)- वज्रादि शस्त्रों को ग्रहण कर”

स्वामी जी राजा के लिए लिखते हैं कि वो आम आदि के जितने भी संसार को लाभ पहुंचाने वाले वृक्ष है उन्हें कटवा दें, वाह स्वामी जी वाह क्या उत्तम बात सोची है, जो वृक्ष संसार को लाभ पहुचाते है उन्हीं को कटवा दें, उसी का नाम तो उपकार है मालूम होता है इस दिन लौटा भरकर भांग पिया है, और सुनिये,

फिर आगे यजुर्वेद अध्याय १६ मंत्र ५२ के भाष्य में अपने शिष्यों को आज्ञा देते हैं कि तुम राजा से कहों की सूवर के समान सोने वाले राजा,

विकिरिद्र विलोहित नमस् ते ऽ अस्तु भगवः।

यास् ते सहस्रम्ँ हेतयो ऽन्यम् अस्मन् नि वपन्तु ताः॥
~यजुर्वेद {१६/५२}

“हे (विकिरिद्र)- विशेषकर सूवर के समान सोने वाले, (भगव:)- ऐश्वर्ययुक्त राजन्!”

वाह वाह राजा के लिए बड़ी ही अच्छी उपमा दी है, जिस ईश्वर को अपने वेदभाष्यों में राजा बोलते आए, और फिर उसी राजा को सूवर की उपमा ये आप जैसे धूर्त को ही शोभा देता है, दयानंद की बुद्धि का पता तो यही लग जाता है, जिस राजा को प्रजा पिता तुल्य मानती है उसे स्वामी जी सूवर की भांति सोने वाला लिखते है,

हमारे यहाँ तो राजा को ऐसे अपशब्द नहीं बोले जाते, हो सकता है आर्य समाज में राजा को सूवर के तुल्य समझा जाता हो, शायद समाजी अपने राजा अर्थात दयानंद को इसी प्रकार बोलते हो, की "हे भंग के नशे में विशेषकर सूवर की भांति सोने वाले राजन्" और फिर दयानंद ने यही बात अपने वेदभाष्य में लिख दी हो, और सुनिये,

फिर आगे अध्याय ३७ मंत्र ७ में दयानंद लिखते हैं कि- “ईश्वर हमारे भाईयों को घोड़े की लेंडी अर्थात लीद से तपाता है”

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ ~यजुर्वेद {३७/९}

“हे मनुष्य! जैसे मैं, (त्वा)- तुझको, (अश्वस्य)- घोड़े की, (शक्ना)- लेंडी, लीद से, (धूपयामि)- तपाता हूँ”

धन्य है ऐसे भाष्य को जिसके हुक्म से हमारे दयानंदी भाई रोज घोड़े की लीद से तपते है,

धन्य है ऐसे भाष्यकार और धन्य है ऐसे भाष्यों को मानने वालें,

दयानंद मत पशुहिंसा धर्म का अंग

॥जिहादी दयानंद॥

दयानंद यजुर्वेदभाष्य, अध्याय १३ मंत्र ४८, ४९,

इमं मा हिँ सीर् एकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरम् आरण्यम् अनु ते दिशामि तेन चिन्वानस् तन्वो नि षीद। गौरं ते शुग् ऋच्छतु यं द्विष्मस् तं ते शुग् ऋच्छतु॥

~यजुर्वेद {१३/४८}

इमँ साहस्रँ शतधारम् उत्सं व्यच्यमानँ सरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानाम् अदितिं जनायाग्ने मा हिँ सीः परमे व्योमन्। गवयम् आरण्यम् अनु ते दिशामि तेन चिन्वानस् तन्वो नि षीद। गवयं ते शुग् ऋच्छतु यं द्विष्मस् तं ते शुग् ऋच्छतु॥

~यजुर्वेद {१३/४९}

दयानंद अपने यजुर्वेदभाष्य में इसका यह अर्थ लिखते हैं कि--

“मनुष्यों को उचित है कि जिनके मारने से जगत् की हानि और न मारने से सबका उपकार होता है, उनका सदैव पालन पोषण करें, **और जो पशु तुम्हारे लिए लाभकारी न हों उनको मारें”** ॥४८॥

“हे (अग्ने) दया को प्राप्त हुए परोपकार राजन्, (ते) तेरे राज्य में, (आरण्यम्)- वन में रहने वाली, **(गवयम्)- गौ जाति की नीलगाय से खेती की हानि होती है इस कारण, (तेन)- उसके मारने को, (अनुदिशामि)- उपदेश करता हूँ”**

इसके भावार्थ में स्वामी जी लिखते हैं कि-- और गौ जाति से सम्बन्ध रखने वाली, गौ के समान दिखने वाली नीलगाय आदि जो जंगल में रहती है, उससे खेती की हानि होती है इसलिए वह मारने योग्य है,

समीक्षक-- धन्य है ऐसा भाष्य करने वाला मंद बुद्धि दयानंद और धन्य है इन भाष्यों को मानने वाले अक्ल से पैदल समाजी, यह स्वामी जी को क्या सुझी की धर्म कर्म छोड़ हिंसा का मार्ग पकड़ लिया, यह शिक्षा वेद में देखने को तो नहीं मिलती, यह तो वेद के नाम पर आपने अपने शिष्यों को खुली छूट दे दी, कि नीलगाय आदि जो पशु तुम्हारे लिए लाभकारी नहीं उन्हें मारें, शोक हे! ऐसी बुद्धि पर, देखिये इसका यह अर्थ नहीं है जैसा तुमने लिखा है यह वेद श्रुति प्रार्थना के अर्थ है इस श्रुति में यह प्रार्थना है कि--

“हे अग्ने! यह गौ श्रेष्ठ स्थान में रहने वाली सहस्रों उपकार करने वाली, दुग्धादि की सैकड़ों धारा वाली, लोकों में विविध व्यवहार को प्राप्त और मनुष्यों का हित करने को घृत, दुग्ध को देने वाली है, अदिति रूपा यह गौ आपके इस स्वरूप को देख पीडित न हो इसके विपरीत आरण्य में रहने वाले गवय आदि पशुओं (जिनसे खेती की हानि होती है) को आपसे भय प्राप्त हो”

इसी कारण लोग वनीय पशुओं से अपनी फसल आदि की रक्षा करने के अर्थ मसाल आदि जलाकर रखते हैं जिस कारण वन में रहने वाले पशु उनसे दूर ही रहते हैं क्योंकि सब ही प्रकार के वन में रहने वाले पशु अग्नि से भय खाते हैं और उनसे दूर ही भागते है, यह इस श्रुति का आशय है इसमें कहीं भी किसी भी जीव को मारना कथन नहीं किया है, क्योकि किसी भी प्रकार की हिंसा अधर्म होने से वेद विरुद्ध है, यह बात दयानंदीयों को भी

समझनी चाहिए, जबकि दयानंद ने अपने वेदभाष्य में अपने लाडले शिष्यों को खुली छूट दे दी कि जो पशु तुम्हारे लिए लाभकारी नहीं है उन्हें मार दो, और यह अर्थ स्वामी जी से किसी भूलवश नहीं हुआ, स्वामी जी अपने अन्य लेखों में भी पशुहिंसा का समर्थन कर चुके हैं देखिये जैसे सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण के पृष्ठ १४६ में लिखा है कि "मांस के पिण्ड देने में तो कुछ पाप नहीं"

पृष्ठ संख्या १७२ में लिखा है कि "यज्ञ के वास्ते जो पशुओं की हिंसा है सो विधिपूर्वक हनन है"

पृष्ठ संख्या ३०२ में है कि "कोई भी मांस न खाएँ तो जानवर, पक्षि, मत्स्य और जल इतने है, की उनसे शत सहस्र गुने हो जाएं, फिर मनुष्यों को मारने लगें और खेतों में धान्य ही न होने पावे फिर सब मनुष्यों की आजीविका नष्ट होने से सब मनुष्य नष्ट हो जाएं"

पृष्ठ ३०३ में लिखा है कि "जहाँ जहाँ गोमेधादिक लिखे हैं वहाँ वहाँ पशुओं में नरों का मारना लिखा है और एक बैल से हजारों गैया गर्भवती होती है, इससे हानि भी नहीं होती और जो बन्ध्या गाय होती है उसको भी योमेघ में मारना क्योकि बन्ध्या गाय से दुग्ध और वत्सादिको की उत्पत्ति होती नहीं"

पृष्ठ ३६६ में लिखा है कि "पशुओं को मारने में थोड़ा सा दु:ख होता हैं परन्तु यश में चराचर का अत्यन्त उपकार होता है"

यह सब बातें सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण में स्वामी जी ने ही लिखी है जिसे बाद में सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय संस्करण में संशोधन कर यह कहकर हटा दिया गया, कि यह बातें लिखने व छापने वालों की गलती से छप गई थी,

निम्न लेख को पढ़कर विद्वान लोग सम्यक् समझ सकते हैं कि दयानंद जी धर्म के फैलाने वाले थे या फिर अधर्म के, और सुनिये आगे अध्याय १५ मंत्र १५ में दयानंद लिखते हैं कि--

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस् तस्य रथगृत्सश् च रथौजाश् च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्षणवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस् तेभ्यो नमो ऽ अस्तु ते नो ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश् च नो द्वेष्टि तम् एषां जम्भे दध्मः॥ ~यजुर्वेद {१५/१५}

“जो (अयम्)- यह, (दङ्क्षणवः)- मांस और घास आदि पदार्थों को खानेवाले पशु आदि उनके ऊपर, (हेतिः)- बिजुली गिरे,,,,, (यः)- जो, (नः)- हमसे, (द्वेष्टि)- विरोध करें, (तम्)- उसको हम लोग, (एषाम्)- इन व्याघ्रादि पशुओं के, (जम्भे)- मुख में, (दध्मः)- स्थापन करें”

समीक्षक-- दयानंद की हिंसक बुद्धि देखें दयानंद लिखते हैं कि (दङ्क्षणवः)- मांस और घास आदि पदार्थों को खानेवाले पशु आदि उनके ऊपर, (हेतिः)- बिजुली गिरे, दयानंद ने यहाँ पशुहिंसा को भी धर्म का अंग बना दिया, धन्य है स्वामी जी तुम्हारी बुद्धि, अब दयानंदी हमें ये बताए भला इन जीवों पर बिजुली क्यों गिरनी चाहिए, और भला ईश्वर इन जीवों पर बिजुली क्यों गिराने लगे? जिनकी सृष्टि उसी के द्वारा की गई है, यदि ये जीव संसार के लाभकारी न होते तो भला ईश्वर उनकी सृष्टि क्यों करता? और दयानंद तो घास खाने वाले अहिंसक जीवों तक को मारना लिखते है, दयानंदी बताए, भला घास खाने वाले जीवों से संसार की क्या हानि है? उनके ऊपर बिजुली क्यों गिरनी चाहिए? मुझे तो नहीं लगता कि इस संसार में कोई भी ऐसा जीव है जो संसार के लिए हानिकारक है, यदि ऐसा होता तो ईश्वर

उसकी सृष्टि ही नहीं करता, इस जगत् में प्रत्येक जीव एक दूसरे पर निर्भर है, और ऐसे में यदि एक जीव की नस्ल भी खत्म हो जाए तो पुरा जीवन क्रम ही बिगड जाए यही नही, इसी श्रुति में फिर आगे लिखा है कि--

(यः)- जो, (नः)- हमसे, (द्वेष्टि)- विरोध करें, (तम्)- उसको हम लोग, (एषाम्)- इन व्याघ्रादि पशुओं के, (जम्भे)- मुख में, (दध्मः)- स्थापन करें,

धन्य हे! स्वामी जी बुद्धि, स्वामी जी को तो अपने लिखें लेख भी स्मरण नहीं रहते देखिये सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में पृष्ठ १३७ पर स्वामी जी यह लिखते हैं कि "ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उस को स्वीकार करता है कि जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझ को सब से बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जाये इत्यादि,

स्वामी जी के इस भाष्य से तो स्वामी जी जी का ही मत खंडित होता है, अब यदि ईश्वर ऐसी प्रार्थना को स्वीकार नहीं करता तो इससे यही सिद्ध होता है कि दयानंद का यह भाष्य अशुद्ध है, अब दयानंदी स्वयं इस बात का निर्णय करें कि इसमें से कौन सी बात सही है, दयानंद का यह वेदभाष्य या फिर सत्यार्थ प्रकाश में लिखा यह लेख!

चतुर्थ खंड
नास्तिक नियोग समाजियों को उत्तर

आर्य अर्थात श्रेष्ठ

(आर्य सम्बोधन का शब्द न की कोई जाति)

कुछ लोग स्वयं को इसलिए भी आर्य कहते है क्योंकि पूर्व काल में इस देश का एक नाम आर्यवर्त हुआ करता था, प्रथम इस देश का नाम ब्रह्मावर्त, फिर आर्यवर्त उसके बाद भारत आदि नाम से जाना गया है, हर कोई इस देश को अलग-अलग नाम से पुकारता है

रामायण महाभारत मे भी आर्य का सम्बोधन आया है, परन्तु क्या यह संबोधन किसी व्यक्ति विशेष के लिए था? या उस समय के लोग स्वयं को आर्य (श्रेष्ठ) कहते थे? ऐसा देखने में तो नहीं आता, रामायण महाभारत आदि में भी यही देखने में आता है कि उस समय भी दुसरों के द्वारा ही “आर्यपुत्र” “आर्यमाता” “आर्यपत्नी” का संबोधन मिलता है। एक भी ऐसा उदाहरण नही मिलता जिसमे किसी ने स्वंय को आर्य कहा हो, कहते भी तो कैसे? उस सयय के लोग इतने मूर्ख नही थे, आर्य सम्बोधन का शब्द है, जो सदैव दुसरें के लिए प्रयोग होता हे, कभी कोई अपने लिए प्रयोग नहीं करता, जिन पुरुषों के गुण कर्म और स्वभाव दूसरों से श्रेष्ठ होते हैं, जो पुरुष कुलीन होते हैं उन्हें आर्य कहकर संबोधित किया जाता है, यह उस मनुष्य पर निर्भर करता की उसके गुण कर्म और स्वभाव आर्य कहलवाने योग्य है या नहीं, लेकिन जो यह बात जानते है कि उनका स्वभाव टुष्टों वाला है, बुद्धि मूर्खों वाली है उत्पत्ति ग्यारह नियोग से हुई है इस कारण उन्हें कोई आर्य तो कहने से रहा सो वह अपने मुख से स्वयं को आर्य कथन

कर स्वघोषित आर्य बनने की कोशिश करते हैं, ऐसी ही स्वघोषित आर्यों वाली मूर्खों की एक टोली आर्य समाज के नाम से प्रचलित है, वह स्वयं को ही अपने मुख से आर्य बोलकर मन ही मन खुश होते हैं, इसी प्रकार मुर्ख अक्सर मिलते रहते हैं, अभी कुछ दिन पहले मेरी बहस एक आर्य समाजी से हो गई, बात आगे बढ़ी तो वह बोल पड़ा कि "मैं तो आर्य हूँ" क्या तुम आर्य नहीं हो, मैंने कहा मैं आर्य हूँ या नहीं यह मैं कैसे बोल सकता हूँ, यह तो मेरे गुण कर्म स्वभाव पर निर्भर करता है इसका निर्णय तो दुसरे ही व्यक्ति कर सकते हैं, मेरे गुण कर्म स्वभाव यदि इस योग्य होंगे तो अवश्य कहला सकूंगा अन्यथा नहीं,

लेकिन आपने अपने आप को आर्य किस आधार पर कहा? इससे तो आपके अन्दर अंहकार का भाव आता है और जहाँ तक मैं जानता हूँ अंहकार के मद में चूर पुरुष कभी आर्य नहीं हो सकता, यह लक्षण आर्यों के नहीं, बल्कि महामुर्खों के है, भला उस उपाधि का क्या लाभ जो स्वयं से स्वयं को मिलें? और दुसरे आपको पूछे भी नहीं, हाँ आर्य आप जब कहाते जब कोई दूसरा आपके गुण कर्म स्वभाव आदि से प्रसन्न होकर आपको आर्य कहकर संबोधित करता, लेकिन इसके विपरीत आप आपने ही मुख से स्वयं को आर्य बोलकर स्वयं को तसल्ली दे रहे हो, अर्थात आप स्वयं जानते हो कि आपमें आर्यों के लक्षण नहीं इसलिए कोई आपको कोई आर्य नहीं कहेगा, इसलिए स्वघोषित आर्य बन बैठे, इससे तुम आर्य नहीं।

इससे यह जितने भी तथाकथित स्वघोषित आर्य बने बैठे है सब के सब मलेच्छ बुद्धि, बुद्धिहीन मनुष्य है क्योकि यदि इनमें थोडी भी बुद्धि होती तो ये स्वंय अपने मुख से अपने आपको श्रेष्ठ

न बोलते भला खुद के मुख से खुद को श्रेष्ठ कहना कहाँ की श्रेष्ठता है?

दयानंदी-- जब मूर्ति पूजा वेद विरुद्ध है तो आप मूर्ति पूजा क्यों करते हो, क्या ऐसे आप वेदविरूद्ध नहीं करते?

समीक्षक-- यह बात तुमने किस आधार पर कहीं कि मूर्ति पूजा वेद विरुद्ध है?

दयानंदी-- देखों यजुर्वेद में यह लिखा है कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" अर्थात उस परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं है

समीक्षक-- ऐसे ही आधे अधुरे मंत्रों से तो दयानंद ने तुम्हारी बुद्धि हर ली है, "न तस्य प्रतिमा अस्ति" बस इतना ही पद लिखकर गड़प गये, आप लोगों को वेद तो कभी पढने नहीं है, बस चार शब्द रट लिये है उसे ही सारी उम्र गाते रहते हो, और सुनो प्रतिमा का अर्थ सिर्फ मूर्ति नहीं होता देखिये--

प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना।

प्रतिच्छाया प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधि: उपमोपमानं स्यात्॥
~अमरकोष-{२/१०/३५-३६}

यहाँ प्रतिमा प्रतिमान आदि शब्द उपमा उपमान अर्थ में प्रस्तुत किये गये हैं, पूर्ववर्ती मनीषी उपमा उपमान का सम्बन्ध प्रतिमा आदि शब्दों से करके अर्थ करते रहे हैं, जिसका संकेत सुप्रसिद्ध टीकाकार भानुजी दीक्षित ने रामाश्रमी व्याख्या में किया है।

इससे सिद्ध हुआ कि प्रतिमा का अर्थ सिर्फ मूर्ति नहीं बल्कि, प्रतिमा का अर्थ उपमा, उपमान और सदृश भी होता है

और तुम्हें तो यह तक न पता होगा कि यह किस अध्याय का कौन सा मंत्र है, तुम्हें तो दयानंद ने मात्र चार शब्द रटवाया है,

जो पूरा मंत्र लिख देते तो उनकी पोल खुल जाती, देखों पुरा मंत्र इस प्रकार है--

न तस्य प्रतिमा ऽ अस्ति यस्य नाम महद् यशः।

हिरण्यगर्भ ऽ इत्य् एषः।

मा मा हिमसीद् इत्य् एषा।

यस्मान् न जात ऽ इत्य् एष॥ ~यजुर्वेद {३२/३}

अर्थ इसका यह है, कि "जिस परमात्मा की महिमा का वर्णन **'हिरण्यगर्भ'** (यजुर्वेद २५/१०) **'यस्मान्न जातः'** (यजुर्वेद ८/२३) तथा **'मा मा हिंसीत्'** (यजुर्वेद १२/१०२) आदि मंत्रों में किया गया है, 'यस्य नाम महद् यशः' जिसका नाम और यश ऐसा है उसकी तुलना में कोई नहीं वही आदित्य है, वही वायु है, चन्द्र, शुक्र, जल प्रजापति और सर्वत्र भी वही है, 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' ऐसा अद्वितीय रूप परमात्मा है उसके सदृश कोई और नहीं है।

और अब वेद से आपको मूर्ति पूजा का प्रमाण दिखाते हैं देखिये-

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।

छन्दः किमासीत्प्रौगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥ ~ऋग्वेद {१०/१३०/३}

सबकी यथार्थ ज्ञानबुद्धि कौन है और प्रतिमा मूर्ति कौन है, और जगत का कारण कौन है, और घृत के समान सार जानने योग्य कौन है और सब देखों का निवृत्ति कारक और आनंद युक्त प्रिति का पात्र परिधि कौन है और इस जगत् का पृष्ठावरण कौन है और स्वतंत्र वस्तु और स्तुति करने योग्य कौन है, यहाँ तक तो इसमें प्रश्न है अन्त में सबका उत्तर इसमें है कि जिस परमेश्वर मूर्ति को इंद्रादि ने पूजा पूजते है और पूजेंगे वह परमात्मा प्रतिमा

रूप से जगत् में स्थित है और वो ही सारभूत घृतवत् स्तुति करने योग्य है

ये प्रश्नोत्तर क्रम है इसे वाकोवाक्य भी कहा जाता है,

समझने वालों को तो इतने से ही समझ लेना चाहिये, और न मानने वाले को तो साक्षात् परमात्मा भी नहीं समझा सकता प्रमाण रावण कंस शिशुपालादि को कहाँ समझा पाये।

औरों की तो बात ही क्या मूर्तिपूजा पर प्रश्नचिन्ह लगाने वाले भी दयानन्दजी कृत संस्कारविधि ६२-७४ में उलूखल मूसल छुरा झाड़ू कुश जूते तक का पूजन करते पाये जाते हैं।

इसलिए औरों को नसीहत देकर खुद फजीहत करवाना छोड़ दो,

यह तो था वेदों से प्रमाण अब तुम्हें मूर्ति पूजा का वैज्ञानिक महत्व कथन करते हैं सुनिये-- जैसे समुद्र के जल की सभी समुद्रिक विशेषतायें लोटे के जल में भी होती हैं उसी तरह चूहे में भी ईश्वरीय विशेषतायें होना स्वाभाविक है। लेकिन वह परिपूर्ण नहीं है और वह ईश्वर का रूप नहीं ले सकता। आप निराकार वायु और आकाश को देख नहीं सकते लेकिन अगर उन में पृथ्वी तत्व का अंश 'रंग' मिला दिया जाये तो वह साकार रूप से प्रगट हो सकते हैं। यह साधारण भौतिक ज्ञान है जिसे समझा और समझाया जा सकता है। आम की या ईश्वर की विशेषतायें बता कर बच्चे और मुझ जैसे अज्ञानी को समझाया नहीं जा सकता लेकिन अगर उसका कोई माडल (प्रतिक चिन्ह) बना के दिखा दिया जाये तो किसी को भी मूल-पाठ सिखा कर महा-ज्ञानी बनाया जा सकता है। इस लिये मैं मूर्ति निहारने या उसे पूजा में ईश्वर के प्रतीक रूप में प्रयोग करने में कोई बुराई नहीं समझ,

प्रतिमा तो ध्यान केंद्रित करने का साधन है, मूर्तियों का विरोध करना ही जिहादी मानसिक्ता है।

तुम्हें जितना रटवाया जाता है बस उसे तोते की तरह रट लेते हो अपनी बुद्धि से कुछ काम नहीं लेते, इसी प्रकार बिना जाने समझें पुराण आदि सनातन धर्म ग्रंथों का विरोध कर तुम अपनी बुद्धिहीनता का प्रमाण देते हो

दयानंदी-- तो क्या पुरणों में मिलावट नहीं है?

समीक्षक-- यह बात तुमने किस आधार पर कहीं।

दयानंदी-- स्वामी दयानंद ने लिखा है कि अपने नीज लाभ के लिए पुराण में ब्राह्मणों ने मिलावट कर दी है।

समीक्षक-- तुम भी किस चुतिये की बात करते हो, उसने स्वयं अपने नीज लाभ अपने स्वार्थ पूर्ति को वेदादि ग्रंथों के अर्थ के अनर्थ कर दिये, कितने ही श्रुतियों में मिलावट कर अर्थ का अनर्थ कर दिया, इसलिए ऐसे मूर्खों की बातों में नहीं आना चाहिए, जो यह मानते हो कि ब्राह्मणों ने पुराण में मिलावट कर दी, तो जरा इस पर भी तो सोच विचार करकें देखो कि ३ युगों तक लगभग करोड़ वर्षों तक श्री वेद भी तो उन्हीं ब्राह्मणों और पौराणिकों के पास ही रहे हैं, तो क्या उन्होंने वेदों में मिलावट नहीं की?उन्हें कैसे शुद्ध मान लेते हो?

अगर पुराणों को गलत सिर्फ इसलिए कहते हो की ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिए लिखे तो उन्ही ब्राह्मणों के पास ३ युगो से वेद भी रहे हैं उनको श्री वेदों को एकदम सही कैसे मान रहे हो?

इसलिए ऐसी बात करने वाले और उन्हें मानने वाले दोनों ही उच्च कोटि के चुतियों में से है।

दयानंदी-- वेदादि ग्रंथों में पुराण का कोई वर्णन नहीं मिलता इससे पुराण पर शंका होती है,

समीक्षक-- मैंने यह पहले ही कहा था कि तुम सिर्फ नाम के वैदिक हो, असल में तुममें से किसी ने भी कभी वेद उठाकर नहीं देखें, जो देखा होता तो ऐसी मूर्खों वाली बात न करते।

देखिये प्रथम आपको वेदों से ही प्रमाण देते हैं-

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।

एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः॥

~अथर्ववेद- {१०/७/२६}

स्कम्भ से उत्पन्न पुराण को व्यवर्तित किया, वह स्कम्भ का अंग पुराण कहा जाता है।

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११

इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशासिनां च प्रियं धाम भवति य एवम् वेद ॥ ~अथर्ववेद {१५/६/१२}

अर्थ- इतिहास पुराण और गाथा नारांशंसी के पिर्य धाम होते है, एक व्रात्य विद्वान, 'इतिहास, पुराण, गाथा व नाराशंसी' द्वारा वेदों का वर्धन व्याख्यान करता हुआ वृद्धि की दिशा में आगे बढ़ता है

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

~अथर्ववेद {११/९/२४}

ऋक् साम, छन्द, पुराण, यजु आदि द्युलोक और स्वर्गस्थ सभी देवता उच्छिष्ट यज्ञ में ही उत्पन्न हए, अर्थात् पुराणों का आविर्भाव ऋक्, साम, यजु, और छन्द के साथ ही हुआ था।

अब ब्राह्मण ग्रन्थों से आपको प्रमाण दिखाते हैं देखों शतपथादि में इस प्रकार कथन है कि--

मध्वाहुतयो ह वा एता देवानाम् यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः स य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं

गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव

तद्देवांस्तर्पयति त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रे॥

~शतपथ {११/५/६/८}

अर्थ- शास्त्र देवताओ के मध्य आहुति है देव विद्या ब्रह्म विद्या आदिक विद्याएँ उत्तर प्रत्यूतर रूप ग्रन्थ इतिहास पुराण गाथा और नाराशंसी ये शास्त्र है जो इनका नित्यप्रति स्वध्याय करता है वह मानो देवताओ के लिए आहुति देता है।

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद्दग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥

~शतपथ ब्राह्मण {१४/५/४/१०}

अर्थ- जिस प्रकार चारों ओर से आधान किए हुए गिले ईधन से उत्पन्न अग्नि से धूम्र निकलता है उसी प्रकार हे मैत्रेयी ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास , पुराण उपनिषद सुत्र, श्लोक, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, इष्ट (यज्ञ), हुत (यज्ञ किया हुआ), पायित, इहलोक, परलोक और समस्त प्राणी उस महान सत्ता के निःश्वास ही है।

स होवाच— ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥

~[छान्दोग्य : ७/१/२]

नारदजी बोलें, हे भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वण जानता हूँ (ईतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं) इतिहास, पुराण जो वेदों में पाँचवाँ वेद हैं वो भी जानता हूँ, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पादविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरूक्त, ब्रह्म सम्बंधी उपनिषदविद्या, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पदेवजनविद्या, देवजनविद्या, गन्धधरण, नृत्य, गीत, बाद्य इन सबको जानता हूँ

देखों छान्दोग्य के इस वाक्यानुसार कितनी विद्या सिद्ध हो गई और यहाँ भी पुराण पाँचवे वेद के रूप में पृथक ही ग्रहण किया है,

अरेऽस्य महतो'भूत'स्य नि'श्वसितम्एत'द्य'द्दग्वेदो' यजुर्वेद' सामवेदो'ऽथर्वाङ्गि॑र' सइतिहास'पुराण'विद्या' उपनिष'दः श्लो'काः सू'त्राण्यनुव्याख्या' नानिव्याख्या' ननिदत्त'म्हुत' माशित' पायित' मय'चलोक'प'रश्चलोक' स'र्वाणि च भूता'न्यस्यै' वै'ता'नि स'र्वाणि नि'श्वसितानि॥ ~बृह० ऊ० {४/५/११}

अर्थ- उस परब्रह्म नारायण के निश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गि॑रस, इतिहास , पुराण उपनिषद सुत्र, श्लोक, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, इष्ट (यज्ञ), हुत (यज्ञ किया हुआ) , पायित, इहलोक, परलोक और समस्त भुत है।

एवमिमे सर्वे वेदा निर्मितास्सकल्पा सरहस्या: सब्राह्मणा सोपनिषत्का: सेतिहासा: सांव्यख्याता:सपुराणा:सस्वरा:ससंस्काराः सनिरुक्ता: सानुशासना सानुमार्जना: सवाकोवाक्या ॥
~गोपथब्राह्मण {१/२/२०}

अर्थ- कल्प रहस्य ब्राह्मण उपनिषद इतिहास पुराण अनवाख्यात स्वर संस्कार निरुक्त अनुशासन और वाकोवाक्य समस्त वेद परमेश्वर से निर्मित है।

अब मनुस्मृति, वाल्मीकि आदि से कथन करते हैं देखिए-

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्रे,धर्मशास्त्राणि चैव हि।

आख्यानमितिहासांश्च,पुराणान्यखिलानि च॥

~मनुस्मृति {३/२३२}

श्राद्ध के उपरान्त पितरों की प्रीति के लिये, वेद पारायण श्रवण कराये, धर्म शास्त्र आख्यान ,इतिहास, पुराणादि को भी सुनाये।

एतच्छुत्वारह: सूतो राजानमिदमब्रवीत।

श्रूयतां यत्पुरा वृतं पुराणेषु मया श्रुतम्॥

~वाल्मीकि रामायण

यह सुनकर सूत ने एकांत मे राजा से कहा सुनो महाराज, यह प्राचीन कथा है जो मैंने पुराणों में सुनी है इसके बाद रामजन्म का चरित्र जो भविष्य था सब राजा को सुनाया कि श्रीराम आपके यहाँ जन्म लेंगे ऋंगी ऋषि को बुलाइए और वैसा ही हुआ

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ ~याज्ञ० स्मृति० {१/३}

अर्थ- पुराण न्याय मीमांशा धर्म शास्त्र और छः अङ्गों सहित वेद ये चौदह विद्या धर्म के स्थान है।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (१४/३/३/१३) में तो **'पुराणवाग्ङमय'** को वेद ही कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् **"इतिहास पुराणं पञ्चम वेदानांवेदम्"** (७/१/२,४) में भी पुराण को वेद कहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् तथा महाभारत में कहा गया है कि **"इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थ मुपबर्हयेत्"** अर्थात् वेद का अर्थविस्तार पुराण के द्वारा करना चाहिये, इनसे यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में पुराण तथा इतिहास को समान स्तर पर रखा गया है।

अब पुराणों के लक्षण कथन करते हैं देखिए-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

१.सर्गः (जगतः उगमः)

२.प्रतिसर्गः (अवनतिः पुन्स्सृष्टिः)

३.वंशः (ऋषिदेवतादीनां जीवनम्)

४.मन्वन्तरम् (मानवजातेः उगमः, मनूनां राज्यभारः)

५.वंशानुचरितम् (सूर्यचन्द्रवंशीयराजानां चरित्रम्)

अर्थात (१) सर्ग– पंचमहाभूत, इंद्रियगण, बुद्धि आदि तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन,

(२) प्रतिसर्ग– ब्रह्मादिस्थावरांत संपूर्ण चराचर जगत् के निर्माण का वर्णन,

(३) वंश– सूर्यचंद्रादि वंशों का वर्णन,

(४) मन्वन्तर– मनु, मनुपुत्र, देव, सप्तर्षि, इंद्र और भगवान् के अवतारों का वर्णन,

(५) वंशानुचरित– प्रति वंश के प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन, ये पुराण के पाँच लक्षण हैं, जिसमें यह पाँच लक्षण हो वो पुराण कहलाता है,

सृष्टि के रचनाकर्ता ब्रह्माजी ने सर्वप्रथम जिस प्राचीनतम धर्मग्रंथ की रचना की, उसे पुराण के नाम से जाना जाता है। इसका प्रमाण वेदों में भी देखिए-

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ ~अथर्ववेद {११/९/२४}

अर्थात् पुराणों का आविर्भाव ऋक्, साम, यजु, और छन्द के साथ ही हुआ था।

इसलिए पुराणों को नवीन बताने वालें वेद विरोधी, नास्तिक दयानंद और उसके नियोगी चमचों को अपनी औकात में रहकर ही बोलना चाहिए वे इस बात को कदापि न भूलें की जिस पुराण की महिमा का गुणगान वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत आदि ग्रंथों में किया गया है जिस पुराण को हमारे ऋषि मुनियों ने वेदों में पाँचवाँ वेद कहा है उसे नवीन बताकर विरोध करने वाले दयानंद और उसके नियोगी चमचें वेदादि ग्रंथों का ही अपमान करते हैं इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि पुराणों को नवीन बताकर उसका विरोध करने वाले नियोगी दयानंदीयों की बात सुनने के बजाय उनके कान के नीचे दो धर के मारे, बुद्धि अपने आप ठिकाने पर आ जाएगी, क्योकि जो विद्वान हैं उनके लिए तो वेद , ब्राह्मण और उपनिषदों से बड़ा कोई प्रमाण नहीं

सुधारक, निन्दक या सहायक

सोशल मीडिया में प्रखर ज्ञानियों के कुछ कमेन्ट्स पढ कर केवल औपचारिकता के नाते केवल अपने विचार लिख रहा हूँ। यह किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं मेरे निजि विचार हैं अगर किसी को तर्क-संगत ना लगे, तो ना आगे पढें और ना मानें। मेरे पास केवल ऐक साधारण व्यक्ति का दिमाग़ है, पहिरावा और साधन हैं और मैं जो कुछ साधारण बुद्धि से समझता हूँ वही दूसरों के साथ कई बार बाँट लेता हूँ। किसी दूसरे को सुधारने या बिगाडने का मेरा कोई लक्ष्य नहीं है।

सामान्य भौतिक ज्ञान- भौतिक शास्त्र के सामान्य ज्ञान के अनुसार सृष्टि की रचना अणुओं से हुई है जो शक्ति से परिपूर्ण हैं और सदा ही स्वाचालति रहते हैं। वह निरन्तर एक दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। आपस में जुड़ते हैं, और फिर कई बार बिखरते-जुड़ते रहते हैं। जुड़ने–बिखरने की परिक्रिया से वही अणु-कण भिन्न भिन्न रूप धारण कर के प्रगट होते हैं तथा पुनः विलीन होते रहते हैं। जिस प्रकार प्रिज़म के भीतर रखे काँच के रंगीन टुकड़े प्रिज़म के घुमाने से नये नये आकार बनाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक बार अणुओं के बिखरने और जुड़ने से सृष्टि में भी सृजन–विसर्जन का क्रम चलता रहता है। पर्वत झीलें, महासागर, पशु-पक्षी, तथा मानव उन्हीं अणुकणों के भिन्न-भिन्न रूप हैं। सृष्टि में जीवन इसी प्रकार अनादि काल से चल रहा है।

जीवत प्राणी- हर जीवित प्राणी में भोजन पाने की, फलने फूलने की, गतिशील रहने की, अपने जैसे को जन्म देने की तथा संवेदनशील रहने की क्षमता होती है। सभी जीवत प्राणी जैसे कि

पैड़-पौधे, पशु-पक्षी भोजन लेते हैं, उन के पत्ते झड़ते हैं, वह फल देते हैं, मरते हैं और पुनः जीवन भी पाते हैं। पशु-पक्षियों, जलचरों तथा मानवों का जीवन भी वातावरण पर आधारित है। यह प्रतिकूल वातावरण से अनुकूल वातावरण में अपने आप स्थानान्तरण कर सकते हैं। अपने–आप को वातावरण के अनुसार थोड़ा बहुत ढाल सकते हैं। मानव ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो ना केवल अपने आप को वातावरण के अनुरूप ढाल सकता है अपितु वातावरण को भी परिवर्तित करने की क्षमता प्राप्त कर चुका है। कई प्रकार के वैज्ञियानिक आविष्कारों दुआरा मानव वातावरण को नियन्त्रित कर चुका है।

जीवन-आत्मा- जीवन आत्मा के बल पर चलता है। आत्मा ही हर प्राणी की देह का संचालन करती है। जिस प्रकार बिजली कई प्रकार के उपकरणों को ऊरजा प्रदान कर के उपकरणों की बनावट के अनुसार विभिन्न प्रकार की क्रियायें करवाती है उसी प्रकार आत्मा हर प्राणी की शारीरिक क्षमता के अनुसार भिन्न भिन्न क्रियायें करवाती है। जिस प्रकार बिजली एयर कण्डिशनर में वातावरण को ठंडा करती है, माइक्रोवेव को गर्म करती है, कैमरे से चित्र खेंचती है, टेप-रिकार्डर से ध्वनि अंकलन करती है, बल्ब से रोशनी करती है तथा करंट से हत्या भी कर सकती है – उसी प्रकार आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों से भिन्न-भिन्न क्रियायें करवाती है। बिजली काट देने के पशचात जैसे सभी उपकरण अपनी-अपनी चमक-दमक रहने का बावजूद निष्क्रिय हो जाते हैं उसी प्रकार शरीर से आत्मा निकल जाने पर शरीर निष्प्राण हो जाता है।

ऐकता और भिन्नता- हम कई उपकरणों को एक साथ एक ही स्त्रोत से बिजली प्रदान कर सकते हैं और सभी उपकरण अलग

अलग तरह की क्रियायें करते हैं। उसी प्रकार सभी प्राणियों में आत्मा का स्त्रोत्र भी ऐक है और सभी आत्मायें भी ऐक जैसी ही है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न शरीरों से भिन्न-भिन्न क्रियायें करवाती है। आत्मा शेर के शरीर में हिंसा करवाती है और गाय के शरीर में दूध देती है, पक्षी के शरीर में उड़ती है तथा साँप के शरीर में रेंगती है। इसी प्रकार मानव शरीर में स्थित आत्मा केंचुऐ के शरीर की आत्मा से अधिक प्रभावशाली है। आत्मा के शरीर छोड़ जाने पर सभी प्रकार के शरीर मृत हो जाते हैं और सड़ने गलने लगते हैं। आत्मिक विचार से सभी प्राणी समान हैं किन्तु शरीरिक विचार से उन में भिन्नता है।

कण-कण में ईश्वर- इन समानताओं के आधार पर निस्सन्देह सभी प्राणियों का सृजनकर्ता कोई एक ही है क्योंकि सभी प्राणियों में ऐक ही सृजनकर्ता की छवि का प्रत्यक्ष आभास होता है। थोड़ी बहुत विभिन्नता तो केवल शरीरों में ही है। सभी प्राणियों में ऐक ही सर्जन कर्ता की छवि निहारना तथा सभी प्रणियों को समान समझना ऐक वैज्ञिानिक तथ्य है अन्धविशवास नहीं और यह सिद्धान्त वेदों के प्रकट होने से भी पूर्व आदि-वासियों को पता था जो प्राकृति के अंगों में भी, ईश्वर को कण-कण में अनुभव करते थे और इन में मानवों से लेकर चूहे तक सभी शामिल हैं। स्नातन धर्म की शुरुआत यहीं से हुयी है।

ईश्वर की मानवी परिभाषा- ईश्वरीय शक्तियों को मानवी परिभाषा में सीमित नहीं किया जा सकता। उन के बारे में अभी विज्ञान भी बहुत कुछ नहीं जानता। जिस दिन विज्ञान या कोई महाऋषि जिन में स्वामी दयानन्द भी शामिल हैं ईश्वर को अपनी परिभाषा में बान्ध सके गे उसी दिन ईश्वर सीमित हो कर ईश्वर नहीं रहै गा। ईश्वर की शक्तियों के कुछ अंशों को ही जाना जा

सकता है जैसे अन्धे आदमियों ने हाथी को पहचाना था। ईशवर अनादी तथा अनन्त है और वैसे ही रहै गा। यही सब से बडा सत्य है।

समुद्र के जल में आथाह शक्ति होती है। बड़े से बड़े जहाज़ों को डुबो सकता है। लेकिन अगर उस जल को किसी लोटे में भर दिया जाये तो उस जल में भी समुद्री जल के सभी गुण विधमान होंते हैं लेकिन लोटे में रखा जल में जहाज़ को डुबोने की शक्ति नहीं होगी। अगर उस जल को वापिस समुद्र में डाल दिया जाये तो फिर से जहाज़ों को डुबोने की शक्ति उस जल को भी प्राप्त हो जाये गी। यह बात भी पूर्णत्या वैज्ञानिक सत्य है।

मूर्ति की आवश्यक्ता- जैसे समुद्र के जल की सभी समुद्रिक विशेषतायें लोटे के जल में भी होती हैं उसी तरह चूहे में भी ईश्वरीय विशेषतायें होना स्वाभाविक है। लेकिन वह परिपूर्ण नहीं है और वह ईश्वर का रूप नहीं ले सकता। आप निराकार वायु और आकाश को देख नहीं सकते लेकिन अगर उन में पृथ्वी तत्व का अंश 'रंग' मिला दिया जाये तो वह साकार रूप से प्रगट हो सकते हैं । यह साधारण भौतिक ज्ञान है जिसे समझा और समझाया जा सकता है। आम की या ईश्वर की विशेषतायें बता का बच्चे और मुझ जैसे अज्ञानी को समझाया नहीं जा सकता लेकिन अगर उसे मिट्टी का खिलोना या माडल बना की दिखा दिया जाये तो किसी को भी मूल-पाठ सिखा कर महा-ज्ञानी बनाया जा सकता है। इस लिये मैं मूर्ति निहारने या उस की पूजा करने में भी कोई बुराई नहीं समझता। मूर्तियों का विरोध करना ही जिहादी मानसिक्ता है।

तर्क और आस्था- जहां तर्क समाप्त होता है वहीं से आस्था का जन्म होता है। जहां आस्था में तर्क आ जाये वहीं पर आस्था

समाप्त हो जाती है और विज्ञान शुरु हो जाता है। दोनो गोलाकार के दो सिरे हैं। हम जीवन में 99 प्रतिशत काम आस्थाओं के आधार पर ही करते हैं और केवल 1 प्रतिशत तर्क पर करते हैं। माता-पिता की पहचान भी आस्था पर होती है। कोई भी व्यक्ति अपना DNA टेस्ट करवा कर माता पिता की पहचान सिद्ध नहीं करवाता। सूर्य की पेन्टिगं पर 'ओइम' लिख कर उसे अपना झण्डा बना लेना आर्य समाज की आस्था है, जो किसी वैज्ञानिक तर्क पर आधारित नहीं है, ऐक तरह का असत्य, और मूर्ति पूजा ही है। लेकिन अपनी आस्था का आदर तर्कशास्त्री आर्य समाजी भी करते हैं।

हिन्दू-ऐकता- आर्य-समाजी संगठन ने मूर्ति पूजा को तालिबानी तरीके का ऐक मुद्दा बना कर हिन्दू-ऐकता को कमजोर किया है। आज सनातनी-मन्दिर और आर्य-समाजी मन्दिर अलग अलग बने दिखाई देते हैं। मेरा निजि मानना है कि वैदिक धर्म और सनातन धर्म ऐक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वैदिक धर्म वैज्ञानिक बातों को शुष्क तरीके से ज्ञानियों के लिये समझाता है तो सनातन धर्म उन्हीं बातों को आस्थाओं में बदल कर दैनिक जीवन की सरल दिनचर्या बना देता हैं। दोनों ऐक दूसरे के पूरक हैं। आम के चित्र से बच्चे को आम की पहचान करवाना अधर्म या मूर्खता नहीं इसी तरह किसी चित्र से भगवान के स्वरूप को समझने में भी कोई बुराई नहीं वह केवल ट्रेनिंग ऐड है। बिना चित्रों के तो विज्ञान की पुस्तक भी बोरिंग होती है। आप अपने घर में अतिथियों को अपनेविवाह और जन्म दिन की ऐलबम दिखाते हो तो क्या वह सभी 'असत्य' होता है?

भगवान राम ने भी रामेश्वरम पर शिवलिंग स्थापित कर के मूर्ति पूजा करी थी। तो क्या भगवान राम आर्य नहीं थे? कोई भी

सनातनी हिन्दू आर्य-समाजियों को मूर्ति पूजा के लिये बाध्य नहीं करता। लेकिन जिस तरह घरों में आर्य-समाजी अपने माता-पिता की तसवीरें लगाते हैं स्वामी दयानन्द सरसवती के चित्र लगाते हैं उसी तरह शिव, राम, और कृष्ण के चित्र भी लगा दें तो सारा हिन्दू समाज ऐक हो जाये गा। सभी स्नातनी हिन्दू आर्य हैं और वेदों, उपनिष्दों, रामायण, महाभारत, दर्शन शास्त्रों और पुराणों को लिखने वाले सभी ऋषि आर्य थे। आर्य-समाजी नहीं थे। आर्य-समाज तो ऐक संगठन का नाम है।

आर्य समाजी सुधारक- हर आर्य-समाजी अपने आप को सनातन धर्म का 'सुधारक' समझता है चाहे उस ने वेदों की पुस्तक की शक्ल भी ना देखी हो। आधे से ज्यादा आर्य समाजियों ने तो 'सत्यार्थ-प्रकाश' भी नहीं पढा होगा। जरूरत है आर्य समाजी अपनी तालिबानी मानसिक्ता पर दोबारा विचार करेँ। आर्य समाजी कहते हैं 'जर्मन और अंग्रेज़ों ने हमारे वेद पढ कर सारी प्रगति करी है। वैज्ञानिक अविष्कार किये हैं।' चलो-यह बात तो ठीक है। उन्हों ने हमारे ग्रंथ पढ कर और रिसर्च करी, मेहनत करी और अविष्कार किये। अब आर्य समाजी यह बताये कि उन्हों ने अपने ग्रंथ पढ कर कौन-कौन से अविष्कार किये हैं। स्वामी दयानन्द ने उन्हें वेदों का महत्व बता दिया फिर आर्य समाजी किसी ऐक अविष्कार का नाम तो बताये। अगर नहीं करे तो क्यों नहीं करे? क्या उस के लिये भी जर्मन, अंग्रेज़ या स्नातनी हिन्दू कसूरवार हैं? दूसरों को कोसते रहने से क्या मिला? आर्य समाजी कभी स्नातनी हिन्दूओं को कभी जैनियों – बौधों और सिखों का विरोध कर के हिन्दू ऐकता को खण्डित करने के इलावा और क्या करते रहै हैं? दूसरों की ग़लतियां

निकालने के इलावा इन्हों ने और क्या किया है - वह बताने का प्रयास क्यों नहीं करते?

हम ने अकसर आर्य समाजियों को सनातनी विद्वानों को पाखणडी या मिथ्याचारी कहते ही सुना है। आर्य समाजियों के लिये अब चुनौती है कि दूसरों की निन्दा करते रहने के बजाये अब वह अपने वैदिक ज्ञान का पूरा लाभ उठाये और 'मेक इन इण्डिया' की अग्रिम पंकित में अपना स्थान बनाये। आस्था का दूसरा नाम दृढ़ निश्चय होता है। आप किसी भी मूर्ति, वस्तु, स्थान, व्यक्ति, गुरु के साथ आस्था जोड कर मेहनत करने लग जाईये सफलता मिले गी। वैज्ञानिक की आस्था अपने आत्म विशवास और सिखाये गये तथ्यों पर होती है। वह प्रयत्न करता रहता है और अन्त में अविष्कार कर दिखाता है।

जिहादी मानसिक्ता- किसी हिन्दू को अपने आप को आर्य कहने के लिये आर्य समाज से प्रमाणपत्र की जरूरत नहीं। सभी हिन्दू आर्य हैं और सभी आर्य हिन्दू हैं। फिर आर्य समाज ने दोनो के बीच में अन्तर क्यों डाल रखा है। स्नातन धर्म ने तो स्वामी दयानन्द को महर्षि कह कर ही सम्बोधित किया है। लेकिन यह समझ लेना कि स्वामी दयानन्द सर्वज्ञ थे और उन में कोई त्रुटि नहीं थी उसी इस्लामी मानसिक्ता की तरह है जैसे मुहम्मद के बाद कोई अन्य पैग़म्बर नहीं हो सकता।

अधाकांश आर्य समाजियों के मूहँ से वेदिक ज्ञान कम और दूसरों के प्रति आलोचनायें, निन्दा, गालियां ही अधिक निकलती हैं जैसे सत्य समझने-समझाने का लाईसेंस केवल उन्हीं के पास है। सत्य की खोज के बहाने सभी जगह वह यही खोजने में लगे रहते हैं हर धर्म घटक में गन्दगी कहाँ पर है। इसे सत्य की खोज तो बिलकुल ही नहीं कहा जा सकता।

चुनौती- कुछ करना है तो आर्य समाजियों को युवाओं में नैतिकता का पाठ पढाने की चुनौती स्वीकार करनी चाहिये। लव-जिहाद, लिव-इन-रिलेशस, वेलेन्टाईन-डे, न्यू-इयर-डे, आतंकवादियों आदि की विकृतियों को भारत में फैलने से रोकने के लिये क्या करना चाहिये, उस पर विचार कर के किसी नीति को सफलता से अपनाये और सक्षम कर के दिखायें।

बच्चों और युवाओं को वेद-ज्ञान, संस्कृत भाषा का आसान तरीके से ज्ञान का पाठ्य क्रम तैय्यार कर के ऐसा साहित्य तैय्यार करें ताकि वह 'जेक ऐण्ड जिल' को भूल कर भारतीयता अपनायें और साथ ही साथ ज्ञान भी हासिल करें। ज्ञान का अर्थ कुछ मंत्र रटा कर तोते की तरह बुलवाना नहीं होता, बल्कि ज्ञान को इस्तेमाल कर के वह अपनी जीविका इज्जत के साथ कमा सकें। युवाओं को व्यकतित्व विकास की शिक्षा आधुनिक तकनीक के साथ लेकिन भारतीय वैदिक संस्कृति के अनुरूप किस प्रकार दी जाये इस को क्रियात्मिक रूप देना चाहिये। व्यकतित्व ऐसा होना चाहिये जो दुनियां के किसी भी वातावरण में आत्म विश्वास और दक्षता के साथ आधुनिक उपकरणों के साथ काम कर सके। ऐसा व्यकतित्व नहीं बने कि वह केवल दूर-दराज गाँव में छिप कर, या दोचार भजन गा कर ही अपनी जीविका कमाने लायक ही बन पायें।

किसी प्रकार का साफ्टवेयर या हार्डवेयर अपनी वैदिक योग्यता से सम्पूर्ण स्वदेश बनायें ताकि हमें बाहर से यह सामान ना मंगवाना पडे। हमारे पास इंजीनियर, तकनीशियन, प्रयोगशालायें, अर्थ-शास्त्री आदि सभी कुछ तो है। अब क्यों नहीं हम वह सब कुछ कर सकते जो अंग्रेज़ों और जर्मनी वालों ने

आज से 200 वर्ष पूर्व “हमारी नकल मार के” कर दिखाया था। इस प्रकार के कई सकारात्मिक काम आर्य समाजी अब कर के दिखा सकते हैं। उन्हें चाहिये कि आम लोगों को प्रत्यक्ष प्रमाण दिखायें कि हमारा यह हमारा ज्ञान विदेशियों ने चुराया था, अब हमारे पास है जिस का इस्तेमाल कर के हम विश्व में अपनी जगह बना रहै हैं। रोक सको तो रोक लो। केवल मूर्ति पूजा का विरोध कर के और अपने वेदों का खोखला ढिंढोरा पीट कर आप विश्व में अपनी बात नहीं मनवा सकते। कुछ कर के दिखाने की चुनौती आर्य बन्धुओं, वेदान्तियों और प्रचारकों को स्वीकार करनी पडे गी।

सत्यं वदः – प्रियं वदः- बहस और शास्त्रार्थ में ना कोई जीता है और ना ही कोई जीतेगा, मैं भारत की प्राचीन उपलब्धियों का पूर्ण समर्थन करता हूँ लेकिन लेकिन आर्य समाजी मानसिक्ता का नहीं। सत्य को कलात्मिक तरीके से कहना ही वैज्ञानिक कला है। ऐक नेत्र हीन को सूरदास कहता है तो दूसरा अन्धा– बस यही फर्क है। “सत्यं वदः – प्रियं वदः” का वेद-मंत्र आर्यसमाजी भूल चुके हैं। इस लिये किसी की आस्था का अपमान कर के सत्यवादी या सुधारक नहीं बन बैठना चाहिये। यही भूल स्वामी दयानन्द ने भी कर दी थी। अब उसी काम का टेन्डर आमिर खान ने भर दिया है और प्रोफिट कमा रहा है। जो कुछ बातें आर्य समाजी करते रहै हैं वही आमिर खान ने भी करी हैं जिस का समर्थन फेसबुक पर आर्य समाजी कर के हिन्दूओं का मज़ाक उडा रहै हैं। सोच कर देखो- दोनों में कोई फर्क नहीं।

मेरा लक्ष्य केवल अपने विचार को दूसरों के साथ शेयर करना है किसी को मजबूर करना या उन का सुधारक बनना नहीं है। मुझे

भी अब आगे बहस नहीं करनी है। जो सहमत हों वही अपनी इच्छा करे तो मानें। वेदिक विचार और सनातनधर्म की आस्था दोनों ऐक ही सिक्के के पहलू हैं और दोनों बराबर हैं। किसी को भी अपने मूहँ मियां मिठ्ठू बन कर दूसरे का सुधारक बनने की जरूरत नहीं।

स्त्रोत-- ~अज्ञात (इंटरनेट जगत से ली गई सामग्री)

क्या क्रांतिकारी आर्यसमाज से थे?

आर्यसमाजी गपोड़ा- आर्यसमाजी अक्सर एक गप्प मारते हैं कि– स्वतन्त्रता आंदोलन के ८० प्रतिशत क्रांतिकारी, आर्यसमाजी थे, इनके लेखो व पत्रिकाओ मे भी ये बात देखने में आती हैं। जिनमे कि गप्प और झूठ लिख लिखकर ये स्वयं का इतना महिमामंडन करते हैं कि लगता है जैसे इस राष्ट्र के लिए व धर्म के लिए केवल और केवल आर्यसमाज ने ही कार्य किए हैं, इन्हौने ही बलिदान दिये हैं, आर्यसमाज के ही लोगो द्वारा लिखे गए झूठ से भरे पुलिंदे ही इनके लिए इतिहास का प्रमाण होते हैं। इतना और इस तरह से महिमामंडन कि युवा आर्यसमाजी तो इतने सनकी हो जाते है कि उनके दिमाग मे यह भर जाता हैं कि स्वतन्त्रता संग्राम में "भी" सबसे बड़ा योगदान इन्ही का था, अब इनके इस दावे की वास्तविकता देखिये—

सरकारी आकड़ों के अनुसार, अंग्रेज़ो से लड़ते हुये सात लाख से अधिक क्रांतिकारी बलिदान हुये थे। तो इन गपोड़ियों के अनुसार साढ़े पाँच लाख से अधिक क्रांतिकारी आर्यसमाजी होने चाहिए? इस पर सबसे पहला प्रश्न ही इनकी पोल खोल देता हैं कि — "ये आकडा तुम कहा से लाये? इसका आधार क्या हैं? किसी भी ओथेन्टिक इतिहासकार का एक प्रमाण दिखा सकते हो?

दूसरी बात— क्या तुम इसे सिद्ध कर सकते हो? राष्ट्रीय अभिलेखागार से इस सूची को प्राप्त करो और दिखाओ न ....वास्तविकता निकल कर अपने आप सामने आएगी कि ८०

प्रतिशत तो छोडिये ८० आर्य समाजी भी खींचतान के नहीं निकलेंगे,

अब इन क्रांतिकारियों को आर्यसमाजी बनाने का फॉर्मूला नंबर १ देखिये— चूंकि उस समय आर्यसमाज क्रांतिकारियों की मदद करता था, व इससे संबन्धित गतिविधियो मे संलग्न रहकर, अपना योगदान दे रहा था। आर्यसमाज के मंदिरो में भी क्रांतिकारी छुपा करते थे व गुप्त मंत्रणाए भी होती थी, राष्ट्रभक्ति की बात भी होती थी, इनके अनुसार वो सब आर्यसमाजी हो जाते हैं। केवल इस कारण से कई क्रांतिकारियों ने इनकी प्रशंशा की, तो उनकी ये प्रशंशा कि– "आर्यसमाज मे देशभक्ति अच्छी हैं, विचारधारा अच्छी हैं , तो ये उसे दिखाएंगे और कहेंगे– ये देखो ये भी आर्यसमाजी थे, मतलब जैसे कि मैं कह दूँ कि– अमेरिका की सुरक्षा व्यवस्था बेमिसाल हैं, तो क्या मैं अमरीकी हो जाऊंगा? दयानंद या आर्यसमाज को किसी एक कारण से कोई पसंद करता हो तो वो आर्यसमाजी नहीं हो जाता, अन्यथा जो जो आर्यसमाजी अब्दुल कलाम को पसंद करते हैं, क्या वो मुसलमान मान लिए जाये?

फॉर्मूला न° – २ हैं कि किसी क्रांतिकारी के माता, पिता, चाचा, ताऊ, फूफा, मौसी से लेकर दूर से दूर तक की रिश्तेदारी में अगर एक भी व्यक्ति आर्यसमाजी हैं तो फिर उस क्रांतिकारी को भी ये आर्यसमाजी घोषित कर देते हैं, बेशक उस क्रांतिकारी का स्वयं आर्यसमाज से धार्मिक सम्बंध बिलकुल न हो। और कमाल की बात, कुछ आर्यसमाजी तो अपनी पुस्तकों में उस क्रांतिकारी का प्रेरणास्त्रोत व मार्ग दिखाने वाला भी उसी आर्य समाजी संबंधी को घोसित कर देते हैं। उदाहरण के तौर पर ये भगत

सिंह को भी आर्यसमाजी बताते हैं, जब कि उनके माता-पिता आर्यसमाजी थे, वे नहीं।

उस समय गरम दल के सबसे अधिक क्रांतिकारी महाराष्ट्र और बंगाल ने दिये। बंगाल के लगभग सभी क्रांतिकारी माँ दुर्गा के उपासक थे, वहा उद्घोषणा ही ये हुयी थी कि– "माँ दुर्गा के लिए बलिदान देने का समय आ गया हैं" आर्यसमाजी थे क्या ये? महाराष्ट्र मे तब आर्यसमाज का प्रभाव न के बराबर था, वहाँ के ९० प्रतिशत से अधिक क्रांतिकारी मराठी हिन्दू थे। पंजाब की ओर जाओ वहाँ सिक्ख क्रांतिकारियों का बाहुल्य था, कूका विद्रोही गुरुमुख सिंह आर्यसमाजी थे क्या? जहा साढ़े पाँच सौ कूका-विद्रोहियो को तोप के मुंह पर बांधकर उड़ा दिया गया था, कितने आर्यसमाजी थे इनमे?

नेता जी सुभाषचन्द्र बॉस की 'आजाद हिन्द फोज' के लाखो सैनिको मे कितने आर्यसमाजी थे गपोड़ियों? जब कि इसमे बंगाल के ही सैनिक अधिक थे, लगभग साठ हजार, सुखदेव थे, राजगुरु थे, उधम सिंह थे, नाना भाई भैरव जी थे, बिरसा मुंडा थे, सावरकर थे, राजबिहारी बॉस थे, खुदीराम बॉस थे, प्रभल चन्द्र थे ऐसे ही अनेकों थे, शर्म नहीं आती इतना बड़ा झूठ बोलते हुये, कि ८० प्रतिशत क्रांतिकारी आर्यसमाजी थे? मंगल पांडे, रानी लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे, नाना साहब पेशवा आदि और इनके सैनिको में कितने आर्यसमाजी थे?

और इससे पहले जो संघर्ष हुये, तब कहा थे आर्यसमाजी? छत्रपति शिवाजी महाराज कौन थे? "हिन्दू हृदय सम्राट" थे या "आर्यसमाज हृदय सम्राट"? महाराणा प्रताप आदि क्रांतिकारी ये धर्मयोद्धा आर्यसमाजी थे क्या? इनकी सेना जो मुगलो से लड़ी, लाखों बलिदान हुये, ये आर्यसमाजी सेना थी क्या, तब कहा था

आर्यसमाज? इन्हे देशभक्ति का पाठ, धर्मभक्ति का पाठ आर्यसमाज ने पढ़ाया था क्या? कहते है हमने बचाया, ये तुमने बचाया? कहते है हमने सिखाया, ये सिखाएँगे हम हिन्दुओ को देशभक्ति जिनके यहा बीस बीस वर्ष के लड़के तक हसते हसते फांसी पर चढ़ गए, ये सिखाएँगे हमे धर्म के लिए बलिदान देना जहाँ दस दस वर्ष के बच्चों तक ने अपना धर्म छोड़, इस्लाम नहीं कुबूला और शरीर के हसते हसते टुकड़े करवा लिए, हिन्दुओ से अधिक बलिदान इस राष्ट्र के लिए किसने दिये हैं? इसलिए इनके किसी भी गपोड़े की सत्यता परखे हिन्दुओ को इनकी किसी भी बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए, हा आर्यसमाजी चाहे तो ये कह सकते है कि उस समय ८० प्रतिशत आर्यसमाजी कोंग्रेसी थे।

जय श्री राम

क्या चाणक्य मूर्तिपूजा विरोधी थे?

आर्य समाजी इस लेख का खंडन करके दिखाए!

आर्य समाजी हमेशा यह तर्क देते है कि महान आचार्य चाणक्य मूर्तिपूजा विरोधी थे, लेकिन अपने पंथ को चलाए रखने के लिए ये इसी तरह के कई कुतर्क करते रहते है जो बिल्कुल निराधार साबित होते आए है-

प्रश्न- चाणक्य मूर्तिपूजा विरोधी थे?

समीक्षक-- चाणक्य मूर्तिपूजा विरोधी नही थे, क्योंकि उनकी अमर कृति चाणक्य नीति में कई श्लोक ऐसे है जो आर्य समाजियो के इस कुतर्क को निराधार साबित करते है, देखिये--

काष्ठपाषाणधातूनां कृत्वा भावेन सेवनम् ।

श्रद्धया च तया सिद्धस्तस्य विष्णु: प्रसीदति॥ ~चाणक्य नी० {८/११}

भावार्थ- लकड़ी,पत्थर अथवा धातु की मूर्ति में प्रभु की भावना और श्रद्धा उसकी पूजा की जाएगी तो सिद्धी अवश्य प्राप्त होती है, प्रभु इस भक्त पर अवश्य प्रसन्न होतें है।

यदि चाणक्य ये श्लोक अपनी पुस्तक चाणक्य नीति में लिख सकते है तो इससे साफ हो जाता है कि मूर्तिपूजा से कोई हानि नही अथवा लाभ है, लेकिन पुराण के अनुसार चाणक्य भी ये ही कहते है कि मूर्ति में भगवान नही बल्कि ध्यान केंद्रित करने का एक रास्ता है, इसी को समझाते हुए चाणक्य अपने अगले श्लोक में बोलते है-

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये।

भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्॥ ~चाणक्य नी० {८/१२}

भावार्थ- देवता काठ या पत्थर की मूर्ति में नही है, परमेश्वर तो मनुष्य की भावना में विद्यमान रहते हैं अर्थात् जहाँ मनुष्य भावना द्वारा उसकी पूजा करता है,वहीं वे प्रकट होते हैं।

इसका सीधा अर्थ चाणक्य समझाना चाहते है कि यदि मूर्ति को बिना किसी भावना के पूजोगे तो वह मूर्ति मूर्ति ही रहेगी लेकिन यदि उसके साथ मन की भावना जुड़ जाए तो देवता स्वयं प्रकट दर्शन और फल देते है,

प्रश्न- "प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनः" ४/२१ अर्थात् मुर्ख लोगो के लिए मूर्ति ही ईश्वर है,जिनकी बुद्धि समान है वे परमेश्वर को सर्वत्र पाते है, तो ये चाणक्य ने क्यों लिखा?

समीक्षक-- यह पहले के ही श्लोक में चाणक्य ने यह कहा है कि मूर्ति ईश्वर स्वरूप है, ईश्वर नही, जो लोग ईश्वर को धर्मशास्त्रो का बिना अध्ययन किये सिर्फ कर्मकाण्ड में ही विश्वास करते है उनको चाणक्य ने मुर्ख कहा है, यही नही सिर्फ कर्मकाण्डो को उसके प्रयोजन को बिना जाने ही उसमें लीन रहता है उसको पुराणो ने भी मुर्ख ही कहा है।

आर्य समाजी लोगो के पास पूरे चाणक्य कृतियो में सिर्फ यह एकमात्र श्लोक है जिनको ये अपना पंथ चलाने के लिए दुष्प्रचार करके भुनाते है और बाकी के श्लोको सहित पूरी चाणक्य नीति को अस्वीकार कर देते है, चाणक्य ने ऐसे पाखंडियो से भी बचने के लिए आदेश किया है, कोई भी कुतर्की चाणक्य नीति के अन्य श्लोको पर विश्वास नही करता, (उपरी दिखावा पोल खुलने के

डर से) और अपने पंथ का पक्ष लेने के लिए हजारो झूठ बोल लेगा।

चलो अभी चाणक्य के उपर उठाए गए सारे कुतर्को का पर्दाफाश करते हैं।

प्रश्न-- चाणक्य सिर्फ निरंकार ब्रह्म को मानते है।

समीक्षक-- यह कुतर्क सिर्फ कुतर्कियों ने अपने पंथ को चलाने के लिए बनाया है और बिना चाणक्य के ग्रंथो को पढे भेड़चाल में चलना शुरू कर दिया है, चाणक्य ग्रंथो से साफ दिखाई पड़ता है कि वे विष्णु भगवान् के परम् भक्त थे, यही नही उन्होने अपनी अमर कृति की शुरूआत भगवान विष्णु की स्तुति से ही की है।

प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम्। १/१

अर्थात् मैं तीनो लोको-पृथ्वी,अंतरिक्ष और पाताल के स्वामी सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक परमेश्वर विष्णु को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ, इसी प्रकार श्लोक १०/१४ में चाणक्य कहते हैं- "जनार्दन (विष्णु) को जो अपना पिता मानता है वही सर्वश्रेष्ठ है"

इसी प्रकार १०/१७ श्लोक में भगवान विष्णु को सभी का पालनकर्ता बताया है और उसकी कृति का गुणगान किये है, ये इनके भगवान विष्णु के प्रति आत्मीयता का भाव दर्शाता है।

प्रश्न-- चाणक्य सिर्फ वैदिक ज्ञान को ही मानते थे, पुराण आदि उनके लिए मिथ्या थी।

समीक्षक-- यह एक पूर्ण कुतर्क है क्योंकि चाणक्य मे अपनी कृतियो में कई पौराणिक कथाओं और मान्यताओं का समर्थन ही नही किया बल्कि आत्मीयता का भाव दर्शाया है, जैसे--

श्लोक-१५/७ में चाणक्य ने पौराणिक मान्यता में भगवान शंकर के विषवमन की व्याख्या की है। अन्य श्लोक १५/१६ में चाणक्य भगवान् विष्णु और लक्ष्मी के संवाद की व्याख्या पुराण माध्यम से करते हैं। यही नही अन्य श्लोक १७/५ में पौराणिक कथा में शंख लक्ष्मी चंद्र सम्बंध को चाणक्य दर्शाते हैं।

प्रश्न-- चाणक्य भाग्य में विश्वास नही करते थे।

समीक्षक-- इन पंथ भक्तो को यदि ईश्वर की ज्योतिष विद्या पर विश्वास नही तो इन्होने चाणक्य को भी बिना सोचे समझे अपने पंथ के समान घोषित कर दिया। इसके प्रमाण इस प्रकार है--

श्लोक ४/१ में चाणक्य कहते है कि जब पुत्र माता के गर्भ में आता है तब ही उसके आयु, कर्म, धन, विद्या, मृत्यु निश्चित हो जाते है। अन्य श्लोक ६/५ में चाणक्य कहते है कि जैसा भाग्य मनुष्य का जन्म से तय होता है उसकी बुद्धि,कार्य,व्यवसाय भी वैसे ही होते है तथा भाग्य के सहायक होते हैं, श्लोक १०/५ में चाणक्य भाग्य की महिमा को अपरम्पार बताते है जो राजा को रंक और भिखारी को राजा बना देती है, इसी प्रकार १३/१३ में सभी को भाग्य के अधीन बताया है।

इससे साफ पता चलता है कि वेद के स्वघोषित ठेकेदार वेद के ज्योतिषशास्त्र की विद्या को सिर्फ इसलिए नही मानते क्योंकि उनके पंथगुरू ने अपनी पंथ पुस्तक में इसका निषेध किया है।

प्रश्न-- आर्य समाज और चाणक्य में अन्य क्या-क्या भेद है?

समीक्षक-- आर्य समाज और चाणक्य दोनो में भेद ही भेद है, जिनमें से कुछ और भेद प्रस्तुत करूँगा।

श्लोक ४/११ में चाणक्य कहते हैं कि कन्या का एक ही बार कन्यादान अर्थात् कन्यादान होना चाहिए। कलियुग में विधवा विवाह निषेध माना गया है जिसका समर्थन चाणक्य ने किया है।

श्लोक ९/१२ में चाणक्य के ये भाव है कि भावना से जो कार्य अच्छा लगता है, उसी विधी से हमें ईश्वर की पूजा करनी चाहिए जिसका उदाहरण स्वरचित माला,अपने हाथ से घिसा चंदन और स्वयं के द्वारा रचित भगवान के स्त्रोत से स्तुति करने का कहा है,और चाणक्य कहते हैं इसमें रम जाने से मनुष्य इन्द्र की धन सम्पति को भी वश में कर सकता है।

आर्य समाजी कहते है कि राम कृष्ण महापुरूष हो सकते है लेकिन ईश्वर नही तो इसके लिए चाणक्य ने भगवान कृष्ण के लिए अपनी भावना प्रकट की है-- "अहं कृष्णरसोतस्वः" १२/१२ अर्थात् मेरे लिए तो श्री कृष्ण के चरणो में ही उत्सव है, यदि ये कृष्ण को ईश्वर न मानते तो कृष्ण के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु, गुरू इत्यादि में से किसी के चरण में उत्सव की बात करते।

आर्य समाजीयों के लिए चाणक्य का एक श्लोक एकदम सत्य बैठता है-११/८ कि जिस किसी में गुणों की श्रेष्ठता का ज्ञान नही वह सदा उनकी निंदा करता रहता है।

जैसा आर्य समाजीयों का मुख्य कार्य हमेशा पुराण निंदा, साकारवाद निंदा आदि है, ये कृष्ण राम को ईश्वर नही मानते क्योंकि इनको उनके स्वरूप का थोड़ा भी ज्ञान नही, यदि ये सनातन धर्म की निंदा न करते तो मुझे भी आर्य समाजियो से कोई घृणा नही थी लेकिन जब पानी सिर से ऊपर चला जाए तो उसको उसी की भाषा में जवाब देना ही श्रेयस्कर होता है।

आर्य समाजियो से मुझे कोई वैर नही बल्कि मुझे उनके कृत्यो से वैर है, इसलिए सभी को यही कहना चाहूँगा-

“आर्य बनो आर्य समाजी नही”

॥दयानंद का अद्भुत विज्ञान॥

अपने अतिरिक्त सब को मुर्ख जानने वाले दयानंद की बुद्धि का एक नमूना आपको दिखाते हैं, उसके बाद आप ही यह निर्णय करें कि इस लेख को लिखने वाले दयानंद की बुद्धि कैसी रही होगी।

सत्यार्थ प्रकाश नवम् समुल्लास पृष्ठ १७५,

❝(प्रश्न) यह जो ऊपर को नीला और धूंधलापन दीखता है वह आकाश नीला दीखता है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं,

(प्रश्न) तो वह क्या है?

स्वामी जी इसका उत्तर यह लिखते हैं कि--

(उत्तर) अलग-अलग पृथिवी, जल और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं। उस में जो नीलता दीखती है वह अधिक जल जो कि वर्षता है सो वही नीला दिखाई पड़ता है❞

समीक्षक-- पता नहीं स्वामी जी अपने आपको क्या समझते हैं दो कौड़ी की बुद्धि नहीं इनमें और चले हैं वैज्ञानिक बनने, लिखा है कि आकाश का नीला रंग उसमें उपस्थित जल के कारण दिखाई पड़ता है जो वर्षता है सो वही नीला दिखाई पड़ता है, धन्य हे! भंगेडानंद तेरी बुद्धि, अब कोई स्वामी भंगेडानंद जी से यह पूछे कि यदि जल के कारण आकाश का रंग नीला दिखाई

पड़ता है तो फिर बादलों में तो लबालब पानी भरा होता है फिर वह काले सफेद रंग के क्यों दिखाई पड़ते हैं?

दूसरा प्रश्न-- जबकि जल रंगहीन होता है उसका कोई अपना रंग ही नहीं होता तो भला उससे आकाश आदि का रंग परिवर्तन किस प्रकार सम्भव है?

ऐसी-ऐसी चुतियापंति से भरी बात करने मात्र से ही दयानंद की बुद्धि का पता चलता है, सुनिये आकाश का रंग नीला जल के कारण नहीं बल्कि, सूर्य के प्रकाश का पृथ्वी के वायुमंडल में उपस्थित गैसादि अणुओं से टकराने के पश्चात हुए प्रकाश के परावर्तन के कारण दिखाई देता है,

वास्तव में प्रकाश एक प्रकार की ऊर्जा है, जो विद्युत चुम्बकिय तरंगों के रूप में संचरित होती है

सूर्य से आने वाली प्रकाश किरणों में सभी रंग पहले से विद्यमान होते हैं परन्तु हमारी आँखें केवल उन्हीं रंगों को देख पाती है, जिसकी तरंगदैर्ध्य दृश्य सीमा के भीतर होती है, तकनीकी या वैज्ञानिक संदर्भ में किसी भी तरंगदैर्ध्य के विकिरण को प्रकाश कहते हैं, प्रकाश का मूल कण फ़ोटान होता है, प्रकाश की प्रमुख विमायें निम्नवत है,

१• तीव्रता जो प्रकाश की चमक से सम्बन्धित है

२• आवृत्ति या तरंग्दैर्ध्य जो प्रकाश का रंग निर्धारित करती है।

अब सुनिये होता यह है जब सूर्य का प्रकाश हमारे वायुमंडल में प्रवेश करता है तो उसमें उपस्थित धुल गैसादि के अणुओं से टकराकर चारों ओर बिखर जाता है इन बिखरे हुए प्रकाश किरणों में छोटी तरंगदैर्ध्य वाले बैगनी, आसमानी और नीला रंग ज्यादा बिखरते है, जबकि इनकी अपेक्षा लम्बी तरंगदैर्ध्य वाली

प्रकाश किरणें कम बिखरती है, यही तीनों रंग हमारी आँखों तक सबसे ज्यादा पहुँचते हैं, इन तीनों रंगों का मिश्रण नीले रंग के सदृश बनता है, इस कारण आकाश हमें नीला दिखता है, और स्वामी जी इसमें क्या चुतियापंति लिखीं हैं वह आपके सामने है, और सुनिये इसी प्रकार अष्टम समुल्लास में यह लिखा है--

सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ १७१,

❝(प्रश्न) सूर्य चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है वा नहीं?

(उत्तर) ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती हैं क्योंकि-

एतेषु हीदँ सर्वं वसुहितमेते हीदँ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदँ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ~शत० का० १४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इन का वसु नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं और ये ही सब को वसाते हैं, जिस लिये वास के निवास करने के घर हैं इसलिये इन का नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं पश्चात् उन में इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह?❞

समीक्षक-- अपने इस लेख से तो स्वामी जी ने चुतियापंति के सारे रिकॉर्ड ही तोड़ दिये, इस लेख को पढ़ने मात्र से ही पता चलता है कि दयानंद में कितनी बुद्धि रही होगी, यहाँ प्रश्नकर्ता और उत्तर देने वाला दोनों ही उच्च कोटि के चुतिया है, देखिये प्रथम तो दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में पृष्ठ १३२ पर यह लिखा है कि- "तेंतीस देवता अर्थात, पृथ्वी, जल,

अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र" यहाँ स्वामी ने इन्हें चेतन मान तेंतीस देवों में से यह आठ वसुगण कथन किये, और फिर यहाँ उन्हें जड़ मानकर, उनमें मनुष्यादि प्रजा बसा दी, अब प्रथम तो यहाँ दयानंद से यह प्रश्न है कि इनमें से तुम्हारा कौन सा कथन सत्य मानें? यह आठ वसुगण जो आपने यहाँ कथन किये हैं उन्हें आप क्या मानते हैं जड़ या फिर चेतन?

दूसरा प्रश्न-- जो तुमने यह लिखा है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र आदि ये सब भूगोल लोक है, सो यहाँ यह बताओ कि जल, अग्नि, वायु, आकाश को भूगोल किस आधार पर लिखा है? क्या जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि की भूगोल आकृति आपने कहीं देखी है? इनमें मनुष्यादि प्रजा के बसने योग्य ठोस धरातल है जो इन्हें भूगोल लोक कथन कर दिया, और आकाश जो अनन्त है जिसका अन्त कोई नहीं जानता, आपने उसे भी भूगोल कथन कर दिया, आपके दिमाग का कोई स्क्रु ढिला तो नहीं है।

तीसरा प्रश्न-- अग्नि और सूर्य जो कि सब कुछ भस्म करने का सामर्थ्य रखते हैं आपने उनमें मनुष्यादि प्रजा की मिथ्या कल्पना किस आधार पर की? जबकि आपने स्वयं अपने एकादश समुल्लास में मंत्रों की सिद्धि को नकारते हुए यह तर्क दिया है कि-- "जो कोई यह कहें कि मंत्र से अग्नि उत्पन्न होता है तो वह मंत्र के जप करने वाले के हृदय और जिह्वा को भस्म कर देवें" और इसके विपरीत यहाँ यह दौगलापन दिखाया कि अग्नि सूर्य आदि में मनुष्यादि की सृष्टि लिख मारी, यहाँ तुम्हारा वो सिद्धांत की अग्नि अपने सम्पर्क में आने वाले सब पदार्थ मनुष्यादि को भस्म कर देवें कहाँ घुस गया, यह खड़ा बाल आपमें सनातन मत के विरुद्ध ही क्यों दिखता है? कहिये क्या आपके इस

लेखानुसार अग्नि सूर्य आदि में मनुष्यादि प्रजा का होना सम्भव है? क्या यह मनुष्यादि जीवों को भस्म न कर देंगे?

स्वामी जी सूर्य पर मनुष्यादि प्रजा होने की कल्पना करते हैं सो उनसे यह प्रश्न है कि जिस सूर्य का सतही तापमान लगभग ६०००°C (छः हजार डिग्री सेल्सियस) और सतही दबाव इतना है कि धातु तक को तरल में परिवर्तित कर दें उस पर मनुष्यादि प्रजा होने जैसी असम्भव बात स्वामी जी के दिमाग में आयी कैसे? यहाँ पृथ्वी पर ही ४०-५०°C तापमान पर मनुष्य का तेल निकल जाता है और स्वामी जी है कि मनुष्यादि को सूर्य पर बसा रहे हैं धन्य हे! भंगेडानंद जी आपकी बुद्धि,

और सुनिये अपने इस चुतियों वाले लेख में दयानंद ने जो यह शतपथ ब्राह्मण से श्रुति प्रमाण लिखा है और इसका यह अर्थ लिखा है कि-- "एतेषु हीदँ सर्वं वसुहितमेते हीदँ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदँ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ~शत० का० १४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इन का वसु नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं और ये ही सब को वसाते हैं। जिस लिये वास के निवास करने के घर हैं इसलिये इन का नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं पश्चात् उन में इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह"

यह अर्थ भी दयानंद ने मिथ्या कल्पना किये हैं इस श्रुति का यह अर्थ नहीं बनता, यह मिथ्या अर्थ दयानंद ने अपनी बुद्धि अनुसार कल्पना किया है सो दयानंद का यह अर्थ मानने योग्य नहीं है, सुनिये यह श्रुति इस प्रकार है कि--

अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ~शतपथ ब्राह्मण {१४/६/९/४}

अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्र और नक्षत्र, यह आठ देव अष्ट वसु इस कारण कहाते है क्योंकि इन्हीं से सम्पूर्ण जगत् सन्निहित है इसलिए इन्हें वसुगण कहते हैं और यही अपने-अपने गुण, कर्म और विशेषताओं द्वारा सबको बसाते है, भाव यह है कि यह आठ वसुगण अपने-अपने गुण कर्म से मनुष्यादि जीवों के बसने योग्य परिस्थिति उत्पन्न करते है, जैसे सूर्य अपने ताप और प्रकाश आदि गुण से सब जगत् को प्रकाशित करता और जल को वाष्प में परिवर्तित कर वर्षा करता है जैसे पृथ्वी मनुष्यादि जीवों के के लिए आश्रय स्थल रूप में और अन्न औषधि आदि से मनुष्य का पालन पोषण करती है, इसी प्रकार यह अष्ट वसु अपने अपने गुणों से मनुष्यादि आदि जीवों को बसाते अर्थात उनके अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं, यह इसका अर्थ है जो दयानंद ने कुछ का कुछ लिख दिया, इसमें यह कही नही लिखा कि सूर्य तारों आदि में मनुष्यादि प्रजा बसते है, यह मिथ्या अर्थ तो दयानंद के कपोल भंडार से निकलें है, इस कारण यह मानने योग्य नहीं,

हाँ यह बात सब विद्वानों के मन में अवश्य आती है कि इस विशाल ब्रह्मांड में पृथ्वी जैसे और भी ग्रह हो सकते हैं, जिनमें शायद हमारी ही भांति मनुष्यादि जीव रहते हो, परन्तु सूर्य तरों आदि ऊर्जा स्रोतों पर मनुष्यादि प्रजा की कल्पना करना सिवाय चुतियों के और किसी के बुद्धि में नहीं आ सकती।

॥इति चुतियार्थप्रकाश खंडनम् समाप्तम्॥